जैनधर्म का इतिहास

(प्रमुखतः श्री श्वे० स्थानकवासी जैनधर्म का इतिहास)

लेखक :

मुनि सुशीलकुमार

प्रकाशक :

सम्यग् ज्ञान-मन्दिर

कलकत्ता

प्रकाशक :
सरदारमल कांकरिया
मंत्री, सम्यग् ज्ञान मन्दिर
८७, धर्मतल्ला स्ट्रीट,
कलकत्ता

प्राप्ति स्थान :
जवाहर-मित्र-मंडल
कपड़ा बाजार
ब्यावर (राज०)

श्री भीखमचंद अभाणी
दफ्तरियों की गली
बीकानेर (राज०)

मूल्य—४॥) रु०

भाद्रकृष्णा ८, संवत् २०१६

मुद्रक :
मेहता फाइन आर्ट प्रेस
२०, बालमुकुन्द मक्कर रोड
कलकत्ता-७

निवेदन

इतिहास-लेखन कितना कठिन व उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है, यह वही समीचीन रूप से समझ सकता है, जो इतिहास का विद्यार्थी रहा हो अथवा जिसने अपने जीवन का अधिकांश बहुमूल्य समय ग्रन्थागारों, शोधपीठों, प्राचीन शास्त्र-भंडारों तथा इतस्ततः विशृंखलित सामग्रियों को एकत्रित करने में व्यतीत किया हो !

कवि अपनी तूलिका ग्रहण के साथ ही कल्पना वातायन में झांक कर अपने उमगते भाव-प्रवाह को सहज ही कागज पर उतार सकता है। उपन्यासकार जीवन की गहराइयों और अनुभूतियों को विविध कल्पित कथा पात्रों द्वारा अभिव्यक्त कर सकता है। दार्शनिक या शास्त्रज्ञ तत्त्वज्ञान की गहन गुहा में प्रविष्ट होते ही उच्च स्वर से अपने चिन्तन और मनन को पूर्ण निष्ठा और विश्वास के साथ उद्घोषित कर सकता है चाहे यथार्थ के निकष पर प्रतिपादित सिद्धान्त खरे न भी उतरें। क्योंकि इन सबों के लिये कोई परिधि या वृत्त नहीं होता। अपने विचारों को सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। पर इतिहासकार की परिस्थितियां सर्वथा भिन्न होती है। उसमें कल्पना की उड़ान का अवकाश

नहीं होता। वह अपनी ओर से कुछ नहीं कह कर प्राप्त प्रमाणों के आधार पर ही आगे बढ़ता है। किसीको महान् अथवा हीन वह स्वयं सिद्ध नहीं कर सकता और न इसके लिये कल्पित घटनावलियों का ही निर्माण कर सकता है जिस प्रकार कि महाकाव्यकार किया करते हैं। मात्र प्रमाणों का सम्बल, तथ्य की भूमिका तथा परिस्थितियों के विश्लेषण की योग्यता लेकर ही इतिहासकार कर्तृत्व क्षेत्र में प्रविष्ट होता है। अतः इतिहास-लेखक का कार्य अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण, दुरूह है और उसमें कठिन साधना व विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा रहती है।

किसी देश, राष्ट्र या समाज की बहुमूल्य निधि उसका इतिहास होती है। अपना इतिहास खोकर कोई राष्ट्र या समाज जीवित नहीं रह सकता है। इतिहास ही वह आधार शिला है जिसके आधार पर जातीय-जीवन का निर्माण होता है या पतन के गर्त्त में गिरे हुए राष्ट्र को इतिहास ही प्रकाश स्तंभ बन कर मार्ग प्रदर्शित करता है, क्योंकि अतीत के अनुभवों ने सदैव वर्तमान का निर्माण किया है और भविष्य के स्वप्न संजोये हैं। किसी भी समाज अथवा संस्था का जीवन उसके अतीत से ही अनुप्राणित होता है। अतः समाज व संस्कृति को नष्ट करने के लिये सर्वाधिक भयंकर शस्त्र है, इतिहास को नष्ट कर देना। भारतवर्ष में आक्रामकों द्वारा यही होता आया है अतः भारत का वास्तविक इतिहास आज तक अनुपलब्ध है यही सबसे बड़ी विडम्बना है।

जातीय जीवन में इतिहास के महत्त्व ने मुझे जैनधर्म का इतिहास लिखने की प्रेरणा दी। पर जैनधर्म का इतिहास लिखते हुए मेरा हृदय अत्यन्त सशंक था। साधन व सामग्री का प्रश्न था ? मात्र किम्वदन्तियों के आधार पर इतिहास लिखना उपयुक्त नहीं ज्ञात होता था और जैन इतिहास की सामग्री इतनी विकीर्ण है कि उनको एक स्थान पर एकत्रित करना सहज नहीं था। भिन्न २ स्थानों, उपाश्रयों और भंडारों में रखी हुई सामग्री भी प्राप्त होना कठिन थी। अतः मन की साध मन में रखते हुए अवसर की प्रतीक्षा में रहा। बम्बई चातुर्मास में श्री जैन स्थानकवासी कान्फ्रेन्स की ओरसे एक जैन इतिहास की पांडुलिपि अवलोकनार्थ मिली। उसका संकलन और सम्पादन मुनि श्री संतबालजी ने किया था। दर्शन, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में संतबालजी एक मूर्तिमन्त ज्योतिपुंज रहे हैं। किन्तु उनके सामाजिक सुधारों के अतिवाद ने समाज को विक्षुब्ध भी रखा है। अतः प्रस्तुत ग्रंथ इतिहासके साथ २ संतबालजीके विचारोंका प्रतिनिधित्व करता था। ऐतिहासिक सामग्री भी उसमें पर्याप्त नहीं थी। अतः इतिहास की दृष्टि से यह ग्रन्थ उपादेय नहीं, ऐसा मैंने कान्फ्रेन्स को लिखकर भेज दिया। कान्फ्रेन्स वालों ने भी बहुत ही सरल मार्ग का चुनाव किया और कहा—यदि यह ग्रंथ उचित व उपादेय नहीं लगता है तो आप स्वयं ही इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को लिखने का उत्तरदायित्व लें। कान्फ्रेन्स का यह उत्तर मेरे लिये चुनौती था। इतिहास लिखने की मेरी

चिरकालिक साध भी थी। अतः जितनी भी सामग्री उस समय मुझे उपलब्ध हो सकी, उन्हीं को आधार बनाकर मैं प्रस्तुत महत् कार्य में संलग्न हो गया और वह साकार रूप आपके समक्ष है।

प्रारंभ से ही भारतीय चिन्तन को दो धारायें प्रवाहित हुई हैं। एक धारा श्रमणसंस्कृति नाम से विख्यात हुई और दूसरी धारा वैदिक संस्कृति के नाम से। इनका उद्गम कब और किस काल में हुआ, इतिहास इस संबंध में मौन है। विश्वासों और मान्यताओं के आधार ही दूसरा विकल्प रहता है। अतः उस काल को प्राक्ऐतिहासिक कहकर ही हमें आगे बढ़ना पड़ता है। भगवान् अरिष्टनेमि से वर्तमान ऐतिहासिक युग प्रारंभ होता है। अतः जैनधर्म के इतिहास को भी हमने निम्न विभागोंमें विभाजित कर दिया है।

१—आदि युग
२—महावीर युग
३—भद्रबाहु युग
४—लोंकाशाह युग
५—संघ युग

युग-विभाजन मात्र सुविधा की दृष्टि से किये गये हैं। परन्तु प्रत्येक युग में तत्कालीन पूर्व व पश्चात्वर्ती आचार्यों का परिचय भी दे दिया गया है। लोंकाशाह के आविर्भाव पर्यन्त हमने समस्त श्वेताम्बर आचार्यों तथा उनकी सेवाओं का सप्रमाण विवरण देने का प्रयत्न किया है। लोंकाशाह युग से संघयुग तक जैनधर्म के एक विशिष्ट सम्प्रदाय—स्थानकवासी सम्प्रदाय का

ही मुख्यतया वर्णन है। यह इतिहास इसी दृष्टिकोण से लिखा भी गया है। अतः पन्द्रहवीं शताब्दी के पश्चात् का सारा ही वर्णन स्थानकवासी सम्प्रदाय का ही है। अतः इसे स्थानकवासी जैनधर्म का इतिहास कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा।

इतिहास लिखने के पश्चात् मन में यह स्पृहा थी कि इसे समाज के अन्य विशिष्ट व मुनिगणों को दिखा दिया जाय तो उपयुक्त रहे। तदनुसार कान्फ्रेन्सके प्रबन्धकों के पास, वर्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ के भूतपूर्व प्रधान मंत्री आनन्दऋषिजी महाराज, उपाध्याय हस्तीमलजी महाराज, प्यारचन्दजी महाराज, उपाध्याय अमरमुनिजी महाराज, मरुधर केशरी मिश्रीलालजी महाराज आदि सभी सन्त मुनिराजों के सामने यह इतिहास रखा गया। सभी सन्त मुनिराजों ने इसमें संशोधन करने के सुझाव दिए जो उसी समय कर दिए गए। किन्तु व्यापक प्रमाणित सामग्री हमें नहीं मिल सकी।

इतिहास के लिखने के दो वर्ष बाद श्री अगरचन्दजी नाहटा बीकानेर वालोंने इस इतिहास के लिए ऐतिहासिक सामग्री पर्याप्त रूप से मुझे दी। मैंने उसका कुछ उपयोग भी किया किन्तु शारीरिक अस्वस्थता के कारण मैं उसका पूरा लाभ नहीं उठा सका। इतिहास के सम्बन्ध में तथ्य और प्रमाणों के साथ नाहटाजी की जानकारी बहुत ही मूल्यवान मुझे लगी सन १९५५ ई० में यह इतिहास लिखा गया था और आज १९५९ ई० में यह प्रकाशित हो रहा है। श्री सरदारमलजी कांकरियाने

इस इतिहास को स्वेच्छा से ही प्रकाशित करने की हिम्मत की है। यह प्रयास इतिहास के जानने वालों के लिए अत्यन्त स्तुत्य है। मैं जो कुछ इतिहास के सम्बन्ध में अपनी जानकारी निश्चित कर सका, यह सब मेरे गुरुदेव श्री छोटेलालजी महाराज की महान् कृपा का फल है।

अन्त में मैं ज्ञात-अज्ञात उन सभी लेखकों व इतिहासकारों व महानुभावों का आभारी हूं जिनसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है अथवा जिनके ग्रन्थों से मैंने पूर्ण लाभ उठाया है।

कलकत्ता

—मुनि सुशीलकुमार

प्रकाशकीय

"जैनधर्म का इतिहास" सदृश महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को प्रकाशित करते हुए हमारा हृदय आनन्दोर्मियों से तरंगित है। इस ग्रन्थ के द्वारा हर व्यक्ति अपने गौरवपूर्ण अतीत को जान सकेगा कि उसके पूर्वजों ने देश, समाज, राष्ट्र और साहित्य को कितना महान् अनुदान दिया है। जन-कल्याण करने तथा जन-जीवन के नैतिक धरातल को उन्नत करने के लिये जैन मुनियों और श्रमणों ने सर्वस्व समर्पण किया है और हँसते हुए अनेकों बार मृत्यु का भी आलिंगन किया है। वर्णित घटनाओं तथा कथा-प्रसंगों को पढ़ते हुए किस व्यक्ति का हृदय जातीय-गौरव-गरिमा से आपूरित न हो उठेगा ?

मुनि श्री सुशीलकुमारजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में अमित श्रम एवं शक्ति का व्यय किया है। आशा है समाज का हर वर्ग इस महत् प्रयास का स्वागत करेगा।

८७ धर्मतल्ला स्ट्रीट	भवदीय
कलकत्ता	सरदारमल कांकरिया

इतिहास की रूपरेखा

भारतीय इतिहास के चरण स्वयं अन्धकार में आच्छन्न हैं, और फिर आत्मधर्म को मानकर चलने वाले व्रात्यधर्म अथवा जैनधर्म के अतीत की काल-शृंखला नितान्त निरवधि है। उस गणनातीत वर्षों के इतिहास को यहां पांच भागों में विभक्त करने का प्रयास किया गया है।

विभाजन के मूलभूत आधार

युग के सीमा-निर्धारण में विशिष्ट युगीन परम्पराओं और इतिहास काल-लेखनकी सुविधाओं को ही महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक युग अपनी काल-विधियों की समस्त अवस्थाओं का दर्पण है। किसी काल विशेष की जनता, उसका रहन-सहन, खानपान, कौटुम्बिक और सामाजिक व्यवहार, पारस्परिक सभ्यता, शिष्टाचार तथा परिस्थिति और विचारधारा का स्वरूप-चित्र युग में झलका करता है और वही युग में बहती हुई विशेष पारम्परिक धारा इतिहास द्वारा स्पष्ट की जाती है। इस प्रकार युग-युगान्तरों की अनेक कड़ियें इतिहास के साथ सम्बन्धित की जाती हैं।

युग एक कथाकार है, जो कहानी सुनाता है, और इतिहास उसे सुनकर अपने पृष्ठों पर अंकित करता है, जैनधर्म की प्रगति,

व्यक्तित्व का प्रभाव, विशिष्ट परम्परा और सांस्कृतिक निश्चित धारा ही युग विभाग में मूलभूत आधार रखे गये हैं:—

(१) आदि युग—आदि काल से वि० सं० से ५०० वर्ष पूर्व तक।

(२) महावीर युग—वि. सं. ५०० से पूर्व दूसरी शताब्दी तक।

(३) भद्रबाहु युग—दूसरी सदी से १६ वीं शताब्दी तक।

(४) लोंकाशाह युग—१६ वीं सदी से २००८ तक।

(५) संघ युग—सादड़ी-सम्मेलन तक।

परम्पराओं का लक्ष्य बद्ध-प्रवाह युग के मोड़ों को बनाने में सहायक होता है। उसी दृष्टि को आगे रखकर युग-विभाग पांच वर्गों में बांटा गया है। यद्यपि युग अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है, किन्तु यहां पर निश्चित ऐतिहासिक तथ्यों की सुविधाओं को ध्यान में रखकर ही युगों का वर्गीकरण हुआ है।

१. *आदि युग:—*

आदि युग का प्रारम्भ काल प्राचीनतम हैं और जितना प्राचीन है उतना अज्ञात भी है। सभ्यता के स्वर्ण विहान का शुभ अरुणोदय दिवस यदि आरंभकाल का आदि दिवस मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। इसके प्रादुर्भाव और विकास के साथ साथ ही मानवता का जन्म और प्रगति का प्रारम्भ होता है। जैनधर्म के इतिहास का सम्बन्ध आदिनाथ भगवान् से है, अतः उन्हींके नाम से इस प्रारम्भ काल को आदि काल—आदि युग कहा गया है।

२. आदिनाथ:—

व्रात्यधर्म, अरिहंत धर्म, परमहंस धर्म, यतिधर्म, निर्ग्रन्थ धर्म, मुनिधर्म और जैनधर्म के स्रष्टा भगवान् आदिनाथ ही हैं। वे धर्म के ही संस्थापक अथवा प्रवर्त्तक नहीं है, अपितु, व्रात्य संस्कृति के स्रष्टा, मानव सभ्यता के आविष्कारक और परम दार्शनिक के नाम से प्रसिद्ध हैं, भारत के प्राचीनतम मनु—श्राद्ध-देव......और नाभि राजा से उनका सम्बन्ध है।

इतिहास ऋषभदेव के विषय में मौन है, क्योंकि इतिहास की किरणें काल्पनिक और यथार्थ-सम्मिलित रूप से अधिक से अधिक २४००० वर्षों तक पहुंच पाई हैं। उससे आगे चलने में वह सर्वथा असमर्थ हैं। तत्कालीन संस्कृति और अवस्था का अवगाहन स्वल्पतम सामग्री के आधार पर ही करना पड़ता है हमें आदिनाथ को समझने के लिए जैन सूत्र, वेद, पुराण और स्मृतियों का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

यह अवश्य हमारा अहोभाग्य है कि भगवान ऋृषभदेव के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में अत्यन्त उदारता पूर्वक उल्लेख किया गया है। भगवान् ऋृषभदेव के सम्बन्ध में श्रीमद्‌भागवत् खूब विस्तार पूर्वक लिखा गया है, और उन्हें परमहंस धर्म तथा जैनधर्म का प्रवर्त्तक माना गया है। इसी प्रकार से हमने अन्य युगों में भी पारस्परिक सामग्री से सहायता लेकर ही काम चलाया है।

आदि-युग

(प्रथम पर्व—प्रकरण—१)

आदि-युग कालनिर्णय

काल-निर्णय इतिहास का सबसे कठिन कार्य है। यह कार्य तब और भी कठिन हो जाता है जब काल-ज्ञान के लिए उपयुक्त सहयोगी सामग्री अप्राप्य हो, और सृष्टि के बहुत प्राचीन क्षेत्रों में विचरण करना हो। प्राचीन ग्रंथों, शिलालेखों और परम्प-राओं के बल पर काल-निर्णय में सहायता मिलती है। और जब एक बार काल-निर्णय हुआ कि इतिहासकार का काम सरल हो जाता है। इसीलिए, हमें आदिनाथ का काल-निर्णय आवश्यक प्रतीत हुआ।

भगवान् ऋषभदेव के विषय में:—

प्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् भगवान् ऋषभदेव के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हैं—"जैन-परम्परा, ऋषभ-देव को जैनधर्म का संस्थापक बताती है। जो अनेक शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बात के प्रमाण पत्र मिलते हैं कि ईस्वी सन् से एक शताब्दी पूर्व लोग प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की आराधना करते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्धमान अथवा पार्श्वनाथ के पूर्व भी जैनधर्म विद्यमान था।

यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। भागवत् पुराण में ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे। इस विचारका समर्थन मिलता है।

वैदिक विद्वान् प्रो० विरूपाक्ष एम० ए०, वेदतीर्थ ऋग्वेद में ऋषभदेव भगवान् का स्तुतिकारक मन्त्र बताते हुए लिखते हैं:—

ऋषभं भासमानानां सपलानां विषसाई।

हन्तारं शत्रुणां कृधि विराजं गोपितंगवाम्॥

वैदिक परम्परा भगवान् ऋषभदेव को आदियुग में अष्टमावतार के नाम से जानती है। जैन-परंपरा तीसरे आरे के अंतिम चरण में भगवान् ऋषभदेव के सद्भाव ज्ञापन करती है। ऐतिहासिक विद्वान् भगवान् ऋषभदेव के काल-निर्णय में असमर्थ हैं। हां, विश्व के गण्यमान्य इतिहासज्ञों ने भगवान् ऋषभदेव को प्राचीनतम भारत का महापुरुष, राज्य-व्यवस्थापक और धर्म-संस्थापक बताया है।

इतना होने पर भी तिथि-निर्धारण, उस अज्ञात अतीत का, असम्भव है, ऋग्वेद कहता है:—

हे सद्तुल्य ऋषभ! तुम शत्रुहन्ता हो, जितेन्द्रिय और रक्षक हो, हमें भी अपने जैसा बनाओ।

ऐसे अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद काल से ही ऋषभदेव का सम्मानपूर्ण स्थान था।

जैनधर्म काल के दो विभाग करता है, उत्सार्पिणी और अवसर्पिणी एक-एक काल विभाग के छः छः छोटे विभाग

बताये गये हैं जिन्हें आरा कहा जाता है। आरे के सदृश वह वस्तु जगत् में परिवर्तन और विकर्तन करते हैं। एक बार काल दुःख से सुख की ओर और दूसरी बार सुख से दुःख की ओर अग्रसर होता है। क्रमशः उन्हें ही उतसर्पिणी और अवसर्पिणी कहते हैं। इसे चित्र रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:—
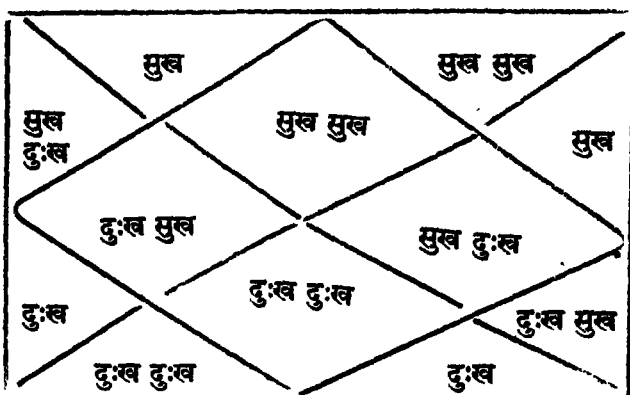
जिस काल में भौतिक समृद्धि विकास की ओर उन्मुख होती है और जीवन सुखमय बनता जाता है उसे उत्सर्पिणी और इसके विपरीत काल को अवसर्पिणी कहते हैं। आत्म-विकास का ह्रास और विकास का सामूहिक क्रम भी इस काल-परम्परा से प्रभावित रहता है। भगवान् ऋषभदेव इस अव-सर्पिणी काल के तीसरे आरे के अन्त में चैत्रकृष्ण अष्टमी को उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे।

ऋषभ प्राक्कालीन भारत

श्वेत वाराह-कल्प—

वैदिक परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के समय का नाम श्वेत वाराह-कल्प था। जैनधर्म के मतानुसार तीसरा आरा युगलियों का काल—भगवान् ऋषभदेव का समय समझा जा सकता है।

युगलीय समाज और उसकी तत्कालीन स्थिति—

युगलियों के समय में समाज-व्यवस्था नहीं थी। लग्न, पुनर्लग्न, अन्तर्जातीय लग्न, अन्तर्वर्णलग्न आदि कुछ भी नहीं था। लोग प्राकृत जीवन व्यतीत करते थे। भाई-भगिनी ही दम्पति के रूप में परिणत हो जाते थे। वृक्षों से प्राप्त फल-फूल पर लोग जीवन-निर्वाह करते थे। इच्छाएं उनमें नहीं के बराबर थीं, जो कुछ थीं उनकी पूर्ति कल्पवृक्षों द्वारा हो जाती थी। भौतिक पदार्थों के उपयोग की ओर उनकी दृष्टि और ज्ञान अविकसित था अतः उनमें लोभ और भोगवृत्ति अल्प थी। समाज तो था ही नहीं, फिर राज-व्यवस्था कहां से आती? किसी प्रकार का विधान, न्याय-निर्णय और कानून की आवश्यकता ही नहीं हुई।

उस काल में मानव मस्तिष्क प्रकृति के निकटस्थ दृश्यों और समृद्धियों के पार कुछ भी देखने में असमर्थ था। और उन दृश्यों को देखता भले हो; उनका कलात्मक अथवा भावनात्मक

आनन्द लेने में असमर्थ था। प्रकृति-प्रदत्त वैभव और समृद्धियां उसके लिए नगण्य—मूल्यहीन थीं। उस काल का मनुष्य पशुवत् था। दोनों साथ विचरण करते थे।

जब स्थिति यह थी तो उस मनुष्य में अहंवृत्ति का उदय कैसे होता। तत्कालीन लोगों की महत्त्वाकांक्षाएं प्रसुप्त थीं। राजस और तामस गुणों का जन्म नहीं हुआ था।

लेनिन का आदि साम्यवाद भी इसी स्थिति से मिलता-जुलता है। केवल उसमें आर्थिक-समानताका सिद्धान्त नया है।

प्राचीन मानव का प्रकृत जीवन—

इतिहास के विद्वानों ने उस समय की स्थिति का बहुत ही सरल भाषा में उन सरल मनुष्यों तथा उनकी सरलतम व्यवस्था का वर्णन किया है। पुराण उस स्थिति को युगालिया-काल कहते हैं। वेद के यमयमी संवाद से भी जैनधर्मानुकूल वर्णन की सभ्यता पर ही मुहर लगती है। राष्ट्रवाद और प्रान्तवाद तो बहुत ही अर्वाचीन समय की व्यवस्थाएं हैं। उस काल में तो मनुष्य आज के वनवासियों की तरह रहा करते थे। वे सर्वथा सीधे सरल और अक्रूर थे। सभी प्रकार की रचनात्मक प्रवृत्तियों से हीन, उस जमाने के लोग अल्प परिग्रही थे। उनमें धीरे-धीरे कुटुम्ब प्रथा पनप रही थी। पंचप्रणाली भी जन्म ले रही थी। इसके प्रमाण में हमें श्राद्धदेव, सत्यव्रत, नाभि तत्कालीन पंचोंमें से एक पंच तथा कुटुम्ब के अग्रणी के रूप में पंचायत करते हुए उपलब्ध होते हैं।

आदि-युग

(प्रकरण—२)

ऋषभ के पूर्वज और माता-पिता

वैदिक शास्त्रानुसार प्रत्येक कल्प में होने वाले चौदह मनुओं में सातवें मनु विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव अथवा नाभि पैदा हुए।

मनु स्मृति के अनुसार विमलावहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचंद्र, प्रसेनजित तथा नाभि कुलकर पैदा हुए जिनके पुत्र ऋषभदेव हुए।

जैन शास्त्रों में १० कुलकर और वैदिक साहित्य में १४ मनु सम-समान से ही लगते हैं। लगभग नाम भी कहीं कहीं एक जैसे प्राप्त हो जाते हैं। कम से कम नाभि कुलकर और उनके पुत्र ऋषभदेव—इस मत पर, दोनों ही, जैन और वैदिक-साहित्य एक स्वर से सहमति प्रगट करते हैं। इसके लिए कूर्म-पुराण, मार्कण्डेय पुराण, श्रीमद्भागवत आदि देखने योग्य हैं। अग्नि पुराण और कूर्म पुराण में ऋषभदेव के माता-पिता के विषय में यह उल्लेख आया है:—

'हिमाह्वयन्तु यद्वर्षं नाभिरासीन्महात्यम्
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः'

अर्थात् हिमवर्ष में महात्मा नाभि के मरुदेवी से महादीप्ति-धारी वृषभ नामक पुत्र हुआ।

जैन शास्त्र कल्प-सूत्र के अनुसार नाभि पिता के घर, मरु-देवी माता की कुक्षि से भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।

ऊपर निर्दिष्ट उद्धरणों से इतना तो अवश्य पता लगता है कि भगवान् ऋषभदेव भारत के महानतम पुरुष हुए हैं। हिन्दुस्तान की दो प्रमुख विचारधाराओं में उनका सम्मान के साथ उल्लेख पाया जाता है। माता मरुदेवी और पिता नाभि के पुत्र भगवान् ऋषभदेव हमारी संस्कृति के आद्य संस्थापक हैं, इस विषय में अनेक दृष्टियों से हम एकमत हैं।

भगवान् ऋषभदेव

जैनधर्म में, भगवान् ऋषभदेव को आदि तीर्थंकर कहा गया है। ये अवसर्पिणी काल में हुए। मनु-स्मृति में उन्हें 'जिन' कहा गया है:—

'नीति त्रयाणां कर्त्तायो युगादौ प्रथमः जिनः'

आरण्यक उपनिषद् में—'ऋषभ एवं भगवान् ब्रह्मा-भगवता ब्रह्मणा स्वयमेवा चीर्णानि ब्रह्माणि तपसा च प्राप्तः परं पदम्'

भगवान् ऋषभदेव को ब्रह्मा, तपस्वी तथा परमपदवान्, साक्षात्परम योगी कहा गया है।

जन्म-तिथि—

भगवान् ऋषभदेव का चैत्रमास की कृष्ण पक्ष की अष्टमी को मध्य-रात्रि, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में जन्म हुआ।

बाल्यकाल—

भगवान् ऋषभदेव के बाल्य वर्णन की ऐतिहासिक अथवा साहित्यिक घटना यहां देने से कुछ लाभ नहीं। किन्तु यह जानने योग्य है कि उनका बाल्यकाल तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियों और व्यवस्थाओं के अनुरूप बहुत ही रमणीय रहा। बाल सुलभ चेष्टाओं का भी उनमें समावेश होगा। उनके विषय में विशेष कुछ कहने का हमारा उद्देश्य नहीं। जैनशास्त्र

के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के बाल्यकाल में मुख्य घटना केवल यही प्राप्त होती है कि उस काल में इष्ट फल देने वाले कल्पवृक्ष स्वल्प फल देने लगे थे। युगलियों में कलह, असंतोष, वैवाहिक अव्यवस्था होने लगी थी। भगवान् ऋषभदेव को इस दुरवस्था को दूर करने का संकल्प करना पड़ा और उन्होंने युगल धर्म का निवारण कर कर्म की स्थापना की। जिन सुधारों और आविष्कारों को हम संसार के शिल्प, समाज तथा कृषि आदि का विज्ञान का सर्वप्रथम प्रयोग मान सकते हैं।

भारत के गंभीर विद्वान् पं० सुखलाल जी संघवी ने उन्हें इस प्रकार उपस्थित किया है—

१—भगवान् ऋषभदेव ने विवाह सम्बन्ध किया उस वक्त की चालू प्रथा के अनुसार सगी बहन सुमंगला के बाद एक सुनन्दा नामक कन्या से विवाह किया, जो कि अपने जन्मसिद्ध साथी की मृत्यु से हतोत्साह और चिन्तित होकर अनाथ हो ही गई थी।

२—भगवान् ने प्रजा-शासन का काम हाथ में लेकर साम, दाम, दण्ड आदि नीति को प्रवृत्त किया और लोगों को जीवन-धर्म और समाज-धर्म सिखाया।

३—जिन काम-धंधों के सिवा उस समय वैयक्तिक और और सामाजिक जीवन शक्य नहीं था और आज भी जो शक्य नहीं हो सकता। वे सारे काम भगवान् ने लोगों को सिखाए। उस वक्त की सूझ और परिस्थिति के अनुसार भगवान् ने लोगों

को खेती द्वारा अनाज पैदा करने, अनाज पकाने, उसके लिए आवश्यकतानुसार बर्तन बनाने, रहने के लिए मकान तैयार करने, वस्त्र-निर्माण तथा हजामत करना आदि जीवनोपयोगी शिल्प की शिक्षा दी।

४—पुत्र जब योग्य वय में पहुंच गया तब उसको उत्तर-दायित्व पूर्वक और राज्य का कारोबार चलाने की शिक्षा देने के बाद ही उन्होंने अपना साधक जीवन स्वीकार किया।

५—साधक जीवन में उन्होंने अपना पूर्ण मनोयोग आत्म-शोधन की ओर लगा दिया और आध्यात्मिक पूर्णता सिद्ध की।

विवाह—

भगवान् ऋषभदेव का विवाह सुमंगला तथा सुनन्दा नामक दो बालिकाओं से हुआ था।

संतति—

भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे भरत। जैनाम्नाय के अनुसार बाहुबली आदि ९९ पुत्र तथा दो पुत्रियां ब्राह्मी और सुन्दरी—कुल १०२ सन्तानें भगवान् ऋषभदेव की थीं।

परिवार वंश-वृक्ष—
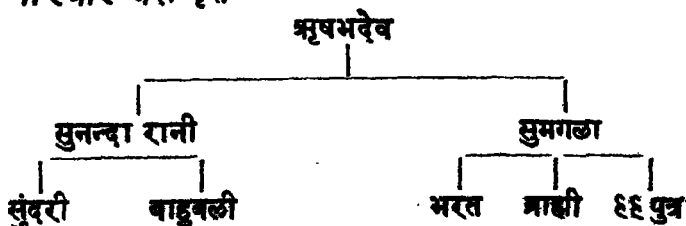
जन्म-स्थान—

भगवान् ऋषभदेव का जन्मधाम अयोध्या है। अयोध्या को शास्त्रीय शब्दों में विनीता भी लिखा गया है। क्योंकि यहां के लोग बड़े विनीत थे सम्भवतः अयोध्या का नाम इस कारण भी प्रसिद्ध रहा है कि उसे आदि निर्माता भगवान् वृषभ को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

भगवान् की राज्य-व्यवस्था—

भारतवर्ष के सर्वप्रथम वैधानिक राजा बनने का श्रेय ऋषभ भगवान् को है। यदि भरत को भारत का सर्वप्रथम वैधानिक राजा स्वीकार किया जाता है तो भरत के चक्रवर्ती पद का तथा राजाओं का विजेता ये दो शब्द विशेषण अपूर्ण दीखते हैं। क्योंकि उस समय राज्य-संस्था का जन्म ही नहीं हुआ था।

विकास तो उसी समय नहीं हो गया होगा, तो भरत ने कौन से राजाओं को जीत लिया। यदि अन्य राजा भी थे तो भगवान् ऋषभदेव राज्य-संस्था के जन्मदाता कैसे हुए? इन दोनों आशंकाओं का समाधान कदाचित् पौराणिक विद्वान् कर सकें।

ऋषभ-काल की, आदिवासी भारतीय जाति का निर्माण, गठन, रचना तथा तन्त्रीकरण करना आसान काम नहीं था। फिर भी ऋषभदेव ने कृषि-कर्म, असि-कर्म, लेखन-कला आदि शिक्षाओं का सम्वर्द्धन किया यह तो उस समय का इतिहास ही बता सकता है। हमारे पास तो कतिपय लोक श्रुतियां, कहानियां, पौराणिक कथाएं आदि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

ऋषभदेव द्वारा सामाजिक क्रान्ति--

जिन-पुराण के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने तीन वर्ण—वणिक, क्षत्रिय, शूद्र की स्थापना की है। उन्होंने स्पृश्यास्पृश्य-भेद के बिना ही, असि, मसि और कृषि की अर्थात् स्वरक्षा, लेखन और खेती का ज्ञान दिया। ऋषभदेव ने कल्पवृक्षों की अधीनता से मनुष्य को स्वयं अपने भाग्य का विधाता बनाया और अपने हाथों से पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी।

कल्पलता-कथा--

कल्पवृक्ष शब्द बहुत ही प्राचीन और पवित्र है। यह लोक-जनता का श्रद्धाभाजन और समस्त मनोकामनाओं का पूरक

माना गया है। आज भी विश्व के अनेक वृक्ष-शास्त्र विशेषज्ञ और वन-विज्ञान विशारद कहते हैं कि कल्पवृक्ष आज भी पाए जाते हैं और वे दूध, फल, पानी, रस, दिव्यता, प्रकाश आदि के दाता हैं। अमरीका में ऐसे वृक्ष पाये जाते हैं जिनमें गौ-दुग्धसम दुग्ध प्रदान करने की असीम क्षमता है। प्रकाश देने वाले वृक्ष भारतवर्ष में पाये जाते हैं। नारियल का वृक्ष अकेला ही पानी, फल तथा छाल प्रदान करता है।

कल्पवृक्ष काल की जनता बहुत सीधी-सादी और निर्लोभ थी। कपट और प्रपंच का नाम नहीं था। छल और नाशक बल का नाम नहीं था। जीवन प्रकृतितंत्र था, कहीं बंधन नहीं था, सब के लिए खुला था। कहीं कुछ गोपन या दुराव नहीं था। इसलिये भगवान् ऋषभदेव को बर्तन बनाकर भोजन पकाकर बनाना पड़ता था और अन्यान्य कलाओं का निर्देशन करना पड़ता था।

वास्तव में वही मानव समाज का आदि इतिहास है। आदिम आदमी की आदिम कहानी है। इसलिए महत्त्वपूर्ण भी है। किन्तु खेद है कि वह अत्यन्त अंधकारपूर्ण है और आज के विद्वानों और पंडितों की खोज का प्रकाश अभी पूरी तरह वहां तक नहीं पहुंचा है।

'राजा' कह देने मात्र से, व्यक्ति विशेष को राजा मान लिया जाता था और उसकी आज्ञा को व्यवस्था मानते थे। इससे ज्यादा कुछ झंझट नहीं था। डेमोक्रेसी, डिक्टेटरशिप,

सोशलिज्म आदि के प्रपंच नहीं थे। जीवन इतना जटिल नहीं था सरल और सुख परिपूर्ण था।

भगवान् ऋषभदेव की दो रानियां थीं। एक उनकी सहोदरा तथा दूसरी अनाथ बाला। दोनों से भरत और ब्राह्मी तथा बाहुबली और सुन्दरी नामक सन्तानें हुईं।

इस विषयक विशेष जानकारी के लिए देखिए—श्री सुख-लाल जी संघवी की पुस्तक "भगवान् ऋषभदेव और उनका परिवार"।

भरत को राज्य और ऋषभदेव का वैराग्य

निर्माण-काल-

भगवान् ऋषभदेव के राज्यकाल को "निर्माण-काल" कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि उनकी पुत्री ब्राह्मी—"ब्राह्मी" लिपि का आविष्कार कर चुकी थी। सुन्दरी गणित विद्या का निर्माण कर चुकी थी। लेकिन ब्राह्मी और सुन्दरी के निमित्त विवाह-संयोजन जैसा कोई प्रयत्न, किसी ऋषभ-जीवन-चरित्र में प्राप्त नहीं होता।

इसी समय भरत का यौवन राज्य का अधिकारी बनने की ओर अग्रसर था। भरत राज्य-शास्त्र का बहुत ही चतुर विद्वान् व कूटनीतिज्ञ था।

बाहुबलि की शारीरिक बलिष्ठता तत्कालीन वीरों में स्पर्द्धा का विषय बनी थी।

भगवान् का राज्य दान और वैराग्य-

ऋषभदेव विरक्त होने से पहले राज्य का बंटवारा कर देना चाहते थे, जिससे संघर्ष की परिस्थिति ही न पैदा हो। अपने समूचे राज्य को भगवान् ऋषभदेव ने दोनों भाइयों को बांट दिया, और आप विरक्त होकर, वन में चले गये। भगवान् ऋषभदेव के भरत बाहुबली के सिवाय ९८ पुत्र और थे।

साधना-

मेरा विश्वास है कि भगवान् ऋषभदेव गृहस्थ समाज की स्थापना के बाद साधु-समाज का निर्माण करना चाहते थे। विश्व में जिस प्रकार मृत्यु जन्म को पैदा करती है और जन्म मृत्यु को जन्म देता है, उसी प्रकार व्यवस्था अव्यवस्था को और अव्यवस्था व्यवस्था को जन्म देती है। ऋषभदेव की व्यवस्था पर भी विद्रोह उत्पन्न हुआ, परिणाम में भरत और बाहुबली का घोर युद्ध उनके सामने ही उपस्थित हो गया। ९८ पुत्रों की निराशा, ब्राह्मी और सुन्दरी नामी पुत्रियों का आजन्म कौमार्य-व्रत यह सब व्यवस्था के परिणाम मात्र थे, तथापि अव्यवस्था पर व्यवस्था की ही विजय होनी चाहिए।

'तीर्थंकर' भगवान्-

ऋषभदेव आत्मदर्शी, वस्तु तत्व विज्ञाता, सर्वज्ञ बन जाने पर, भारत में कल्याणाकांक्षी लोगों का एक सुयोजित मार्ग स्थापन करना चाहते थे। वह उन्होंने किया भी। जैन-शास्त्रों

में भी इसी हेतु वे प्रथम तीर्थंकर कहलाए। वैदिक शास्त्रों के अनुसार वे प्रथम "जिन" बने। उपनिषदों के अनुसार वे ब्रह्मा तथा भगवान् पद के अधिकारी हुए और परम पद प्राप्त करने वाले सिद्ध-बुद्ध और अजरामर परमात्मा बने।

आर्याजाति के उपास्य

ऋषभदेव उपास्य रूप में-

भगवान् ऋषभदेव भारतीय संस्कृति के वे मध्य-बिन्दु हैं, जिनसे गृहस्थप्रधान ब्राह्मण-संस्कृति ने जन्म नहीं तो, स्वरूप अवश्य ही प्राप्त किया है। श्रमण संस्कृति के तो वे आदि पुरुष हैं ही। उनका जीवन भारत-निर्माता मनु से अधिक उर्वर है। वे राज्य, गृहस्थ तथा वर्ण-धर्म की व्यवस्था ही नहीं; रचना करने में भी सफल हुए थे। वे विश्वकर्मा थे, प्रजापति थे। कर्म और ज्ञानयोग के सफल व्याख्याकार जैन तीर्थंकर होना ही उनकी इतिमत्ता नहीं है, अपितु उनकी महत्ता आर्यधर्म के मूलाधार समूची आर्य जाति के उपास्य, समूचे भारत के विराट् पुरुष और समूचे विश्व के प्राचीनतम विश्व-व्यवस्थाकार के रूप में भी है।

उपास्य रूप की प्राचीनतम परम्परा-

भारत के आदिवासी भील उन्हें अपना धर्म-देवता मानते हैं। अवधूत पंथी ऋषभदेव को अपना प्रथम अवतार मानते हैं और इसी रूपमें पूजा करते हैं। वैदिक संस्कृति और भारतीय

जीवन का मूल सांस्कृतिक धरातल भगवान ऋषभदेव पर अवस्थित है। किन्तु पिछले तीन हजार वर्षों से जैनियों की ओर से वेदों की उपेक्षा ही सम्भवतः भगवान् ऋषभदेव को वैदिक जीवन से महत्त्व रहित बनाने में सहायक रही हो, अथवा साम्प्रदायिक आग्रह। अन्यथा, ऋषभदेव आदि भारतीय संस्कृति के सर्वोपास्य, सर्वमान्य नेता रहे हैं। पुरातत्त्व के स्मारक इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

ऋषभ-स्मारक दिवस

संवत्सरी या ऋषभ पंचमी—

भाद्रपद शुक्ला ५ मी जैनियोंका परम पर्व है। वैदिकवादियों के लिए यह आर्ष-त्यौहार है। जैन इस दिन को संवत्सरी कहते हैं और वैदिक इसे ऋषि पंचमी कहते हैं। वास्तव में, यदि इस त्योहार की पृष्ठभूमि देखी जाय तो स्पष्ट पता लग जायेगा कि यह संवत्सरी और ऋषि-पंचमी न होकर, ऋषभ-पंचमी है। पं० सुखलाल जी संघवी की पुस्तक में इस पर प्रकाश डाला गया है।

ऋषभ पंचमी वैदिक तथा जैनों का एक सम्मिलित पर्व है, क्योंकि ऋषभदेव दोनों संस्कृतियों के पूज्य पुरुष हैं। दोनों विचारधाराओं के पुण्य प्रेरक हैं। यद्यपि जैनशास्त्र में संवत्सरी की पृष्ठभूमि अलग प्रकार से बताई गई है, शास्त्र का कथन सत्य है तो भी इस दिन का सम्बन्ध ऋषभदेव भगवान् से जोड़ा जा सकता है।

मूल में जैन और वैदिक विचारधारा एक थी

यदि प्राचीन भारतीय साहित्य देखा जाय, तो हमें जैन और वैदिक विचारधाराओं के मूल में एक ही स्रोत दृष्टिगोचर होता है। दोनों का मूल एक सिद्धान्त 'अहिंसा' से निसृत है। किन्तु पुरातत्त्व की खोज और विश्व इतिहासकारों के अनुसन्धान-कार्य से यह स्पष्ट हो गया है कि मध्यपूर्वीय एशिया से आने वाले आर्यों से पहले भारत में आदिवासी जाति रहती थी। यह जाति बलि और पशु-हिंसा, मांस-भक्षण और यज्ञ में विश्वास नहीं रखती थी।

षण्मुखचेट्टी ने उस आदि कालीन भारतीय जाति का नाम 'द्रविड़' बताया है और उसके पवित्र धर्म का नाम 'जैनधर्म' कहा है।

निस्सन्देह इतना तो निश्चित है कि ऋग्वेद के प्रथम सूत्रों में अग्नि पदक और अहिंसा-प्रधान मंत्र हैं।

तब वेद सबके थे—

"मा हिंस्यात् सर्व भूतानि"—इससे इतना ही प्रतिफल निकलता है कि वेद अकेले आर्यों के ही नहीं अपितु भारत भर के रहने वाले समस्त आदिवासी और आर्य ऋषियों की कवितावली थी। किन्तु एक समय आया जब अहिंसा पर विशेष जोर दिया जाने लगा तो, दो धाराएं बंट गई, जिनका बाद में फिर कभी संयुक्त सम्मिलित स्वरूप प्रतिष्ठित न हो सका। फिर भी

इतना स्पष्ट है कि दोनों विचारधाराएं एक ही जलवायुमें पली हैं, इन्हीं सम्बन्धों को लेकर इनमें पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ है। हो सकता है कि भगवान् ऋषभदेव के काल में यह मतभेद अधिक बड़ा न हो, किन्तु आने वाले समय ने जिस प्रकार वेदों को जैन-संस्कृति में से अमान्य माना, उसी प्रकार ऋषभदेव की, वैदिक धर्म में पूर्णतया प्रधानता होने पर भी, उपेक्षा की गई। यह मनुष्य की संकुचित वृत्ति का उदाहरण है। अन्यथा, कोई कारण नहीं था कि श्रीमद्‌भागवत् जैसे प्राचीन ग्रंथ में भारत की वसुन्धरा, वन, पर्वत पर केवल इक्ष्वाकु वंश का ही स्वामित्व स्वीकार किया गया है।

"ईश्वाकूणामिय भूमिः सशैलवनकानना विग्रहानुग्रहेष्वपि"

—भागवत ५ म स्कन्ध

भरत, भारत और ब्राह्मी लिपि—

वैदिक साहित्य में ऋषभदेव को ही प्रमुख स्थान दिया गया है, अतः उन्हें परम पिता तथा दोनों विचारधाराओं का मध्य बिन्दु स्वीकार करने में हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए था। किन्तु जैसे जैनियों को वेदों का बहिष्कार करना पड़ा, इसलिए कि वे यज्ञ-प्रधान एवं हिंसा-प्रधान थे, उसी प्रकार साम्प्रदायिक आग्रहवश वैदिकों ने भगवान् ऋषभदेव की उपेक्षा की, तथापि वैदिक पुराणों ने इतनी उदारता से घोषणा तो अवश्य की कि भरत के नाम से ही आर्यावर्त का नाम 'भारत' पड़ा और ब्राह्मी से ब्राह्मी लिपि का नामकरण हुआ।

भरत-बाहुबली का युद्ध

भरत और बाहुबली का द्वन्द्व युद्ध जैन-शास्त्र में बहुत प्रसिद्ध घटना है, उस काल में सेना का निर्माण हो गया था। लेकिन अभी उस मनुष्य को यह उत्तर न मिला था कि मानव-जाति का विनाश क्यों किया जाय ? अर्थात् मनुष्य इतना स्वार्थी नहीं हुआ था कि वह अपनी राज्य-लिप्सा के कारण मानव समाज का शोणित-प्रवाह प्रारम्भ करे। भरत को चक्रवर्ती बनना था, बाहुबली को अपने भाई का आधिपत्य स्वीकार न था। यह एक आपसी संग्राम में उतर आने का प्रमुख कारण है। इन्द्र इस स्थिति को अनुचित समझता था। (अब जरा सोचना है, इस इन्द्र से क्या आशय है, जैन-शास्त्र देवाधिपति को इन्द्र कहते हैं, किन्तु ऋग्वेदकालीन 'अवेस्ता' इन्द्र से किसी और अर्थ का संकेत करती है। विशेष के लिए देखिए—धर्मानंद कौशाम्बी की पुस्तक, भारतीय संस्कृति—अहिंसा)

अतएव, इन्द्र ने दोनों से कहा, लड़ना है तो लड़ो, पर ऐसे लड़ो कि तुम्हारी रण-पिपासा भी मिट जाय और किसी अन्य की प्राण हानि न हो।

निदान, पाचं युद्ध निश्चित हुए। पंडित सुखलाल जी संघवी के शब्दों में—'जिनमें भूमिष्ठ चक्र-युद्ध और मुष्टि-युद्ध जैसे युद्ध हिंसक थे परन्तु अन्य युद्ध अहिंसक थे। जिनमें दृष्टि-युद्ध और नाद-युद्ध आते हैं, जो जल्दी आंख बन्द कर ले अथवा निर्बल

आवाज करे, वह हारे। जो ऐसा न करे, वह जीते। समस्त संसार के युद्ध-प्रिय लोगों में यदि ऐसे युद्धों का प्रचार—प्रसार हो तो संसार का कितना अहित रुक सकता है।

भरत की विजय

मुष्टि-युद्ध में बाहुबली ने भरत को मारने, मुष्टि प्रहार करने के लिए अपनी मुष्ठि ऊपर उठाई तो तुरन्त विवेक उत्पन्न होने के कारण अथवा इन्द्र के समझाने के कारण मुष्ठि ऊपर ही रोक ली। क्योंकि इतना निश्चित था कि यदि मुष्ठि चल जाती तो भरत का पता ही नहीं लगता कि वह कहां लुप्त हो गए। इतना महाबली था वह बाहुबली।

बाहुबली को यह असह्य था कि उसकी मुष्ठि खाली चली जाय। समझाने-बुझाने पर बाहुबली ने वह मुष्ठि अपने पर ही चला ली। लेकिन उस मुष्ठि प्रहार में यह विशेषता रही कि उससे आत्मघात न होकर अभिमानघात हो गया। अतः उस मुष्ठि से 'केश लोच' किये और मुण्डित हुए। इस प्रकार राज्य भरत के अधिकार में आया।

पाठक देख चुके होंगे कि राज्य, सत्ता और सम्पदा, सृष्टि के आरम्भ से ही युद्ध का कारण रही है। भरत को छोड़कर शेष पारिवारिक-जन दीक्षित हुए। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि परिवार के शेष सदस्य भी भरत और बाहुबली के युद्ध से त्रस्त थे। राज्य-व्यवस्था और सम्पदा के प्रति विराग उन्हें आ गया

था और उन्होंने जान लिया था कि सुख 'त्याग' में हैं, 'भोग' में नहीं। राज्य करना है तो तृष्णा और सत्ता की इच्छाओं का दमन करना चाहिए।

भारत भूमि का प्रथम सम्राट्—'भरत'

भरत को इस देश का सर्वप्रथम सम्राट् होने का सौभाग्य मिला है। उसका वर्णन पुराण-ग्रंथों, श्रीमद्भागवत् तथा जैन-शास्त्र कल्पसूत्र में बहुत आया है। भरत का राज्य 'धर्म-राज्य' था। प्रजापालक, धर्मावतार भरत का जीवन 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष' में हेमचंद्राचार्य ने अति सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। जिनसेनके महापुराण में तो भरत की राज्य-व्यवस्था, उसका प्राणपण से कर्त्तव्य-पालन, पुत्रवत् प्रजा-पोषण और सरल आध्यात्मिक जीवन आदि का अत्यंत आलंकारिक एवं रोचक वर्णन आया है।

इन ग्रंथों के आचार्यों की दृष्टि काव्यात्मक शैली पर भरत-महिमा गाने की ओर अधिक रही है, भरत की राज्य-व्यवस्था कैसी थी? उसका न्याय कैसा था? आदि प्रश्नों का यथार्थ बोध उन वर्णनों से नहीं होता।

ऋषभ-संस्कृति का सार

१—भगवान् ऋषभदेव भारत के आदि विश्वकर्मा तथा समूची आर्य-जाति के उपास्यदेव हैं।

२—भगवान् ऋषभदेवने राजसंस्था, समाज-रचना, नारी

और पुरुष को समान अधिकार, समान-शिक्षण तथा कृषि द्वारा पृथ्वी को मनुष्य के लिए उपयोगी बनाने आदि की शिक्षाएं आदि मानव-जाति को दीं।

३—भगवान् ऋषभदेव ने समाज-धर्म के बाद, आत्म-धर्म के मार्ग का पथ-प्रदर्शन किया। संघ रचना की। साधु-साध्वी को समान रूप से मोक्षाधिकारी ठहराया। साथ ही, गृहस्थ के लिए मोक्ष का द्वार खुला रखा। यहांतक कि भरत और माता मरुदेवी को गृहस्थाश्रम में केवल ज्ञान प्राप्त हो गया था।

४—ब्राह्मी और सुन्दरी के समझाने से बाहुबली का मद उतरा और उसे भी केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इस उदाहरण से साध्वी समाज को समान उपदेश देने का अधिकार था, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

५—ज्ञान और कर्मयोग को भगवान् ऋषभदेव ने समान स्थान दिया है।

६—व्यक्ति का उद्देश्य आत्मशोधन, व्यवहार-विशुद्धि और जीवन को सर्वांगीण समुन्नत बनाना है। ऋषभदेव ने उसे व्यवस्थित बनाने की प्रेरणा दी।

७—एक साथ पैदा हुए युग्म का युगल दम्पत्ति बन जाने की प्रथा हटा कर रक्त विनिमय द्वारा कौटुम्बिक विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

८—ऋषभदेव ने भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थ की महत्ता

स्थापित की मोक्ष का नया सर्व सुलभ रास्ता बताया। ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की पुनर्रचना की।

९—एकान्तिक निवृत्ति जड़ता है और एकान्तिक प्रवृत्ति व्यामोह है। दोनों के सुमेल पर ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को लभ्य बताया।

१०—साम, दाम, दण्ड आदि, क्षत्रिय, वैश्य और जन-सेवक-शूद्र के रूप में तीन तीन कार्यक्रम मनुष्य के लिए निश्चित किए।

११—अनेक साधकों का कल्याण किया। भव्य आत्माओं को योग दिया और अन्त में स्वयं भी निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध हुए।

१२—पं० सुखलालजी के अनुसार बाहुबली भरत से अधिक उन्नत रहे, उन्होंने विजय के निकट पहुंच कर जो त्याग दिखाया, वास्तवमें वही उनकी सबसे बड़ी विजय हुई और इसके द्वारा उन्होंने बहुत बड़ा आदर्श विश्व इतिहासमें सबसे पहले उपस्थित किया।

उन्होंने बहनों के उपदेश को नम्रतापूर्वक स्वीकार करके अनेक मुखी भव्यता दिखलाई है।

पं० सुखलालजी का यह कथन सर्वथा काल्पनिक ही ठहरता है कि भरत सुन्दरी से विवाह करना चाहता था। किन्तु सुन्दरी ने सीधे इन्कार न करके, उग्र तप द्वारा अपना सौंदर्य नष्ट कर डाला। यद्यपि सुन्दरी उनकी दूसरी माता की कुक्ष से पैदा हुई

थी और बाहुबली की बहन थी, तथापि उसका भरत के साथ विवाह न करने का कारण—एक तो बाहुबली का विरोध और दूसरा पिता के द्वारा विवाह की व्यवस्था बदल देना है; क्योंकि सुन्दरी और ब्राह्मी के जीवन में पिता की अधिक छाप थी। पिता विवाह बंधन को भाई-बहन के बीच से उठा कर विस्तृत करना चाहते थे। सुन्दरी और ब्राह्मी को इसी नई व्यवस्था का पालन करना था।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि अभी तक विवाह-प्रणाली बाल्यावस्था में थी, उसका समुचित विकास नहीं हो पाया था। सम्भव है अन्य कुलोत्पन्न, योग्य वर मिलना कठिन हो और अपनी सहोदरा को छोड़ अन्य लड़की को स्वीकार करने की रीति समाज में अप्रचलित हो और दूसरी लड़की से विवाह करना असंगत प्रतीत होता हो।

कुछ भी हो, ब्राह्मी और सुन्दरी प्रातः स्मरणीय पात्र हैं। उनमें सौंदर्य था पर निश्छल था, उनका रूप वासना के बन्धन से मुक्त था, उनकी कांति क्रांति थी, इसीसे वे सफल हुईं।

आदि-युग

(द्वितीय पर्व)

२० तीर्थंकर

ऋषभदेव के पश्चात्—

भगवान् ऋषभदेव के पश्चात् २० तीर्थंकरों का समय संभव है, बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा हो। लेकिन इनका इतिहास संक्षिप्त है, और नाम निर्देश तक सीमित किया जा सकता है अथवा कुछ कहानियों तक ही अवशेष हैं, जिसे तालिका के द्वारा हम इस प्रकार रख सकते हैं—

नाम	पिता	माता	स्थान
१. अजित	जितशत्रु	विजयादेवी	अयोध्या
२. संभव	जितार्थराजा	सैन्या देवी	श्रावस्ती
३. अभिनन्दन	संवर राजा	सिद्धार्थरानी	विनीता
४. सुमति	मेघरथराजा	सुमंगला	कुशलपुरी
५. पद्मप्रभु	धर राजा	सुतिया	कौशाम्बी
६. सुपार्श्वनाथ	प्रतिष्ठेन	पृथ्वी	काशी
७. चन्द्रप्रभु	महासेन	लक्ष्मी	चन्द्पुरी
८. सुविधि	सुग्रीव	रामादेवी	काकंदी

नाम	पिता	माता	स्थान
९. शीतल	हठरथ	नंदाराणी	भद्दिलपुर
१०. श्रेयांस	विष्णुसेन	विष्णुदेवी	सींगपुर
११. वासुपूज्य	वसूपूज्य	जयादेवी	चंपापुरी
१२. विमलनाथ	कर्त्रिवरम	श्यामा	कंपिलपुर
१३. अनंतनाथ	सिंहसेन	सुयशा	अयोध्या
१४. धर्मनाथ	भानुराजा	सुव्रता	रतनपुर
१५. शांतिनाथ	विश्वसेन	अचिराराणी	हस्तीनापुर
१६. कुंथुनाथ	सुदर्शन राजा	श्रीदेवी	हस्तीनापुर
१७. अरनाथ	सुदर्शन राजा	श्रीदेवी	हस्तीनापुर
१८. मल्लीनाथ	कुंभ राजा	प्रभादेवी	मिथीलानगरी
१९. मुनि सुव्रत	भिन्न राजा	पद्मावती	राजगृही
२०. नमीनाथ	विजय सेन	वप्रा	मिथीलानगरी (मथुरा)

शांतिनाथ का शांति सन्देश—

जैनधर्म के इन २० तीर्थंकरों के वर्णन में श्री शांतिनाथ विश्वशांति का एक अमर संदेश दे गए हैं। श्री मल्लिनाथ लिंग से स्त्री थे। किन्तु स्त्रियां भी तीर्थंकर हो सकती हैं, इस तथ्य का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं।

विश्व के समस्त धर्मों में मल्लिनाथ की घटना विस्मयकारी है। प्राचीनतम आर्यावर्त में नारी को कितना उच्च स्थान मिला, मल्लिनाथ इसके प्रमाण हैं। सत्य है, नारी आद्यशक्ति है। उसे

दलित बनाकर नहीं रखा जा सकता। मरुदेवी का केवलज्ञान और भक्ति मल्लि कुमारी का तीर्थंकरत्व प्राचीन भारत के प्रचण्ड नारीत्व की कोमल कहानी है। बीसवें भगवान मुनिसुव्रत के युग में राम और लक्ष्मण सरीखे पवित्र पुरुष हुए, जिन्होंने अपने प्रत्येक क्षेत्र में निर्मल व्रतों का पालन करके भगवान् के नाम को सार्थक किया।

आदि-युग

(तृतीय पर्व—प्रकरण–१)

ऐतिहासिक अरिष्टनेमि

ऐतिहासिकता—

२४ तीर्थंकरों में नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर तो आज के इतिहासज्ञों की निरन्तर शोध के प्रमाण रूप में तीर्थंकर ही नहीं, ऐतिहासिक महापुरुष भी माने जा चुके हैं।

अरिष्टनेमि–

इतिहास की भाषा में अरिष्टनेमि जैनधर्म के पहले तीर्थंकर हैं, जिनके अस्तित्व को स्वयं इतिहास स्वीकार कर चुका है।

वैदिक उल्लेख–

डाक्टर राधाकृष्णन् यजुर्वेद में भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शन करते हैं।

"स नेमिराजा परियाति विद्वान्, प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मै स्वाहाः।" अथ० १६ मं० २५

वे नेमिनाथ भगवान् प्रजा को पोषण दें और हमारा कल्याण करें।

वृहदारण्यक और सामवेद में भी उनके नाम तथा स्तुति के मंत्र प्राप्त होते हैं।

अन्य प्रमाण—

भगवान् अरिष्टनेमि के विषय में श्री हरिसत्य भट्टाचार्य एम० ए० वैदिक विद्वान् ने "भगवान् अरिष्टनेमि" नामक पुस्तक लिखी है, उनका कहना है—यदि महाभारत के प्रमुख पुरुष श्रीकृष्ण इतिहास की भाषा में अस्तित्व रखते हैं, तो उनके चचेरे भाई परम दयालु भगवान् नेमिनाथ को कौन सहृदय ऐतिहासिक विभूति न मानेगा, जिनके निर्वाण-स्थल रूप में उर्जयन्त गिरि पूजा जाता है।

अरिष्टनेमि के विषय में प्रचुर प्रमाण मिलने पर भी, उनका गीता आदि प्रमुख वैदिक ग्रन्थों में परिचय तक न दिया गया है। यद्यपि कृष्ण को वैदिक धारा के एक प्रमुख प्रवर्तक के रूप में स्थापित किया गया है, किन्तु नेमिनाथ को कहीं स्थान नहीं दिया गया।

जैन-शास्त्रों में उनका सन्तोषप्रद परिचय प्राप्त होता है।

जीवन-वृत्त

वसुदेव के पुत्र कृष्ण और उनके बड़े भाई समुद्रविजय के पुत्र अरिष्टनेमि थे। इनकी माता का नाम शिवा देवी था। यादव-वंश-विभूति श्री नेमिनाथ बाल्यकाल से ही विरक्त आत्मा थे। उनका समय जैन-शास्त्रों के आधार पर छियासी हजार वर्ष ठहरता है और वैदिक शास्त्रों के अनुसार पांच हजार वर्ष का है। उत्तराध्ययन सूत्र में अरिष्टनेमि का आगमिक वर्णन स्पष्ट प्राप्त होता है। —२२ वां अध्याय।

पं० सुखलाल जी संघवी की सम्मति में ५ हजार वर्ष अधिक संगत ठहरते हैं, किन्तु जैनधर्म की मान्यता ऐसी नहीं है, यह विषय विवादास्पद है। युवा होने पर श्री कृष्ण उनकी शादी कर देना चाहते थे। यादववंशीय मथुराधिपति उग्रसेन महाराज की पुत्री राजमती से उनकी सगाई कर दी गई। उस समय नेमिनाथ द्वारका में रहा करते थे। विवाह का समय आया, बारात चढ़ी और मथुरा पहुंची, किन्तु लग्न-स्थल पर वध के लिए एकत्र किए गए पशुओं को देखकर नेमिनाथ के मन में अपार करुणा उमड़ आई। जैन-शास्त्र उत्तराध्ययन में भगवान् नेमिनाथ की उस अनन्त करुणा का सुन्दर वर्णन किया गया है। मथुरा पहुंचने पर भगवान् के सारथी ने कहा—हे भगवान्, आपके विवाह में आए अतिथियोंके भोजन के लिए इन पिंजरों और बाड़ों में ये पशु बन्द किये गये हैं।

भगवान् बोले—ये सुखाकांक्षी जीव मेरे विवाहार्थ वध किए जायेंगे तो बहुत बुरा होगा।

इस प्रकार भगवान् का तन, मन अनुकम्पा से भर आया। तब उन पशुओं की रक्षाके लिए उन्होंने अपने लग्नको तिलांजलि दे दी। तत्पश्चात् तीर्थंकर योग्य यथाविधि दानादि व्यवहार पूर्ण करके दीक्षित हो गए।

राजमती (राजीमती) को भी वैराग्य उत्पन्न हुआ। वे साध्वी बनी, उन्होंने रथनेमि के चपल मन को उपदेश देकर स्थिति प्रदान की।

रथनेमि वन में राजीमती के रूप पर मुग्ध हो गया था, किन्तु साध्वी स्त्री अपनी मृदु फटकार से किस प्रकार कामान्ध पुरुष को सद्मार्ग दिखा सकती है, यह ज्ञान हमें राजीमती के आदर्श से प्राप्त होता है।

अन्त में वे भगवान् नेमिनाथ के समान संघ-व्यवस्था तथा मुमुक्षु आत्माओं का कल्याण करती हुई मोक्ष पद को प्राप्त हुई।

पं० सुखलाल जी ने भगवान् अरिष्टनेमि को पशु-संरक्षक के रूप में चित्रित किया है। उनका ख्याल है कि नेमिनाथ के जीवन के अध्ययन के बिना कृष्ण-चरित्र का अध्ययन अधूरा है। कर्मयोग यदि कृष्ण की विरासत है तो त्याग-मार्ग भगवान् अरिष्टनेमि की देन है।

पशु-संरक्षण—

गौ-सेवा भारतीय आदर्श है पर पशु-संरक्षण हमारा परम धर्म बताया है। यह शिक्षा हमें इन दोनों महापुरुषों से प्राप्त होती है। गौ-संरक्षण भारतीय संस्कृति का परम धर्म है। उसकी रक्षा नैतिक, कर्त्तव्यनिष्ठ और सैद्धान्तिक तरीके से की गई है, लेकिन समस्त पशुजाति का संरक्षण तो जीव-वर्ग में अभिन्न आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार के लिए और परम धर्म की उपासना के लिए ही किया जाता है, जैनशास्त्रों में अनुकम्पा और दया को तथा प्राणि-संरक्षण को सर्वाधिक श्रेष्ठतम धर्म बतलाया है। मेघरथ राजा, मेघकुमार, अरिष्टनेमि तथा भगवान् महावीर

प्राणिरक्षा के ज्वलंत उदाहरण हैं। जीव-रक्षण जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है।

अरिष्टनेमि के समय का समाज—

कृष्ण के छोटे भाई गजकुमार की सगाई, सोमिल ब्राह्मण की कन्या के साथ होना सूचित करता है कि उस समय जाति-व्यवस्था उतनी अनिष्टकर बंधन नहीं थी जितनी आज। अन्त-र्जातीय लग्न होते थे और उनमें कोई नई बात नहीं मानी जाती थी।

नेमिनाथ भगवान् का राजीमती से विवाह होना प्रमाणित करता है कि अभी तक सगोत्र विवाह होते थे। क्योंकि उग्रसेन तीसरी पीढ़ी में तो एक ही पूर्वज के वंशज थे और राजीमती कुल की दृष्टि से नेमिनाथ की बहन थी, जिसका विवाह भगवान् नेमिनाथ के साथ होने जा रहा था।

इसीसे ज्ञात होता है कि मनुष्य ने कौटुम्बिक जातिगत तथा समाजगत विकास शनैः शनैः किया।

भगवान् अरिष्टनेमि युगपुरुष थे, उनके समय में जैन-संघ किस रूप में था, पश्चात् संघ की किस प्रकार प्रगति हुई और वह भगवान् अरिष्टनेमि की विरासत भगवान् पार्श्वनाथ तक किस रूप में आई, इसका वर्णन क्रमशः किसी शास्त्र में देखने को नहीं मिला। पं० सुखलाल जी की मान्यता है कि गुजरात और काठियावाड़ में पशु-संरक्षण के भाव सर्वाधिक पाए जाते हैं—यह अरिष्टनेमि की विरासत है। मैं पशु-संरक्षण का प्रारम्भ

तथा सक्रिय 'जीव-वध रोक' भावना का श्रीगणेश भगवान अरिष्टनेमि से ही मानता हूं। भगवान् कृष्ण, जहां गौरक्षण का आंदोलन उठा रहे थे, वहां उनके चचेरे भाई नेमिनाथ समस्त प्राणिमात्र संरक्षण के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति से प्रचार कर रहे थे। कदाचित् इस भावना का बल, उन्हें अपने विवाह-भोज के निमित्त एकत्र किए गए, पशुओं को देखकर ही मिला हो। तथापि, इस जीवरक्षण परम्परा के पीछे अरिष्टनेमि और उनका अमोघ त्याग था। जीवन का उत्सर्ग था। वे दया की साकार प्रतिमा थे और करुणा के अवतार थे। आज भी अपेक्षाकृत समूचे राष्ट्र से, सौराष्ट्र प्रदेश में जो अरिष्टनेमि की निर्वाण-भूमि है, स्थानीय जनता में पशुदया के भाव सर्वाधिक पाए जाते हैं। इसका कारण भी अन्ततः भगवान् नेमिनाथ का पशुओं के प्रति अतिशयित प्रेम ही है।

भगवान् के पशु-संरक्षण आन्दोलन का इतिहास, आज क्रमिक परम्परा के अनुसार प्राप्त नहीं होता है, तो भी पशुओं के प्रति सामूहिक दया भावना के प्रेरक भगवान् अरिष्टनेमि ही सबसे अधिक थे।

भगवान् पार्श्वनाथ

महत्त्व एवं ऐतिहासिकता

भगवान् पार्श्वनाथ जैनधर्म की परम्परा में ही नहीं, अपितु ऐतिहासिकों की दृष्टि से भी एक महान् ऐतिहासिक महापुरुष हो चुके हैं। धर्मानन्द कौशाम्बी जी ने भगवान् पार्श्वनाथ पर "पार्श्वनाथा चा चारयाम"—नामक पुस्तक लिख कर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई है। डा० हर्मन याकोबी भगवान् पार्श्वनाथ को भारत की अहिंसक क्रांति के सर्वप्रथम सफल प्रणेता सिद्ध करते हैं।

सामाजिक अहिंसा के महानतम प्रणेता—

कौशाम्बी जी ने "भारतीय संस्कृति और अहिंसा" में भगवान् पार्श्वनाथ को अहिंसा के महानतम रक्षक एवं सर्वप्रथम सामाजिक अहिंसा के प्रणेता के रूप में स्वीकार किया है। यह बात जैनधर्म के अनुकूल नहीं है कि अहिंसा के व्याख्याकार पहले पहल भगवान् पार्श्वनाथ थे, किन्तु कौशाम्बी जी की ऐसी भावना है। वे आगे चलकर यह भी सिद्ध करते हैं कि भगवान् बुद्ध ने भी भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा से ही अहिंसा सीखी थी और उसी चार याम अहिंसा को पांच शील के नाम से विख्यात कर दिया अथवा उसका नाम "अष्टांगयोग" रख दिया।

भगवान् पार्श्वनाथ इतने प्राचीन नहीं है, तथापि उनके समकालीन रचित साहित्य में उनका नाम आदरपूर्वक लिया गया है।

............यजुर्वेद में लिखा है।

को सासार मिद्रं वृषभं वदन्ति

अम् नारमिद्रं हवे सुगतं,

सु पार्श्वमिन्द्र माहुरिति स्वाहाः।

इस मन्त्र में भगवान पार्श्वनाथ को इन्द्र के साथ उपमित करके स्तुति की गई है।

लेकिन, इस प्रमाण में हमें सन्देह है कि यह मन्त्र भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति में आया है अथवा सुपार्श्वनाथ—सातवें तीर्थंकर की स्तुति में आया है, फिर भी इस पाठ से जैनधर्म की प्राचीनता तथा तीर्थंकर परम्परा का बोध तो होता ही है।

इसके अतिरिक्त डाक्टर याकोबी पार्श्वनाथ को—That Parswa was a historical person, is now admitted by all as very probable—कहकर उन्हें महान् ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार करते हैं। उनका समय विक्रम संवत् से ८०० पूर्व से ७२० वर्ष पूर्व तक ठहराया है और ई० सन् से ८१६ से ७१६ तक प्रमाणित होता है। काल-गणना के अनुसार भगवान् महावीर से भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण २५० वर्ष पूर्व हुआ। इस हिसाब के ऊपर निर्दिष्ट वर्ष ही ठीक ठहरते हैं।

जीवन-वृत—माता-पिता

जन्म-स्थान—

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म-धाम पुण्यभूमि बनारस है। है। उनके पिता राजा अश्वसेन थे और माता वामादेवी थीं।

जैनशास्त्रों में तथा श्री कल्पसूत्र में, श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन वर्णन किया गया है। उसमें विशेषकर पूर्व भवों का वर्णन और कमठ का बैर ही मुख्य घटनाएं हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ ने अरिष्टनेमि की परम्परा को पुनः प्राणवान् बनाया, पशु-संरक्षण की ओर ध्यान दिया। मनुष्य जाति के हित के लिए पशु-संरक्षण और जीव-दया की कितनी आवश्यकता है, यह पार्श्वनाथ ने बतलाया है। दया और विवेक के बिना जप-तप सब कोरा अज्ञान है। कमठ की कहानी में यही एक मुख्य तत्त्व है, जिसे हम प्राणि दया कहते हैं।

कमठ को दिशा-दान—

कमठ पंचाग्नि तप करता है। पार्श्वनाथ और उनकी माता वामादेवी उसे देखने जाते हैं। पार्श्वनाथ पशु-दया की ओर उसका ध्यान खींचते हैं और कहते हैं कि तपस्वि! तू पंचाग्नि तप तो करता है, किन्तु यह नहीं देखता कि इन्हीं लकड़ियों में एक नाग-नागिन का जोड़ा भुना जा रहा है।

पार्श्वनाथ की इस बात से तपस्वी के मन में क्रोध उमड़ता है। पूछता है—कहां नाग-नागिन हैं?

पार्श्वनाथ उसी समय हाथी से नीचे उतर कर नाग के जोड़े को बचाते हैं। जनता में तपस्वी की अवहेलना होती है। क्रोधाभिभूत तपस्वी कमठ अपमान से आहत होकर प्राण त्याग कर देता है, देवता बनता है और भगवान् को नाना प्रकार के कष्ट देता है।

उपर्युक्त कथा शास्त्र में वर्णित है। इससे इतना तो फलित है होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ को पशु-संरक्षण परम्परा भगवान् अरिष्टनेमि से प्राप्त हो गई थी। वास्तव में वह संस्कारवश उत्पन्न हुई थी। भगवान् पार्श्वनाथ तीस वर्ष संसार में रहे। ७० वर्ष तक दीक्षा पर्याय का पालन किया। दीक्षा के बाद ८४ वें दिन उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

विहार भूमियां—

भगवान् पार्श्वनाथ ने साधु जीवन में साकेत, श्रावस्ति, कौशाम्बी, कम्पिलपुर, अहिछत्रा आदि स्थानोंमें विहार किया। उन्होंने चातुर्विध संघ की स्थापना की। उनके आठ प्रधान गणधर थे और पुष्पचूला नाम की भिक्षुणी संघ की अधिनायिका महासती थी।

१०० वर्षकी आयु पूर्ण कर भगवान् पार्श्वनाथ मोक्ष सिधारे।

भगवान् पार्श्वनाथ की विरासत पर जैनधर्म के समर्थ विद्वान पं० सुखलाल जी संघवी ने बहुत सुन्दर एवं सारगर्भित प्रकाश

डाला है। उनका ख्याल है कि भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा-गत देन तीन भागों में विभक्त की जा सकती है।

१—संघ २—आचार ३—श्रुत

पार्श्वनाथ की परम्परा—

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म काशी में हुआ था और उनका भ्रमण क्षेत्र उत्तर भारत ही अधिक रहा। उनकी शिष्य परम्परा पार्श्वापत्यिक नाम से प्रसिद्ध है। उनके विहार-क्षेत्र की परिसीमा जैन और बौद्ध ग्रन्थों में समान रूपसे मानी जाती है।

भगवान् महावीर को भगवान् पार्श्वनाथ के परम्परागत चतुर्विध संघ का सहयोग प्राप्त हुआ। इसके पुष्ट प्रमाण, जैन और बौद्ध शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

अंगुत्तर निकाय में, चतुष्क नियात वग्ग ५ में बताया गया है कि वप्प नाम का शाक्य श्रावक निर्ग्रन्थ था और इसी कथा में वप्प को गौतम बुद्ध का चाचा बतलाया गया है।

श्रावस्ती में, पार्श्वनाथ की परम्परा के एक निर्ग्रन्थ केशी ने प्रदेशी राजा तथा उसके सारथि को धर्मोपदेश दिया था। क्षत्रिय कुण्ड वाणिज्य ग्राम में पार्श्वापत्यिक वर्तमान थे। महावीर के नाना चेटक, नंदीवर्धन तथा पिता सिद्धार्थ, माता त्रिशला पार्श्वापत्यिक ही थे।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् पार्श्वनाथ, भगवान् महावीर स्वामी से पहले सुव्यवस्थित चतुर्विध संघ की

रचना कर गए थे, जिसका स्वरूप महावीर तक चला आ रहा था। भगवान् महावीर के चतुर्विध संघ के निर्माण में पार्श्वापत्यिकों से बड़ा सहयोग मिला। किन्तु मूलतः यह देन भगवान् पार्श्वनाथ की थी।

केशी कुमार और गौतम स्वामी का वार्तालाप–

हां, इतना तो स्पष्ट है कि भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के संघ-विधान में कुछ-कुछ अन्तर है, जिसका स्पष्टीकरण उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्याय में केशी गौतम संवाद से हो जाता है। केशी कुमार श्रमण भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा में सर्वमान्य आचार्य थे और इधर से गौतम स्वामी भगवान् महावीर स्वामी की परम्परा में प्रमुख प्रवक्ता थे। केशी कुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से मुख्यतया दो मतभेद विषयक प्रश्न किए दोनों प्रश्न सम्प्रदायगत थे।

भगवान् पार्श्वनाथ ने चार याम का उपदेश दिया जबकि वर्धमान, महावीर ने पांच याम—महाव्रत, का उपदेश दिया। इसमें क्या कारण है?

भगवान् पार्श्वनाथ के चारों यामों के नाम ये हैं।

१—सर्व प्राणातिपात,—विरमण

२—सर्व मृषावाद,—विरमण

३—सर्व अदत्तादान,—विरमण

४—सर्व बहिद्धादाण,—विरमण

बहिद्धादाणं शब्द का अर्थ परिग्रह किया गया है।

बहिद्धादाणाओति बहिद्धा मैथुनं परिग्रह विशेष, आदानं च परिग्रह स्तयो द्वंन्द्वे कत्वमथवा आदीयत इत्यादानं परिग्राह्‌ं वस्तु तच्च धर्मोपकरणमपि अवतीत्यत अहः बहिस्तात्, धर्मोपरणाद् बहिर्मद इति। इह च मैथुनं परिग्रहे अन्तर्भवन्ति, न ह्यपरिगृहीता योषिद् भुज्यते इति।

स्थानांग—२६६ सूत्र, वृत्ति, अभयदेव

और इसके अन्तर्गत अब्रह्मचर्य का भी समावेश था। पं० सुखलाल जी कृत पार्श्वनाथ की विरासत में ऐसा उल्लेख मिलता है।

उस समय की मनुष्य—सुलभ दुर्बलता के कारण अब्रह्म विरमण में शिथिलता आई और परिग्रह विरति के अर्थ में स्पष्टता करने की आवश्यकता अनुभव हुई, इसीलिए भगवान् महावीर ने अब्रह्म-विरमण को परिग्रह विरमण से अलग और स्वतंत्र रूप देकर पंच महाव्रतों की भीषण प्रतिज्ञा निर्ग्रन्थों के लिए रखी, यही उत्तर गौतम स्वामी ने केशी कुमार श्रमण के सम्मुख रखा था कि तात्विक दृष्टि से चार याम और पांच याम में कुछ भी अन्तर नहीं है। केवल वर्तमान की वक्र एवं जड़ बुद्धि देखकर शुद्धि के चार स्थान में पाँच महाव्रत का उपदेश दिया गया है।

इसीसे प्रसन्न होकर केशी कुमार श्रमण ने दूसरा प्रश्न पूछा कि भगवान् पार्श्वनाथ के साधु विविध रंगी तथा सचेलत्व के

विधान के अनुसार वस्त्र धारण करते हैं किन्तु महावीर के साधु अचेलत्व की ही प्रतिष्ठा करते हैं ? ऐसा क्यों ?

इसका उत्तर भी गौतम स्वामी ने इस प्रकार से दिया था कि केशी कुमार महाश्रमण, मोक्षप्राप्ति का वास्तविक कारण तो आन्तरिक ज्ञान, दर्शन तथा शुद्ध चारित्र्य ही है। वस्त्र का होना न होना लोक-दृष्टि है।

गौतम स्वामी का उत्तर सुनकर केशी कुमार महाश्रमण ने प्रसन्नता ही नहीं प्रकट की, अपितु महावीर के संघ में प्रविष्ट हुए।

पार्श्वापत्यिक दूसरे केशी कुमार—

केशी कुमार श्रमण मानवीय आत्मा के शोधक और मानव मन के जौहरी—पारखी थे। स्व-समय और पर-समय के अप्रति-हत—अचूक, विद्वान् थे। उनकी अकाट्य तर्क शैली और अगाध चिन्तन शक्ति अपराजेय थी। यही महात्मा थे, जिन्होंने श्वेताम्बिका नगरी के महापापी परदेसी राजा को धर्मावतार का स्वरूप प्रदान किया था

“राय प्रसेणी सूत्र” इस महात्मा के आंतरिक जीवन की साक्षात्कारमय वाणी है। पशु-रक्षा तथा प्राणि-दया के समस्त प्रचारकों और प्रसारकों में इनका नाम गौरव के साथ लिया जायेगा।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे

स्पष्ट होता है कि पार्श्वापत्यिक संघ द्वारा महावीर संघ का किस प्रकार विस्तार और प्रसार हुआ।

आचार की विरासत

पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थों के आचार के दो रूप हैं—बाह्य एवं आभ्यन्तर। अनगारत्व, निर्ग्रन्थत्व, सचेलत्व, शीत आतप, प्रभृति परिषह सहन आदि बाह्य एवं सामयिक, पच्चक्खाण, त्याग, संयम, इन्द्रिय नियमन, संवर, कषाय-निरोध, विवेश, अलिप्तता, उत्सर्ग, ममत्वत्याग, हिंसा असत्य, अदत्तादान और बहिद्धादाण से विरति-यह था आभ्यन्तर आचारमें सम्मिलित।

महावीर के पूर्व आचार-धर्म का पूर्ण विकास—

इस विवरण से हमें भलीभांति निश्चय हो जाता है कि भगवान् महावीर के युग से पहले ही आचार-धर्म का पूर्ण विकास हो गया था। जिसकी परम्परा का महावीर संघने उपयोग किया, क्योंकि पार्श्वापत्यिक आचार-धर्म में कुछ भी मौलिक अन्तर नहीं है, भले ही शाब्दिक अन्तर कुछ भी हो। और सुधार के द्वारा कितना ही विस्तार क्यों न कर दिया गया हो।

श्रुत एवं पूर्व—

निर्ग्रन्थ धर्म के व्याख्येय तथा प्रतिपादक ग्रंथों को श्रुत कहा गया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय—इस बात पर एक मत हैं कि निर्ग्रन्थ वाणी-द्वादशांगी रूप है। इस

बात का सबसे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि जहां जहां प्राचीनकाल के किसी साधु आदि के अध्ययनसे सम्बंधित प्रश्न छिड़ता है वहां द्वादशांगी वाणी का ही पढ़ने का उल्लेख मिलता है, अथवा चतुर्दश पूर्व।

भगवती और ज्ञाताधर्म कथांग में पाण्डवों के १४ पूर्व पढ़ने का उल्लेख किया गया है। वहां पंडित सुखलाल जी संघवी की सम्मति है कि पूर्वका अर्थ-पूर्व से प्राप्त आगम-ग्रंथ। उनकी मान्यता है कि भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा से प्राप्त आगमों को पूर्व कहा जाता है। उनके ही शब्दों में—

शास्त्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि आचारंग आदि ११ अंग-शास्त्रों की रचना महावीर के अनुगामी गणधरों ने की है। यद्यपि नन्दीसूत्र की पुरानी व्याख्या में, जो विक्रम की आठवीं सदी से अर्वाचीन नहीं है, उसमें पूर्व शब्द का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है कि महावीर ने प्रथम उपदेश दिया, इसलिए पूर्व कहलाए।

जह्मा तित्थंकरे तित्थपवत्तण काले गणधराण सव्व सुत्ता-धारणत्तो पुव्वं पुव्वगत सुतत्थं भासति, तम्हा पुव्वं ति भणित्ता, गणधरा पुण सुतरयंग करेन्ता आयाराइ कमेण रएंति ठवेन्तिय:—

नंदी सूत्र, चूर्णी, पृ० २११ (विजयानंद संशोधित)

इसी तरह विक्रम की नववीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य वीरसेन ने धवला में पूर्वगत का अर्थ बतलाते हुए कहा कि जो पूर्वो को प्राप्त हो वह पूर्वगता परन्तु चूर्णीकार एवं उत्तरकालीन

वीरसेन, हरिभद्र, मलयगिरि आदि व्याख्याकारों का वह कथन पूर्व और केवल पूर्व–गत पुव्वाणगमं पुत्तपुव्वसरूवं वा पुव्वगया-मदं गणणामं।

खट् खण्डागम (धवला टीका) पु० १, पृ० ११४

शब्द का अर्थ घटना करने के अभिप्राय से हुआ जान पड़ता है। जब भगवती में कई जगह महावीर के मुख से यह कहलाया गया है कि अमुक वस्तु पुरुषादानीय पार्श्वनाथ ने कही है, जिसको मैं भी कहता हूँ और जब हम सारे श्वेताम्बर दिगम्बर श्रुत के द्वारा भी देखते हैं कि महावीर का तत्वज्ञान वही है जो पार्श्वापात्यिक परम्परा से चला आता है। तब हमें पूर्व शब्द का अर्थ समझने में दिक्कत नहीं आती। पूर्व श्रुत का स्पष्टतः यही है कि जो किसी न किसी रूप में महावीर को भी प्राप्त हुआ है (देखिए, पार्श्वनाथ की विरासत, पं० सुखलाल जी कृत, पृ० १५७)

पूर्व शब्द के अपने अभीष्ट अर्थ की पुष्टि के लिए वे तो प्रो० हर्मन याकोबी का भी समर्थन प्रदान करते हैं और आगे चल-कर इस विषय की ओर भी व्याख्या करते हैं—जैन श्रुत के मुख्य विषय नव तत्व, पंच अस्तिकाय आत्मा और कर्म का सम्बन्ध, उसके कारण, उसकी निवृत्ति के उपाय कर्म का स्वरूप इत्यादि है।

इन्हीं विषयों को महावीर और उनके शिष्यों ने संक्षेप से विस्तार और विस्तार से संक्षेप कर भले ही कहा है, पर वे सब

विषय पार्श्वापत्यिक परम्परा के पूर्ववर्ती श्रुत में किसी न किसी रूप में निरूपित थे। इस विषय में कोई सन्देह नहीं है। अन्त में निष्कर्ष के रूप में पंडित जी लिखते हैं कि—

१. पार्श्वापत्यिक परम्परा का पूर्व श्रुत महावीर को किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। उसी में प्रतिपादित विषयों पर ही उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुसार आचारांग आदि ग्रन्थों की जुदे-जुदे रूप से रचना की।

मेरी सम्मति में पंडित जी का यह पूर्व सम्बन्धी तथा श्रुत सम्बन्धी मत भ्रमपूर्ण तथा अयुक्तिक है। यदि पूर्व का अर्थ परम्परागत ही होता तो आयुष् सम्बन्धी पूर्व की सीमा-रेखा का वह क्या अर्थ करेंगे? भगवान् ऋषभदेव का ८४ लाख पूर्व का आयुष् कहा गया है तो यहां पर पूर्व का कौनसा अर्थ करेंगे।

पार्श्वापत्यिक परम्परा का प्रवाह—

दूसरी बात, यदि भगवान् महावीर को पूर्व तथा श्रुत विरासत के रूप में बने बनाए प्राप्त होते तो क्या कारण था कि भगवान् महावीर ने अपने मुख से यह स्वीकार नहीं किया—हे गौतम! पुरुषादरणीय पार्श्वनाथ से ही मुझे पूर्व-परम्परा प्राप्त हुई है।

पार्श्वनाथ की विरासत में देखिए पृष्ठ १४३ पर। पंडित जी का खयाल है कि:—

भगवान् महावीर तत्कालीन पार्श्वापत्यिक परम्परा में ही हुए। इसी कारण से उनको पार्श्वनाथ के परम्परागत संघ, पार्श्व-

नाथ के परम्परागत आचार-विचार तथा पार्श्वनाथ का परम्परागत श्रुत विरासत में मिले, जिसका समर्थन नीचे लिखे प्रमाणों से होता है।

कालासवेसी राजागृही में भगवान् को मिलने वाले थे तथा वाणिज्य ग्राम में मिलने वाले गांगेय ऊनगार।

(१. भगवती १-६-७६ (२) भगवती ५-६-२२६ (३) भगवती ६-३२-३७८)

पार्श्वापत्यिक भगवान् महावीर से क्रमशः सामयिक, लोक-स्वरूप तथा जीवों की उत्पत्ति-च्युति आदि के बारे में प्रश्न करते हैं और सर्वज्ञता के विषय में प्रतीति पूर्ण करके महावीर के संघ में प्रविष्ट हो जाते हैं। यदि उन्हें इस बात का ध्यान हो जाता कि महावीर को परम्परा से पार्श्वनाथीय पूर्व प्राप्त हुए हैं तो उन्हें महावीर की सर्वज्ञता का बोध न होकर, अपितु, पार्श्वापत्यिक परम्परा के ही एक अनुयायी के रूप में उन्हें बोध होता।

मैं नहीं समझता कि पंडित जी को महावीर की सर्वज्ञता से क्यों विरोध है, यदि वे सचाई से अपनी बात स्पष्ट करके लिखते तो उन्हें यही स्पष्ट करना होता कि महावीर को तो सब कुछ पार्श्व-परम्परा से प्राप्त हुआ था। वे कोई स्वयं सर्वज्ञ और पूर्ण ज्ञाता नहीं थे।

यद्यपि सर्वज्ञ शब्द का यहां अर्थ आध्यात्मिक साधना द्वारा प्राप्त केवलज्ञान से है। और यह एक दृढ़ विश्वास की बात है

कि भगवान् महावीर पूर्णतः आत्मदर्शी तथा केवल-ज्ञानी थे। उन्हें पार्श्वनाथ की परम्परा से यद्यपि आचार-विचार तथा श्रुत परम्परा का चाहे कितना ही सहयोग क्यों न मिला हो, उन्होंने तो अपने पुरुषार्थ से उस समस्त तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार किया था। यदि बुद्ध को भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा से अहिंसादि चार याम की शिक्षा प्राप्त हुई थी (इसके लिए विशेष जानकारी के लिए, देखिए प्रमाण में "पार्श्वनाथाचा चार याम" तथा "भारतीय संस्कृति व अहिंसा" (लेखक धर्मानंद कौशाम्बी) तो भगवान् महावीर को भी किसी पार्श्वापत्यिक श्रमण से यह ज्ञान-राशि परम्परा में मिली होती थी, इस बात का आगम में कहीं न कहीं प्रमाण उपलब्ध होता ही, लेकिन ऐसा एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

हां, यह कहना ठीक है कि महावीर का कुल पार्श्वापत्यिक था, किन्तु उन्हें किसी श्रमण से दीक्षा से प्रथम मेल अथवा ज्ञान प्राप्त हुआ हो, ऐसा भी एक प्रमाण बौद्ध, वैदिक अथवा जैन-आगमों में प्राप्त नहीं होता।

पंडित सुखलाल जी ने जो वीरसेन आचार्य का उल्लेख किया है और पूर्वगत एक अभिनव अर्थ बताया है, किन्तु उससे भी पंडित जी के अर्थ की कुछ सिद्धि नहीं होती है। दिगम्बर-परम्परा भी पंडित जी के अर्थ से सहमत नहीं है।

पिछले २५०० वर्षों से जन्मे आचार्यों और श्रुतधरों की बात से पंडित जी का कथन नहीं मिलता। पंडित जी ने अपने

मत की पुष्टि के लिए व्यर्थ की खींचातानी से काम लिया है। अन्त में, मेरा कहना है कि आखिर इस प्रकार के तर्क-वितर्क उठाने से क्या लाभ है? उसी शोध से समाज को लाभ हो सकता है, जो यथार्थ में प्रमाणपूर्ण हो और जिसमें लोकहित निहित हो।

पार्श्वनाथ की श्रद्धा—

भगवान् पार्श्वनाथ ने भारत में अहिंसा का बहुत ही विस्तृत प्रचार एवं प्रसार किया है। उन्होंने आचार, श्रुत तथा संघ की व्यवस्था का सुन्दर स्वरूप प्रतिष्ठित किया है। भगवान् महावीर ने आचार, श्रुत तथा संघ का व्यवस्था-कार्य अलग ढंग से किया है।

ऐतिहासिकों को भगवान् पार्श्वनाथ पर अत्यधिक ऐतिहासिक श्रद्धा है। यह हर्ष का विषय है।

भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति मानव समाज चिर कृतज्ञ है। वे २३ वें महापुरुष थे। अहिंसा के विकास में उन्होंने महान् योग दिया है। इस योग के फलस्वरूप महावीर-संघ को असीम सहयोग हुआ है। स्वयं भगवान् महावीर ने उनका स्तुति-गान किया है। कम से कम हमें २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का नाम बताने वाले तो महावीर ही थे।

जब तक "अहिंसा" का नाम रहेगा, तब तक अहिंसा की शोध में लगे सच्चे ऐतिहासिकों को भगवान् पार्श्वनाथ का नाम अत्यधिक आदरणीय रहेगा।

भगवान् पार्श्वनाथ इतिहास के ज्वलंत व्यक्ति थे। बंगाल की अनार्य-प्रजा को आर्हती पाठ पढ़ाने वाले पार्श्वनाथ को कौन भूल सकता है? आज भी मानभूम, सिंहभूम, लोहदुर्ग आदि जिलों की सराक (श्रावक) जनता उन्हें अपना उपास्य मानकर, आराधना करती है। बंगाल तथा बंगाल की आदि-वासी जातियां भगवान् पार्श्वनाथ को किसी न किसी रूप में इष्ट मानकर उनके बताए मार्ग पर चलती हैं।

बंगाल के वीरभूम और बांकुड़ा जिलों की वनवासी जातियां पार्श्वनाथ की उपासक हैं। पार्श्वनाथ की निर्वाण भूमि—पारस-नाथ पहाड़ी को—बंगाल की संथाल जातियां भारगंवुरू (पहाड़ का देवता) रूप में पूज्य मानकर उपासना करती हैं। पश्चिम बंगाल में भी पार्श्वनाथ की उपासना होने के अनेक प्रमाण मिले हैं, जिनमें पारसनाथ नामक स्टेशन उनका सदैव स्मरण दिलाता ही रहेगा।

महावीर युग

(प्रथम खण्ड)

आदि-युग के पश्चात् महावीर युग का समय प्रारम्भ होता है। भगवान् महावीर जैनधर्म के २४ वें तीर्थंकर थे।

महावीर युग और तत्कालीन सामाजिक जीवन—

उनके समय में समाज की क्या अवस्था थी? उसकी रचना और स्वरूप किस ढंग पर हुआ था? उस काल में, राज्य-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था, सम्प्रदायवाद, वितण्डावाद, यज्ञवाद, चर्चावाद आदि कितना बल पकड़ गये थे? भारत की तत्कालीन सामाजिक स्थिति कैसी थी? महावीर के प्रादुर्भाव से पूर्व भारत की स्थिति क्या थी? महावीर का जन्म, जीवन, सुधार-कार्य, संघ-रचना, गणधरवाद तथा उनके निर्वाण के अनन्तर जैन-परम्परा की मन्थर गति, जैन राज्यों का निर्बल होना, आगमों की चर्चा का प्रारम्भ और अन्त में आगमों के निमित्त बनी पृष्ठ-भूमिका और भद्रबाहु युग का उद्भव आदि बातों का इस महावीर-युग में समावेश होगा।

भारत की प्राक्कालीन परिस्थिति

महावीर के प्रादुर्भाव से पूर्व भारत की परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय थी।

वर्णाश्रम का दुष्प्रभाव—

वास्तव में देखा जाय, तो इस त्रयताप-तापित संसार की अवस्था किसी भी समय में विकासोन्मुख न रही है। यद्यपि तारतम्य के आधार पर, ह्रास-विकास का उत्तोलन अवश्य होता रहा है। देश की शोचनीय अवस्था सूचन का तात्पर्य इतना ही है कि जनता का पथ-प्रदर्शन करनेवाला सशक्त नेतृत्व उस समय नहीं था। भगवान् पार्श्वनाथ की २५० वर्ष पुरानी परम्परा अध्यात्म-प्रधान अधिक थी। उसमें लोक संतुलन बनाए रखने की क्षमता नहीं थी। न उसके पास यज्ञवादियों की अकथनीय हिंसा का विरोध करने के लिए कोई सुसंगठित आंदोलन ही था। यही कारण है कि ब्राह्मणों का जात्याभिमान देश पर शासन कर रहा था। यज्ञ-हिंसा मोक्ष तथा स्वर्ग का द्वार प्रशस्त करने वाली मान ली गई थी। उस काल में तीन वर्णों को ही यज्ञ करने का अधिकार था। सामंतशाही अपनी समस्त शक्ति से जनता को रौंद रही थी। भोग-लोलुप श्रेष्ठि और सामन्त अनेक स्त्रियों से विवाह करते थे, और यह पाप के स्थान पर परम पुण्य का प्रतीक माना जाता था। गुण पूजा के स्थान पर व्यक्ति के पद की पूजा, सत्ता-पूजा, अर्थ-पूजा और पाखण्ड पूजा बढ़ रही है।

ब्रह्मचर्य की जगह भोग ने ले ली थी। त्याग की जगह ढोंग प्रतिष्ठित था। संतोष की जगह लोभ-लालच बिलबिला रहे थे। समाज और राष्ट्र पतन की खाई में गहरा पड़ा था। उसे परम

तपस्वी नेता की आवश्यकता थी। उसे उद्धारक की जरूरत थी, वह अपने मसीहा को ढूंढ़ने का प्रयत्न कर रहा था।

आचार धर्म और जाति का अधोपतन—

उच्च वर्गों के अत्याचारों का घड़ा भर गया था। पंडित ब्राह्मण वर्ग ने धार्मिक अधिकार एवं अनुष्ठान अपने हाथ में रख लिए थे। व्यवस्था ऐसी बना दी थी कि मनुष्य और देवों का सीधा सम्पर्क नहीं हो सकता था, बीचमें दलालोंकी जरूरत थी, पुरोहित इस कार्य को पूरा कर रहे थे। वे स्वर्ग और देवत्व के टिकट बांटते थे।

इस काल में मनुष्य जाति की एकता और समता के बजाय ऊंच-नींच भावना की नींव पर जातिवाद का भूत खड़ा कर दिया था और समाज के ही एक अंग शूद्र को, धर्म के पुण्य प्रभाव से परे कर दिया था। यह व्यक्ति और वर्ग की घोर स्वार्थपरता का युग था। शोषण, हिंसा व्यभिचार और अनाचार का कुटिल काल था, ऐसे समय भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

समाज की सृष्टि में ही अधःपतन नहीं हो रहा था, वरन् गणराज्यों के स्थान में भी व्यक्तिगत स्वार्थों ने आगे आकर वैयक्तिक राज्यों की स्थापना का श्रीगणेश कर दिया था। व्यक्तिगत राज्य की प्रतिष्ठा ने राज्यों में परस्पर हिंसा की होली सुलगा दी थी। विद्वेष अहंकार, शत्रुता और शंका का वातावरण पनप रहा था। आदमी आदमी का दुश्मन था और

अपने हाथों अपनी भस्म बना देने को आकुल-व्याकुल था। वह जीवन का नहीं, मौत का खेल, खेल रहा था।

धार्मिक क्षेत्रों में जितना सुख था वह सब मृत्यु के उपरान्त की अवस्था में केन्द्रित कर दिया गया था। स्वर्ग की कुंजी यज्ञ थी और यह कुंजी यज्ञकर्त्ता ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत से बंधी थी। धर्म की व्याख्या यही थी और इतना ही उसका स्वरूप था।

देश की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी, परन्तु उसका उपयोग—भोग में था, पारस्परिक द्वेष और युद्धों में था और एक दूसरे के विनाश के लिए रचित षड़यन्त्रों में था।

गणराज्य की परम्परा

उस काल की शासन-प्रणाली गणराज्य के आधार पर थी। इस प्रणाली का जन्म प्राचीन भारत में हुआ था। ऐतरेय ब्राह्मण और उपनिषद् के काल से ही गणराज्य प्रणाली का विकास हो चुका था।

यद्यपि प्रजातन्त्रीय व्यवस्था का अर्थ यह है कि राष्ट्र ही प्रत्येक जनसत्ता और सम्पदा का अधिकारी हो। उसको मत का अधिकार हो और उसके अधिकारों की रक्षा हो। जनता कल्याणकारी पथ पर अग्रसर हो—इस हेतुपूर्ति के लिए शासन सुविधाजनक व्यवस्था और अवस्था बनाए रखे।

ईसा मसीह के सात सौ वर्ष पूर्व के भारत में "गणराज्य" व्यवस्था की स्थापना हो चुकी थी।

ईसा-पूर्व के ५०० वर्ष से लेकर ४०० ईस्वी तक भारत के उत्तरी, पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी भाग में कई गणराज्य थे।

वैदिक साहित्य आदि विराट् के पश्चात् सभा अर्थात् गांवों की स्थानीय पंचायत का उल्लेख करते हैं। इन सभाओं का सदस्य सभ्य कहलाता था। कई सभाओं या पंचायतों के अध्यक्षों द्वारा समिति बनती थी। समिति सदस्य को समित्या कहते थे। समितियों से निर्वाचित सद्पुरुषों की सभा आमंत्रण सभा रूप में प्रसिद्ध थी। उसका सदस्य आमंत्रणीय कहलाता था। इस व्यवस्था में हमें राज-प्रमुख अथवा शासक राजा का नाम नहीं मिलता है।

लिच्छवी—

बौद्ध साहित्य के पाठक जानते हैं कि भगवान् बुद्ध ने लिच्छवी जनपद की कितनी प्रशंसा की है। यह लिच्छवी जनपद जैन धर्मावलम्बियों से भरा था। उस समय वैशाली लिच्छवियों की राजधानी थी। बुद्ध को अत्यन्त प्रिय थी वैशाली—(महावास्तु ग्रंथ में वैशाली का वर्णन आया है)। ललित विस्तार ग्रंथ में भी वैशाली का सुन्दर वर्णन है। तत्कालीन राज्य व्यवस्था, न्याय, शासन, प्रबन्ध आदि के स्वरूपों पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है। गणराज्य में आठ अथवा नव वंशों के सामन्तों ने सम्पूर्ण योग दिया था—सूत्र कृतांग में उनका उल्लेख मिलता है। नव मल्लई, नव लेच्छई, ज्ञात, कौरव,

लिच्छवी तथा उग्रवंशीय निर्वाचित प्रतिनिधि थे। इनके ऊपर सर्वाधिकार सम्पन्न गणपति रहता था। भगवान् महावीर के समय ऐसा गणपति महाराजा चेटक था। लिच्छवी गणराज्य अत्यन्त सबल, सुव्यवस्थित एवं सफल माना जाता था। इस गणराज्य की सीमा इस प्रकार थी—पूर्व में आरण्यक, पश्चिम में कौसल, दक्षिण में गंगा तथा मगध राज्य, उत्तर में हिमालय-प्रदेश।

उस समय पाटलीपुत्र का शासक, अजातशत्रु लिच्छवियों को पददलित करने का अभिलाषी था। महावीर से उसने पूछा था कि लिच्छवियों को विजित करने का उपाय बताइये। भगवान् महावीर; ऐसे राजनैतिक मामलों में मौन रहते थे, अतः उन्होंने कुछ उत्तर न दिया। तब अजातशत्रु जैन से अजैन हो गया यानी बौद्ध बन गया और महात्मा बुद्ध से उसने उपाय जाना। लेकिन लिच्छवियों को जीतना आसान काम न था। उनकी व्यवस्थित प्रजातंत्र-पद्धति, उनकी नीति-परायणता, पारस्परिक एकता इतनी प्रबल थी कि अजातशत्रु को सफलता न मिली।

प्राचीन कुलों की विजय एवं पराजय के कारण—

बुद्ध ने बताया था कि जब तक लिच्छवी प्रजाजन अपने संस्थागार में एकत्र होकर मुक्त और पूर्ण मंत्रणा करते रहेंगे, तब तक वे संगठित एवं एकरूप रहेंगे, जबतक वे अपने संविधान के सनातन नियमों और आदेशों का अनुशासन मानेंगे, और

उनमें परिवर्तन न करेंगे, अरिहन्तों (तीर्थंकरों) का आदर करते रहेंगे, अपने से वृद्धों की आज्ञा का पालन करेंगे, संसार की कोई शक्ति उन्हें नष्ट नहीं कर सकेगी। तत्कालीन प्रजातंत्रों का वर्णन हमें जैन साहित्य में मिलता है। बौद्ध साहित्य में भी उनका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

ईसामसीह के २५० वर्ष पूर्व और उससे भी पहले के समय में शाक्य, मल्ल, लिच्छवी, विदेह, मग्ग, बुली, कोलिय, मौर्य नामक जाति सुसंगठित गणराज्य थे।

इनमें मल्ल, लिच्छवी, विदेह आदि मुख्यतया जैन प्रजातंत्र थे। शेष वैष्णवों और शाक्यवंशीय बौद्धों के थे। लिच्छवी प्रजातंत्र सबसे विशाल था, उसकी सीमा में सैकड़ों सुन्दर नगर थे।

विधान, धारासभा, राजा और प्रजा—

इन गणराज्यों की धारा सभाओं के सदस्यों की संख्या आज की धारा सभाओं की संख्या से कई गुना अधिक थी। अकेले लिच्छवी संस्थागार के सदस्यों की संख्या ७७०७ थी। यौधेयों की ५००० और इससे कुछ अधिक मालव गणराज्य की थी।

ये धारासभाएं केन्द्रीय मंत्रीमण्डल की रचना करती थी और राज्य के विविध प्रबन्धों के अतिरिक्त नीति-रीति का संचालन करती थीं। धारासभाओं में "कोरम" का नियम उस

काल में भी था। इन सभाओं में सभी व्यक्तियों और वर्गों का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व होता था।

जब जब प्रतिनिधित्व सदस्यों के स्वार्थों में तिरोहित हो जाता था, तब तब गणराज्य निर्बल हो जाते थे। लिच्छवियों के पतन का भी यही कारण था, उन लिच्छवियों को भी दुर्दिन देखना पड़ा जिनके लिए गौतम बुद्ध ने कहा था—"भिक्षुओं, यदि तुमने देवपुत्रों को नहीं देखा हो तो, इन आते हुए लिच्छवी कुमारों को देखो।" कालान्तर में लिच्छवी गणराज्य की धारा-सभाके सदस्य राजा कहलाए, वैशाली में ऐसे १ लाख ६८ हजार राजा थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रजातंत्रीय गणराज्यकी परम्परा भारत में नई नहीं है। वैदिक-काल से वह निरन्तर प्रवाहित रही और पिछले १५०० वर्षों में उसका लोप हुआ। गणराज्यों का आधुनिक रूप अवश्य नया है।

लेकिन, इस नए रूप की सबसे बड़ी कमजोरी है शासक व्यक्ति के षडयन्त्रकारी होने पर धारासभा को बन्दी बनाकर और सेना को अधिकार में लेकर तानाशाह बन बैठना। इस प्रकार की एकतंत्र प्रणाली की प्रस्थापना के दृष्टान्त कई मिलेंगे। किन्तु प्राचीन भारत में योरप की तरह प्रजातंत्र के गणराज्यों की हत्या नहीं हुई है।

प्रजातंत्रीय गणराज्य की महिमा—

प्रजातंत्रीय गणराज्यों की महिमा अवर्णनीय है। मनुष्य

सामाजिक विकासप्रणेता है। राजनैतिक और धार्मिक स्वतंत्रताएं प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होती हैं। स्वतंत्रता का अर्थ कोरी वैधानिक व्यवस्था नहीं, अपितु व्यक्ति और समाज की सार्वभौमिक उन्नति है। विधान को कार्यों में परिणत करवाते रहना शासन का उत्तरदायित्व है। जब यह उत्तरदायित्व न रहता है, प्रजातंत्र निर्बल पड़ जाता है और पीले पत्ते की तरह सड़ जाता है।

इसीलिए, कवीन्द्र रवीन्द्र के इन शब्दों में प्रजातन्त्र का सर्वोच्च रूप प्राप्त होता है।

"जहां मस्तिष्क भय रहित है, और सिर ऊँचा है, जहां ज्ञान मुक्त है, और मनुष्य के मध्य दीवारें नहीं, जहां शब्द सत्य की गहराई से आते हैं, मुक्ति के उस स्वर्ग लोक में, हे पिता! मेरे प्रिय देश का जागरण हो"।

गुप्त-काल में भी गणराज्यों का सुन्दर स्वरूप मिलता है। सिकन्दर के आक्रमण के समय कई गणराज्यों ने एकत्र होकर यूनानियों को आक्रान्त बनने का फल चखाया था। अनेक इतिहासकारों ने इन प्रेमियों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। उत्तरकाल में इन राज्यों में फूट बढ़ गई और कलह का परिणाम उन्हें भोगना पड़ा।

महावीर के माता-पिता

महावीर परिचय–

महावीर युग के महाराजा तथा गणराज्य के गणपति चेटक

की बहन थी, त्रिशला देवी। इनका विवाह क्षत्रियवंशीय क्षत्रिय सिद्धार्थ के साथ हुआ था। जैन-शास्त्रोंमें सिद्धत्थे खत्तिए अथवा सिद्धत्थे राया के नाम से महाराज सिद्धार्थ का उल्लेख किया गया है। यही सिद्धार्थ भगवान् महावीर के पिता थे और त्रिशला उनकी माता थी।

महाराजा सिद्धार्थ की राजधानी वैशाली (वर्तमान में जो पटना के निकट बसाढ़ है) क्षत्रिय कुण्डपुर थी। पास ही एक ब्राह्मण कुंड-ग्राम था, जिसमें वेदशास्त्र पारगामी पंडित ऋषभ-दत्त ब्राह्मण और देवा नन्दा ब्राह्मणी निवास करते थे। इस स्थल पर ऐतिहासिक और आगम-ग्रन्थों में उपलब्ध चरित्र ही मतभेद का कारण बन जाता है।

** गर्भहरण रहस्य–*

यह मतभेद इस प्रकार है कि आगम ग्रन्थ के अनुसार

---

* [पंडित सुखलाल जी संघवी इस गर्भ हरण घटना को एकदम असमीचीन बतलाते हैं। उनका कहना है कि मानव जाति ही नहीं, पशु-जाति के इतिहास में भी ऐसी घटना नहीं घटी है। जिसमें, एक संतान की दो जननी हों। लेकिन पंडित जी नहीं जानते कि जहां मानव जाति का भी पूरा इतिहास नहीं मिलता, वहां पशु जाति का इतिहास उन्होंने कैसे व कहां पढ़ लिया?

भगवान् महावीर की अवश्य दो माताएं थीं। एक त्रिशला

भगवान् महावीर पहले ब्राह्मण-कुंड-ग्रामवासी देवनन्दा ब्राह्मणी

थीं तथा दूसरी माता का उल्लेख स्वयं भगवान् ने भगवती सूत्र में किया है—'गौतम देवानन्दा' मेरी मां है। इसीसे इसके स्तन दूध से भर गए हैं और इसे रोमांच हो आया है।

महावीर के वास्तविक माता-पिता कौन थे, इस विषय में पंडित जी उद्घोषणा करते हैं।

महावीर की जननी तो ब्राह्मणी देवनन्दा ही है, क्षत्रियाणी त्रिशला नहीं है।

त्रिशला जननी तो नहीं है पर वह भगवान् को गोद लेने वाली या अपने महल में रखकर सम्वर्धन करने वाली माता अवश्य हैं।

तो फिर आगम ग्रन्थों में उल्लेख क्यों आया, उसका क्या समाधान है? इसका निर्णय देते हुए वे लिखते हैं—

पहला तो यह कि त्रिशला सिद्धार्थ की अन्यतम पत्नी होगी, जिसका अपना कोई और पुत्र नहीं था। नारी सुलभ पुत्र-पिपासा की पूर्ति उसने देवनन्दा के औरस पुत्र को अपना बनाकर ही की होगी।

महावीर की मनोदशा—

महावीर का रूपशील और स्वभाव इतना आकर्षक होना चाहिए कि त्रिशला ने अपने जीते जी उन्हें अपने वृत्ति के अनुसार दीक्षा लेने की अनुमति नहीं दी। भगवान् ने भी त्रिशला का अनुसरण करना अपना कर्त्तव्य समझा होगा।

के गर्भ में आए, फिर गर्भहरण द्वारा त्रिशला के गर्भमें परिवर्तित कर दिए गए।

दूसरा यह भी सम्भव है कि महावीर छोटी आयु से ही तत्कालीन ब्राह्मण-परम्परा में अति रूढ़ हिंसक-यज्ञ और अन्यान्य निरर्थक क्रियाकाण्डी कुल धर्म के विरुद्ध संस्कार वाले त्याग-प्रकृति थे। उनको छोटी उम्र में ही किसी निर्ग्रन्थ परम्परा के त्यागी भिक्षु के संसर्ग में आने का मौका मिला होगा और उस निर्ग्रन्थ संस्कार से साहजिक त्यागवृत्ति की पुष्टि हुई होगी।

तीसरा एक और खुलासा करते हुए, लिखते हैं कि महावीर के त्यागाभिमुख संस्कार, होनहार के योग्य शुभलक्षण और निर्भयता आदि गुण देखकर किसी निर्ग्रन्थ गुरु ने अपने पक्के अनुयायी सिद्धार्थ और त्रिशला के यहां उनको सम्वर्धन के लिए रखा होगा। जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र को छोटी आयु में ही गुरु देवचन्द्र ने अपने भक्त उदयन मंत्री के यहां सम्वर्धन के लिए रखा था।

पंडित जी के उपर्युक्त विचार सर्वथा उनके अपने हैं।

इतिहास और जैनागम उनका समर्थन नहीं करता है।

पुनः गर्भ-परिवर्तन पर विशेष—

दिगम्बर आम्नाय इस गर्भ-परिवर्तन के मामले में सर्वथा मौन हैं। यद्यपि यह परम्परा कोई नई नहीं है। प्राचीन कालसे ही भारतीय साहित्य में, इस प्रकार के गर्भ विनिमय के उल्लेख

तो, पिता सिद्धार्थ का गोत्र काश्यप और माता त्रिशला का गोत्र वाशिष्ठ था। दोनों भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे।

मिलते हैं। महावीर से सम्बन्धित यह घटना नई या पहली घटना नहीं है।

श्रीमद्भागवत् दशम् स्कन्ध के दूसरे अध्याय में विष्णु भगवान् का लोक-माया को बुलाना और देवकी के गर्भ से बल-भद्र जी को संकर्षण करके रोहिणी के गर्भ में परिवर्तन करना तथा कृष्ण के रूप में भगवान् विष्णु का अवतरण होना प्रसिद्ध घटनाएं हैं। कौरव-पाण्डवों और द्रोण, द्रुपद, द्रौपदी के विषय में बहुत विचित्र कथाओं का समावेश किया गया है। उन कथाओं को रूपक-प्रधान कहकर हम उन्मुक्त हो सकते हैं, किन्तु आगम प्रणीत तथा तीर्थंकर विषयक घटना को हम कल्पना कह कर नहीं उड़ा सकते।

विज्ञान ने टैस्ट ट्यूब से बच्चे पैदा करने का आविष्कार तो कर लिया है, और यह भी खोज हो चुकी है कि स्त्री, बिना पुरुष के बच्चे को जन्म दे सकती है। ऐसे उदाहरण प्रत्यक्ष रूप से दिखाए जा चुके हैं। गर्भ-हरण एवं स्थापन आज के वैज्ञानिक युग में साधारण काम हो गए हैं। सर्जन डाक्टर इसे अत्यन्त सहज क्रिया बताते हैं। कुछ भी हो, प्राचीनकाल की ऐसी घट-नाओं को कल्पना कहकर नहीं उड़ाया जा सकता।

हाल ही की एक घटना है। जयपुर के एक सेठ की स्त्री के

त्रिशला और उसका सबसे बड़ा साकार स्वप्न महावीर

यहांतक एक आशंका अवश्य उत्पन्न होती है कि ८२ दिवस उपरान्त हरिणगमेषी देवता देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ से महा-

---

रुग्ण रहने के कारण उसके गर्भ का शिशु बकरी के पेट में पोषित हुआ और वापस उसे निकाल कर मां के पेट में रख दिया गया। नौ मास पश्चात् शिशु ने स्वस्थ रूप से जन्म लिया। इस तथा अनेक अन्य घटनाओं को देखनेसे पता चल सका कि गर्भ अपहरण तथा परिवर्तन साधारण बातें रही हैं।

और बिना पुरुष के जब स्त्री संतति पैदा कर सकती है तो, गर्भ-परिवर्तन कौन-सा कठिन कार्य है। देखिए—फेक्ट्स आफ दि साइंस।

नंदीवर्द्धन और सुदर्शना दोनों भाई-बहन होते हुए भी त्रिशला के पास और सुपुत्र का अभाव साबित करना सर्वथा अयुक्तिपूर्ण है।

किसी साधु के कहने से त्रिशला का महावीर को रखना—यह साबित करनेका प्रयास आगम-ग्रन्थोंके प्रति निरे अविश्वास के सिवा और कुछ नहीं है।

हमें खेद है कि पंडित जी प्रकृति तथा विज्ञान की विचित्र एवं अप्रतिहत गति पर विश्वास करते हैं किन्तु शास्त्र-प्रतिपादित बातों को बिना प्रमाण से अप्रमाणित कहते हैं। वह कैसे मान लिया जा सकता है? कमसे कम हमें अपने मनोरंजन के लिए माता त्रिशला को वन्ध्या नहीं बनाना चाहिए।]

वीर को त्रिशला के गर्भ में परिवर्तन करता है, और उसी रात त्रिशला १४ महान् स्वप्न देखती है। इस दिन के बाद, नवमास और सार्द्ध उपरि सात दिवस के पश्चात् महावीर का जन्म होता है, तो देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में जो ८२ दिन पोषण प्राप्त किया उन दिनों का हिसाब किस प्रकार लगायेंगे ? यहांपर कल्पसूत्र सुखबोध टीका तथा अभयदेव सूरि दोनों ही मौन हैं। हमें भी शोध की प्रतीक्षा में मौन अपनाना चाहिए। हां, इस प्रकार कुछ समाधान अवश्य होता है कि गर्भगमन मास तथा चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का हिसाब ठीक बैठता है।

महारानी त्रिशला ने अपने स्वप्नों के विषय में महाराजा सिद्धार्थ को कह सुनाया। महाराजा सिद्धार्थ प्रसन्न हुए। तब अष्टांग निमित्त ज्योतिर्विदों के साथ विचार-विनिमय के पश्चात् त्रिशला को बताया कि महान् यशस्वी, प्रतापी, तेजपुंज तथा विश्व पथ-प्रदर्शक पुत्र तुम्हे प्राप्त होगा।

क्रमशः गर्भ का रक्षण करती हुई माता त्रिशला ने नव मास साढ़े सात दिन व्यतीत होनेपर पुत्र रत्न प्राप्त किया। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के शुभ दिन, जिसे हम ईसा से ६१८ वर्ष पूर्व कह सकते हैं, भगवान् महावीर का जन्म हुआ। उनके बड़े भाई का नाम नन्दीवर्द्धन था। बहिनका नाम सुदर्शना था। उनके एक चाचा थे, जिनका नाम सुपार्श्व था। नंदीवर्धन की शादी महाराजा चेटक की सात पुत्रियों में से ज्येष्ठा नामक कन्या से हुई थी। सुदर्शना का विवाह किसी अन्य राजकुमार से हुआ था। महा-

वीर का विवाह कौडिन्य गोत्रीय यशोदा से हुआ था। महावीर की एकमात्र सन्तान उनकी प्रियदर्शना नाम की पुत्री थी, जिसका विवाह राजकुमार जमाली के साथ हुआ।

इससे पता चलता है कि इन लिच्छवियों और वज्जियों में मामा की सन्तान से विवाह होते थे। महारानी त्रिशला महाराजा चेटक की बहन और ज्येष्ठा महाराजा चेटक की लड़की थी। त्रिशला का विवाह सिद्धार्थ से और ज्येष्ठा का विवाह उनके बड़े पुत्र नंदीवर्द्धन से कर दिया गया। इसी प्रकार जमाली भगवान् महावीर की बहन का लड़का और प्रियदर्शना का (महावीर की पुत्री का) पति। इन सम्बन्धों से स्पष्ट होता है कि उस समय तक विवाह-संस्था, विशेष कर लिच्छवियों में, अपने कुटुम्ब से बाहर नहीं गई थी और उस काल में मातुल सन्तान से विवाह होता था।

प्रकरण चतुर्थ

वैराग्य की ओर—

भगवान् महावीर प्रकृति से बहुत धीर-गम्भीर और सत्व-बुद्धिवाले महापुरुष थे। उनकी देह अति प्राणवान् सात हाथ लम्बी थी ओजस्वी आनन, तेजस्वी ललाट और विशाल वक्षस्थल उनका सर्वाधिक प्रभावपूर्ण चक्रवर्तीत्व प्रकट करता था, किन्तु उनका अन्तर्मन वैराग्य से सिक्त था। वह संसार को दुःख के

दावानल से उबारने की चिन्ता में थे। यौवन उन्हें भोगों में नहीं फांस सका। उनकी वृत्तियां आत्मलक्षिणी थीं।

महावीर की आयु २८ वर्ष की हो गई थी। माता-पिता स्वर्ग सिधार गये थे। जब उन्होंने उचित समय देखा और अपने ज्येष्ठ भाई नंदीवर्द्धन के सामने अपनी दीक्षा का प्रस्ताव रखा। शास्त्रकार ने नंदीवर्द्धन का वर्णन किया है, किन्तु उनकी स्वनाम धन्या यशोदा का उल्लेख भी नहीं किया। यह एक खटकने वाली बात है। आखिर, यशोदा ने भी कुछ कहा होगा। भाई नन्दीवर्द्धन ने उनसे भी तो पूछा होगा कि महावीर क्या चाहते हैं और तुम्हारी क्या सम्मति है? सम्भव है, यशोदा के कहने पर और अपने बल से नन्दीवर्धन ने उन्हें दीक्षा की अनुमति न दी हो।

बुद्ध और महावीर–

यहां पर बुद्ध और महावीर एक अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है कि वह बुद्ध की तरह बिना कहे, चोरी-चोरी घर से भाग जाने को श्रेष्ठ नहीं समझते थे। अपितु, सबको समझा कर और आज्ञा प्राप्त कर ही, सन्यस्त होना उचित समझते थे। अन्त में, उन्हें एक वर्ष के पश्चात् आज्ञा प्राप्त हुई और एक वर्ष के दानादि उपरान्त, ३० वर्ष की आयु में वे साधु बन गए। जिस दिन उन्होंने दीक्षा ली, वह पुण्यतिथि थी मार्गशीर्ष मास की कृष्णा १० वीं। महावीर पूर्ण व्रती, विकट तपस्वी, संकटों का

सामना करने वाले, संयम पथ में सतत प्रयत्नशील रहने वाले, विलक्षण साधक थे।

चातुर्मास

महावीर का प्रथम चातुर्मास तपोवन आश्रम में हुआ। बारह चातुर्मास तक महावीर ने बहुत ही उग्र साधना की। अपरिमेय सहिष्णुता का आदर्श उपस्थित किया। गोपाल, शूलपाणी यक्ष, चण्डकौशिक, गोशालक, लाढ़ देशीय यातनायें तथा मंखली पुत्र गोशालक की पीड़ाएं भगवान् की अनुपम सहनशक्ति की कसौटी करने के लिए पर्याप्त हैं। संयम का घोर उपसर्ग भगवान् ने सहन किया, किन्तु वे सदा अडिग, अकम्प और अडोल रहे। अपनी साधना में लीन रहे। अन्तमें बारह वर्ष पांच मास और पन्द्रह दिवस के उपरान्त वैशाख सुदी १० वीं को उन्हें पूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हुई। आत्मा की अनन्त चतुष्टयात्मक शक्तियों का पूर्ण विकास महावीर ने किया, और वे पूर्ण ज्ञानी, सशरीरी सिद्ध बन गए। आचारांग, कल्पसूत्र, आवश्यक नियुक्ति, आवश्यक चूर्णी के अनुसार ही यह मत प्रदर्शित किया गया है।

अरिहंत कौन ?—

सशरीरी सिद्ध को जैन-भाषा में अरिहंत कहा गया है। महावीर ४१ वें चातुर्मास के बाद मगध की ओर चले गये थे। ४२ वें चातुर्मास के लिए राजगृही होते हुए वे पावापुरी पहुँच गये थे।

पावापुरी वाला उनका अंतिम चातुर्मास था। यह अंतिम चातुर्मास भगवान् ने पावापुरी के हस्तिपाल राजा की पुरातन कचहरी में बिताया। भगवान् के मोक्ष की घड़ी निकट थी, किन्तु वे लगातार विश्व को अपनी पुण्यमयी, कल्याणकारिणी एवं वेगवती वाग्धारा से आप्लावित करते जा रहे थे। अन्तमें समस्त कर्म-क्लेश से विशुद्ध ऐहिक जीवन से दीपावली की रात को वे सदा के लिए विनिर्मुक्त हो गए।

निर्वाण

कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल उनका निर्वाण हुआ। आयु के ३० वर्ष गृहस्थाश्रम में व्यतीत किए थे। १२ वर्ष ५ मास १५ दिन छद्मस्थ अवस्था में रहे, ३० वर्ष उपदेश में बिताये, कुल ७२ वर्ष की आयु व्यतीत कर मोक्ष पधारे।

उपदेश तथा शिष्य

भगवान् महावीर स्वामी का पहला उपदेश खाली गया। किन्तु धीरे-धीरे उन्होंने ब्राह्मण पण्डितों को शिष्य बनाया, जिनमें वेद-वेदांग पारगामी इन्द्रभूति, गौतम प्रमुख पंडित थे, जो महावीर के शिष्य बने। महावीर ने आध्यात्मिक उपदेश दिया। ब्रह्म विषयक विचारणा का आत्म-लक्ष्यी अर्थ किया। उस समय शास्त्रार्थ के लिए आए ग्यारह प्रमुख पंडित अपने विद्यार्थियों सहित भगवान् महावीर के शिष्य बन गए और आर्हती दीक्षा के आराधक हो गए।

भगवान् महावीर ने वेद-वेदांग को सम्यक् दृष्टि के लिए,

सम्यक् श्रुत और मुमुक्षु पुरुष के लिए अर्थहीन बताया है। (देखिए—नंदीसूत्र, मिथ्याश्रुत—प्रकरण)

प्रथम ११ गणधर—

महावीर-संघ में प्रविष्ट होने वाले सर्वप्रथम ग्यारह गणधर थे, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—

१. इन्द्रभूति	गौतम गोत्रीय	
२. अग्निभूति	,, ,,	ये तीनों भाई थे।
३. वायुभूति	,, ,,	
४. व्यक्त	भारद्वाज गोत्रीय	
५. सुधर्मा स्वामी	अग्नि वैश्यायन गौत्रीय	
६. मण्डित	वंसिष्ठ गोत्रीय	
७. मौर्यपुत्र	काश्यप गोत्रीय	
८. अकम्पित	गौतम गोत्रीय	
९. अचल भ्राता	हारीन ,,	
१०. मेतार्य	कौंडिन्य ,,	
११. प्रभास	,, ,,	

महावीर के त्याग, संयम और अहिंसामय उपदेश सुनकर वीरांगक, वीरयश, संजय, एणेयक, सेय, शिव, उदयन तथा शंख, इन आठ समकालीन राजाओं ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

दीक्षित, शिष्य, श्रावक, एवं श्राविकाएं

अभयकुमार, मेघकुमार आदि अनेक क्षत्रिय कुमारों ने

दीक्षा अंगीकार की थी। स्कन्धक प्रमुख अनेक तापस तपस्या का रहस्य जानकर भगवान् के शिष्य बने थे। चन्दनबाला तथा देवानन्दा ब्राह्मणी महावीर के साध्वी-संघ में प्रमुख थीं। यह तो हुआ उनका श्रमण शिष्य-परिवार। किन्तु, दूसरी ओर उनके गृहस्थ-वर्ग के अनुयायियों में से मगधराज श्रेणिक, कुणिक (अजातशत्रु) वैशाली-पति चेटक (महावीर के मामा) अवन्ती-पति चण्डप्रद्योत आदि अनेक क्षत्रिय भूप थे। आनंद, कामदेव शंख, पुष्कली, शकडाल (कुम्भकार) आदि उनके प्रमुख श्रावक थे। शालिभद्र जैसे वैश्य तथा हरिकेशी और मेतार्य अतिशूद्र होने पर भी उनकी प्रशंसनीय शिष्य-परम्परा में से थे। खंदक, अम्बड़ तथा सोमिल परिव्राजक तथा अनेक विद्वान् ब्राह्मण उनके शिष्य थे।

रेवती, सुलसा और जयन्ती आदि प्रमुख गृहस्थ श्राविकाएं थीं। गणना के आधार पर भगवान् महावीर के भिक्षुक शिष्यों की संख्या १४ हजार तथा भिक्षुणी शिष्याएं ३६ हजार थीं। लाखों की संख्या में गृहस्थ और श्राविकाएं शिष्या थीं।

विहार-वसुन्धरा

भगवान् महावीर की विहार-भूमि मगध व विदेह, काशी, कोसल, राढ़देश तथा वत्स देश थे। उनके संघ का फैलाव मुख्य रूप से राढ़देश, मगध, विदेह, काशी, कोसल, शूरसेन, वत्स और अवंती आदि देश-प्रदेशों में था।

संघ-व्यवस्था

आचार्य, उपाध्याय, गणी—

भगवान् महावीर ने मुमुक्षु भव्य आत्माओं के स्वात्म-बोधार्थ, एक सुव्यवस्थित संघ-व्यवस्था की, आदर्श गणतंत्र की तरह व्यवस्था और स्थापना की। उसे चार विभागों में विभक्त किया गया। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। उन चारों की शक्ति एक आचार्य में निहित की गई। किन्तु संघ-शक्ति पर एक व्यक्ति की सत्ता न रखकर, चतुर्विध संघ में ही सर्व सत्ता की स्थापना की गई। आचार्य के लिए, उपाध्याय के लिए, गणी के लिए, गणावच्छेदक के लिए और स्थविर के लिए, शक्ति को विधान के अनुसार विकेन्द्रित कर दिया। तपस्वी, अध्येता तथा विद्वान् मुनिवर्ग के लिए भी, अधिक सुविधाओं तथा संघ-निष्ठा के प्रति अधिक बल दिया गया। सम्पूर्णतः शक्ति देव-वाणी में और फिर उसे धीरे २ विकेन्द्रित और केन्द्रित करके जनतंत्र-वादी की तरह सन्तुलित कर दिया गया।

भगवान् महावीर का संघ अपेक्षाकृत बुद्ध-संघ से अधिक सुव्यवस्थित बन पाया। इसका प्रमुख कारण था आचार-शास्त्र पर बल देना और निष्ठा को आत्म-लक्ष्यी बनाना। संघकी व्यवस्था प्रत्येक संघ-सदस्य को माननी ही चाहिए। संघ-संस्था के विरोधी को भगवान् ने पथ-भ्रष्ट आत्मा कहा है। यही कारण है कि संघ नैतिक बल पर खड़ा करने पर भी, निग्रह और अनु-

ग्रह के दोनों साधनों से परिपूर्ण है। संघ-सेवक की प्रशंसा और संघद्रोही को प्रायश्चित, दोनों ही विधियों का उल्लेख है।

साधु ऐसा चाहिए—

साधु आत्म-साधक और ज्ञान-शोधक हैं। त्याग की अनन्त प्रतिष्ठा पर विराजमान होकर साधु भोगाकुल मानव-समाज का सुधार—उद्धार करता है। किन्तु साधु इसलिए ही ऊंचा नहीं है, अपितु, ऊंचा है त्याग के कारण और यह त्याग जितनी मात्रा में जहां बढ़ा है, वहां साधुता भी उतनी ही मात्रा में ऊंची उठी है और उसमें साधुता का उसी परिमाण में समावेश हुआ है।

त्याग—

त्याग की परम पवित्र संस्कृति को सुदृढ़ बनाना साधु-जन का परम कर्त्तव्य है। श्रावक, इस कार्य में साधुओं के सहायक हैं और श्राविका सहयोग दायिनी है। यही पवित्रतम संघ की आधारभूत शिलायें हैं, जिनके बल पर साधक स्व और पर की कल्याणकारी भूमिका का प्रतिष्ठापन करता है।

श्रमण एवं श्रावक-संघ—

महावीर ने श्रमण और श्रावक संघ को धर्म के धागे से गूंथा है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका संघ-सदस्य के नाते प्रायः सम-समान हैं। किन्तु साधु का स्थान उनमें सर्वाधिक, फिर उपाध्याय और अन्त में आचार्य में जाकर समस्त संघ की सत्ता केन्द्रित हो गई है।

महावीर स्वामी की शिष्य परम्परा—

भगवान् महावीर के बाद श्री गौतम गणधर को केवलज्ञान हुआ, बारह वर्ष तक उन्होंने धर्म-प्रचार, संघ-व्यवस्था आदि में बहुत सुन्दर ढंग से योग दिया।

पट्टावली (शिष्य-परम्परा)–

२. सुधर्मा स्वामी भगवान् महावीर के पांचवें गणधर थे। ये कोलागसन्निवेश के निवासी थे। आयु इनकी ८० वर्ष की थी। सर्वप्रथम संघ के आचार्य की उपाधि प्राप्त करने का अद्वितीय गौरव इन्हें मिला। बारह वर्ष तक इन्होंने संघ का आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के रक्षण, पोषण एवं संवर्द्धन किया। ९२ वर्ष की आयु में इन्हें केवल ज्ञान हुआ और तब इन्होंने संघ-व्यवस्था का भार अपने प्रथम शिष्य जम्बू स्वामी को सौंपा। तत्पश्चात् ८ वर्ष उपरान्त, पूरे १०० वर्ष की आयु में इन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ।

चन्दनबाला, साध्वी समाज की प्रमुख थीं। महासती चन्दनबाला के मोक्षगमन के पश्चात् कौन सौभाग्यशालिनी, पुण्यश्लोका महासती प्रवर्त्तिनी के पद पर प्रतिष्ठित की गई, इसका वर्णन चन्दनबाला के बाद कहीं उपलब्ध नहीं होता।

सुधर्मा स्वामी के बाद जम्बू स्वामी, फिर प्रभव स्वामी और बादमें श्ययंभव स्वामी, संभूति विजय स्वामी और भद्रबाहु स्वामी का सातवां नम्बर आता है।

जम्बू स्वामी—

भगवान् महावीर और गौतम तथा सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी ये दो युग्म जैन-शास्त्रों में इस प्रकार से प्राप्त होते हैं, जैसे महावीर वक्ता हैं और गौतम स्वामी श्रोता हैं। उसके अनन्तर सुधर्मा स्वामी भगवान की वाणी को उसी रूप में जम्बू स्वामी को सुनाते हैं।

जैन-संस्कृति का उद्‌गिकरण सुधर्मा स्वामी से हुआ है और जम्बू स्वामी से उस वाणी को शास्त्र का स्वरूप प्राप्त हुआ है।

जम्बू स्वामी एक वणिक् सेठ के पुत्र थे। अतुल सम्पत्ति होने पर भी विवाह करते ही दिल में वैराग्य उत्पन्न हुआ और संयमी बन गए। वे आठों कुमारिकाएं, जिनसे इनका विवाह हुआ था वे तथा ५०० प्रभव चोर के साथी जो घर में डाका डालने आये थे वह और इनके माता-पिता, लगभग ५२७ विरक्त आत्माओं के साथ जम्बू स्वामी पांच महाव्रतधारी अनगार हुए। जैन-परम्परा में, जिसका आदि स्रोत भगवान् ऋषभदेव से प्रारम्भ होता है, भगवान् जम्बू स्वामी अन्तिम केवली थे। इनके निर्वाण के साथ ही इनकी दश विशेषताओं का भी लोप माना गया है।

जम्बू स्वामी के बाद विशेषताओं का लोप—

१. परम अवधिज्ञान, २. मनः पर्ययज्ञान
३. पुलक लब्धि ४. आहारक शरीर
५. क्षायिक सम्यक्त्व (मिथ्यात्व का पूर्णतया नाश)

६. केवल ज्ञान ७. जिनकल्पी साधु

८. परिहारविशुद्धिचारित्र ९. सूक्ष्म सम्परायचारित्र

१०. यथाख्यात चारित्र

महावीर के बादः—	केवलज्ञान	निर्वाण
गौतम स्वामी	महावीर निर्वाण-दिन	१२ वर्ष के बाद
सुधर्मा स्वामी	१२ वर्ष में	२० वर्ष के बाद
जम्बू स्वामी	२० वर्ष में	६४ वर्ष के बाद

६४ वर्ष के बाद केवलज्ञानी फिर कभी कोई नहीं हुआ।

४. प्रभव स्वामी—

जयसेन राजा के राजकुमार प्रजा को कष्ट देने के कारण अपने शहर जयपुर से निकाल दिए गए।

तत्पश्चात् वे भीमसेन नामक चोर के संगी बने, उसकी मृत्यु के बाद चोरों के सरदार प्रभव बनाए गए, प्रभव मूलतः क्षत्रिय पुरुष थे। ५०० चोरों के साथ लूटपाट किया करते थे।

जिस दिन ८ कुमारियों के संग विवाह कर जम्बू स्वामी घर आए उस दिन ये अपने ५०० चोरों के साथ वहां पहुंचे। जम्बू के यहां ९९ करोड़ का दहेज रखा था।

प्रभव की यह विशेषता थी कि ये जहां चोरी करते थे अपने मंत्रबल से वहां के व्यक्तियों को सुला देते थे। जम्बू स्वामी के प्रासाद में भी उन्होंने ऐसा ही किया, सेवकों एवं प्रहरियों के सो जाने पर गठरियां बांध लीं और चलने लगे।

परन्तु पैर नहीं उठते थे। यह अवस्था देखकर प्रभव सोच में पड़ गए कि ऐसा कौन हो सकता है जिसके प्रभाव से मेरा मंत्र-बल असफल रहा और जो जाग रहा है।

इधर जम्बू स्वामी महासंयमी ब्रह्मचारी थे। सुहागरात के दिन इन आठों स्त्रियों की मनुहार पर भी वे अपना व्रत तोड़ने का विचार मनमें न ला सके। वे प्रभव के दल की चोरीके समय जाग रहे थे। प्रभव उनके निकट आए। स्त्रियों और जम्बू स्वामी का वार्तालाप और उनका ज्ञान चमत्कार देख-सुनकर अपने साथियों सहित दीक्षित हो गए।

इस समय प्रभव की आयु ३० वर्ष की थी। २० वर्ष तक इन्होंने ज्ञान, साधना तथा सेवा सम्पादन की और ५० वर्ष की उम्र में समस्त जैन संघ के आचार्य बन गए।

सच है, चोरी बुरी चीज है। चोर बुरा नहीं है। लेकिन नीच कर्मों का संग होने से मनुष्य नीच कहलाता है। उच्च कर्मों का पालन करने से उच्च बनता है।

प्रभव स्वामी चोर थे परन्तु एक दिन परम पवित्र, अहिंसक, श्रमण संस्था के आचार्य बन गए। यही धर्म का चमत्कार है।

४. श्यंयंभव आचार्य–

ये राजगृही नगरी के ब्राह्मण थे। वेद वेदांगनिष्णात श्ययंभव की प्रभव स्वामी से भेंट यज्ञ निमित्त हुई थी। प्रभव का दिव्य सन्देश--द्रव्य यज्ञ और भाव यज्ञ का विलक्षण स्वरूप समझकर इनके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और अन्त में साधु बन गए।

मनक नामक इनका एक पुत्र था। जब वह भी साधु बन गया और आचार्यवर्य ने देखा कि इसकी आयुष्य बहुत थोड़ी है तो उन्होंने शीघ्र जिनवाणी ज्ञान के लिए श्रुतमन्थन करके नवनीत के रूप में दशवैकालिक सूत्र की रचना की। इनका जन्म वीर-निर्वाण के ३६ वर्ष बाद हुआ। ८ वर्ष की आयु में स्वर्गवास हुआ।

५. यशोभद्र—

वीर-निर्वाण संवत् ६८ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किए गए।

वीर-निर्वाण १०८ में संभूति विजय को दीक्षा मिली।

वीर-निर्वाण १३६ में भद्रबाहु स्वामी को दीक्षा दी गई।

यशोभद्र और संभूतिविजय संघ के आचार्य थे।

उन्होंने संघ-व्यवस्था को बहुत कुशलता पूर्वक चलाया। अभीतक संघ में कोई उग्र मतभेद नहीं उठा था। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका व्यवस्थित ढंग से भगवान महावीर के आगार और अनगार धर्म का पालन करते आ रहे थे।

कुछ इतिहासकारों का यह कथन है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दोनों परम्परा प्रभव स्वामी के पश्चात् ही चल पड़ी थीं। इसीलिए दिगम्बर आम्नाय के अनुसार विष्णु, नन्दी, अपराजित, गोवर्धन तथा भद्रबाहु क्रमशः ये नाम दिए गए हैं। जब कि श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार प्रभव, श्यंभव, यशो-

भद्र, आर्यसंभूति विजय और भद्रबाहु इस प्रकार से आचार्यों के नाम आए हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि संघ की एकता शिथिल होने लग गई थी। तथापि भद्रबाहु स्वामी दोनों संघों में श्रुत केवली स्वीकार किए गए हैं। अतः ऐसा निश्चित होता है कि कोई विशेष मतभेद नहीं उठा होगा।

भद्रबाहु का वर्णन, भद्रबाहु युग में किया गया। क्योंकि यहांतक महावीर की धारा अबाध, अविच्छिन्न रूप से चली है। अतः अभी भगवान् महावीर का युग समाप्त होने के पूर्व उनकी विरासत, उनकी अन्य धर्मों पर छाप, बुद्ध और महावीर की तुलना आदि विषयों पर कुछ लिखा जाना आवश्यक लगता है।

महावीर की देन—

१. जाति-पांति के भेदभाव-भरी दरारों को दूर कर मानव समाज के लिए सार्वभौमिक एवं सर्वसुलभ धर्मव्यवस्था स्थापित करना। ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, क्षत्रिय वर्गों का अभिमान आदि बुराइयों को मिटाकर गुण विकास की ओर मानव-जाति को उन्मुख करना ही महावीर का अधिक लक्ष्य रहा है।

२. विराट् विश्व में सचराचर (जंगम एवं स्थावर) समस्त प्राणीवर्ग में एक ही शाश्वत स्वभाव है और वह है जीवन की आकांक्षा, सुख की शोध, महान बनने की उत्प्रेरणा और परमानन्द प्राप्त करने की उद्भावना। इसलिए किसी को मत

हणो—न कष्ट ही पहुंचाओ और न किसी अत्याचारी को प्रोत्साहन ही दो।

३. आचार में अहिंसा, बुद्धि में समन्वय और व्यवहार में अपरिग्रह का आदर्श साकार करो।

४. आत्मा का स्वभाव ही धर्म है और विभाव ही अधर्म है, यही कारण है कि भगवान् ने पुरुषों की तरह स्त्रियों के भी विकास के लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की है।

५. भाषा के व्यामोह पर जो कि अभीतक भी भारत का खून चूस रहा है और देश को प्रान्तों के नाम से बंटवारे कर खंडित कर रहा है, भगवान् ने गहरा कुठाराघात किया है। इसीलिए तत्कालीन पंडिताऊ भाषा संस्कृत में तत्वज्ञान न देकर उस समय की आम जनता की भाषा अर्द्ध-मागधी—प्राकृत को ही भगवान् ने अपनी वाणी का माध्यम रखा है, जिससे सब लाभ उठा सकें।

६. ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिए होने वाले पशु-हिंसा से भरे यज्ञ, देवी-पूजन तथा पशुबलि-कर्म और पर्व के विरुद्ध में भगवान् ने अपनी आवाज बुलन्द की और संयम, तप अहिंसा तथा पुरुषार्थ प्रधान मार्ग की महत्ता स्थापित की।

७. उनका उपदेश समता, वैराग्य, उपशम, निर्वाण, शौच, ऋजुता, निरभिमान, अकषाय, अप्रमाद, निर्वैर, अपरिग्रह आदि गुणों के विकास के लिए होता था।

८. मनुष्य का भाग्य ईश्वर के हाथों में देकर, मनुष्य—

मनुष्य को ही अपने भाग्य का निर्माता तथा पुरुषार्थ की प्रधानता और काल, कर्म, नियति, स्वभाव तथा पुरुषार्थका समन्वय स्थापित करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य था। इसी का नाम कर्मवाद है।

९. आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद महावीर की विशेष देन है।

१०. प्रत्येक आत्मा, परमात्मा बन सकता है, रागद्वेष रहित व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण होता है। इच्छाओं का निरोध ही यज्ञ है, आत्मा की निर्मलता ही शौच है, विवेक और सन्तोष ही परम सुख है।

धन-दौलत से नहीं, त्याग से ही कल्याण संभव है। अहंकार का दमन और परका रक्षण ही क्षत्रियित्व है।

संसार के समस्त जीवों के प्रति मैत्री, गुणियोंके प्रति प्रमोद, निर्बल एवं विपन्न के प्रति दयाभाव और विपरीत वृत्ति वाले मनुष्य के प्रति माध्यस्थ भाव रखना ही धर्म है।

महावीर स्वामी दूसरोंके प्रति हितैषी एवं अपने प्रतिशोधक बनने का ही उपदेश देते थे।

तत्कालीन धर्म-प्रवर्तक

महावीर-कालीन अन्यान्य धर्म-प्रवर्तक—

जामाली, मंखली-पुत्त गोशाल, पूरण कश्यप, प्रकुद्धकात्यायन अजित केश, कम्बलि, संजय वेलट्ठिपुत्त और गौतमबुद्ध आदि २ भगवान् महावीर के सम-समान काल में अपना-अपना धर्म

स्थापित कर रहे थे। इनमें जामाली भगवान् महावीरके जमाता थे, जो महावीर को केवलज्ञान होने पर, १४ वर्ष पश्चात् महावीर के विरोधी बन गए थे।

गोशालक—

गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य था, उसकी सम्प्रदाय का उल्लेख 'आजीवक मत' के नाम से आज भी कहीं कहीं शास्त्रों में पाया जाता है। बौद्ध पिटकों में भी उसका उल्लेख है।

गोशालक का जीवन अत्यन्त विलक्षण था, किन्तु जितना विलक्षण था, उतना ही उच्छृंखल भी था। उसका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। भगवान् महावीर से उसे ज्ञान-प्राप्ति हुई। आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना में उसके जीवन का विकास हुआ। लेकिन उसकी बुद्धि ने पलटा खाया और अरिहन्त देव से उसने वादविवाद कर पराजय का मुख देखा। अन्तमें उसने क्षमा याचना की। यही गोशालक का रेखा-चित्र है।

जैन-शास्त्रों के अनुसार गोशालक को भगवान् महावीर से आध्यात्मिक ज्ञान की विरासत मिली थी। यहांतक कि उच्च विद्याएं भी उसने भगवान् की कृपा से प्राप्त की थीं, जिनमें तेजोलेश्या जैसी लब्धियां भी हैं। लेकिन उसकी उद्दण्ड वृत्ति और उच्छृंखलता ने उसे आजीवक सम्प्रदाय बनाने के चक्कर में डाला और उसने केवल नियति को मुख्य सिद्धान्त बनाकर सम्प्रदाय की स्थापना की।

उस समय तो गोशालक का वर्चस्व एवं प्रभाव इतना था कि सम्प्रदाय चल निकला। लेकिन उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका प्रभाव कम हो गया। गोशालक का जीवन सुन्दर होते हुए भी शालीनताहीन था अतः महावीर ने उसे अपने सुशिष्य के स्थान पर 'कुशिष्य' रूप में स्वीकार किया है।

गोशालक और महावीर का वर्णन भगवतीसूत्र में बहुत विस्तार से दिया गया है। उसकी तेजोलेश्या से दो साधुओं को भस्म हो जाना और भगवान् को दाह का होना भी शास्त्र में वर्णित है।

उपर्युक्त सभी धर्म-प्रवर्तकों से भगवान् महावीर का दार्शनिक, सैद्धान्तिक अथवा आचार-विषयक बहुत मतभेद है। महावीर सामन्य दृष्टि अथवा अनेकान्तात्मक विचारणा को ही मुख्य महत्त्व देते थे। वे आग्रह को बुरा मानते थे।

विभिन्न दृष्टिकोणों अथवा आंशिक सत्यों का समन्वय करना ही अनेकान्त है।

महावीर और बुद्ध

महावीर का विशेष सामना बुद्ध से हुआ। बुद्ध शाक्य-गोत्रीय थे। शुद्धोधन महाराज के पुत्र थे। वे भी तपस्वी बने, उन्हें ज्ञान भी प्राप्त हुआ। उपदेश-परम्परा द्वारा उन्होंने भी अपने को अरिहंत बताया।

महावीर और बुद्ध की तुलना इस प्रकार की जा सकती है।

	महावीर	बुद्ध
पिता	सिद्धार्थ	शुद्धोदन
माता	त्रिशला	महामाया
ग्राम	क्षत्रिय कुंडग्राम	कपिलवस्तु
संवत्	ई० पू० ५४२ या ५६६	ई.पू. ५६५ या ५७५
स्त्री	यशोदा	यशोधरा
संतान	प्रियदर्शना (पुत्री)	राहुल पुत्र
आदितप	१२ वर्ष	छः वर्ष
निर्वाण	वि.स. से ४७० वर्ष पूर्व	वि.स. ४८५ वर्षपूर्व
आयुष्य	७२ वर्ष	८० वर्ष
महाव्रत	पांच महाव्रत	पांचशील
सिद्धान्त	अनेकान्तवाद	क्षणिकवाद

महावीर, बुद्ध में समानता और विभिन्नता—

जहां कुछ विभिन्नताएं हैं, वहां भगवान् महावीर और बुद्ध में समानताएं भी हैं।

अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह और तृष्णा निवृत्ति आदि में बुद्ध की भी दृष्टि बहुत ऊंची थी। ब्राह्मण संस्कृति के सन्मुख ये दोनों श्रमण-संस्कृति के उज्ज्वल नक्षत्र थे।

न केवल एशियाई वसुन्धरा पर, वरन् समस्त विश्व के कोने-कोने में दोनों ने अपनी दिव्य करुणा का अमृत प्रवाहित किया हैं और ज्ञान-प्रकाश द्वारा विश्व की भूत एवं भावी पीढ़ियों को मार्ग-दर्शन दिया है।

जीवन-शोधन, अहिंसा-पालन और श्रमण के लिए आवश्यक नियमों में इन दोनों महापुरुषों में सामान्यतया अधिक अन्तर नहीं है।

दोनों में भोग के प्रति गहरी घृणा है। राग-द्वेष के प्रति शत्रुता है। आत्मशुद्धि के लिए उत्कट प्रेरणा है। अहिंसा दोनों को प्रिय रही।

दोनों संस्कृतियों की मूल प्रेरणा एक—

जैन-संस्कृति और बौद्ध-संस्कृति की मूल-प्रेरणा लगभग एक-सी है। 'पार्श्वनाथा चा चार याम' ग्रंथमें पं० धर्मानंद कौशाम्बी ने तो यहांतक सिद्ध कर दिया है कि भगवान् बुद्ध ने भगवान् पार्श्वनाथ के चार याम धर्म का ही पांचशील अथवा अष्ट अंग के नाम से विकास किया है।

ऐतिहासिक विद्वान् तो यहांतक खोज कर चुके हैं कि भगवान् बुद्ध पार्श्वनाथीय सम्प्रदाय के किसी साधु के पास ही साधु बने थे। किन्तु बादमें जाकर उन्हें कठोर तपस्या के प्रति घृणा हो गई और अपना अलग मध्यम मार्ग निकाला।

'भारतीय संस्कृति और अहिंसा' में धर्मानंद कौशाम्बी ने भगवान् पार्श्वनाथ के चार याम की तथा बुद्ध के मध्यम-मार्ग की बड़ी सुन्दर तुलना की है।

सम्यक् कर्म	(अहिंसा, अस्तेय)
सम्यक् वाचा	(असत्य)
सम्यक् आजीव	(अपरिग्रह)

इस प्रकार पार्श्वनाथ के चार यामों का समावेश अष्टांगिक मार्ग के तीन अंगों में हुआ है। शेष पांच भी अहिंसा के ही पोषक हैं। जैसे सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् व्यायाम तथा सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

बुद्ध इस प्रकार काया एवं वाचा का संयम, सम्यक्त्व करके मानसिक-शुद्धि की अभिवृद्धि की कल्पना करते थे।

जैन और बौद्ध धर्म में चाहे धार्मिक अथवा सैद्धान्तिक मतभेद हों, तो भी इन दोनों धर्मों ने और इनकी संस्थाओं ने विश्व में अहिंसा-प्रचार-कार्य का बहुत बड़ा अनुष्ठान रचा है। दोनों श्रमण-संस्कृति के शुद्ध मूलाधार रहे हैं। आज भी बौद्ध समाज में जैनधर्म के प्रति श्रद्धा-भावना है।

सात निन्हव और अन्य विपक्षी—

१. भगवान् महावीर के केवलज्ञान के १४ वर्ष पश्चात् बहुरत सम्प्रदाय के स्थापक जामाली निन्हव का नाम आता है। आज तो इस सम्प्रदाय का नाम ही शेष है।

२. १६ वर्ष बाद, जीवके प्रदेशों को लेकर, चतुर्दश पूर्वधारी आचार्य वसु के शिष्य तिष्यगुप्त ने एक बहुत बड़ा वितण्डावाद खड़ा किया था।

३. महावीर-निर्वाण के २१४ वर्ष पश्चात् अव्यक्तवादी आषाढ़ाचार्य।

४. २२० वर्ष बाद समुच्छेदवादी महागिरी के प्रशिष्य और

कौडिन्य के शिष्य अश्वमित्रने साधारण बातों पर प्रपंच उठा कर, संघ में फूट डालने की कोशिश की थी।

५. २२८ वर्ष बाद, द्वैक्रियवादी महागिरी के प्रशिष्य और धनगुप्त के शिष्य गंगाचार्य ने भी इसी प्रकार का प्रपंच खड़ा किया था।

६. ५४४ वर्ष पश्चात् त्रिराशिवादी श्रीगुप्तके शिष्य रोहगुप्त।

७. ५८४ वर्ष पश्चात् अबद्रवादी गोष्ठा-महिल ने साधारण सी बातों पर धन गुप्त और अश्वमित्र के समान फूट डालने का प्रयास किया था, परन्तु संघ अटूट रहा। फूट स्वयं फूट गई। तत्पश्चात् इन्होंने अपने-अपने मत खड़े किए।

महावीर संघमें सप्त निन्हवों ने भयंकरतम फूट डालने का प्रयास किया था किन्तु संघ का सौभाग्य रहा कि फूट फल न सकी और सातों निन्हवों को परास्त होना पड़ा।

सचेल-अचेल—

भगवान् महावीर के संघ में जो सबसे खटकने वाली बात थी, वह थी सचेल और अचेल की विवादास्पद गुत्थी।

इसका मूल कारण है—पार्श्वनाथ के साधु सचेल थे और महावीर का बल अचेल होने की ओर था, जिसका समाधान पार्श्वापत्यिक केशीकुमार श्रमण को, महावीर संघ के प्रथम गणधर, गौतमस्वामी के द्वारा दिया गया था।

याम—चार और पांच—

गौतमस्वामी ने जहां चार याम की जगह पांच याम और

सप्रतिक्रमण रात्रिदिवस की व्यवस्था का जितना तर्कपूर्ण उत्तर दिया, उतनी वस्त्रों के प्रति कठोर नीति नहीं अपनाई। मोक्ष के लिए पारमार्थिक लिंग, साधन, ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप आध्यात्मिक सम्पत्ति का निर्देश किया और सचेल अथवा अचेल को लौकिक लिंगमात्र कहकर और उसे पारमार्थिक सीमा से बाहर कहकर, उपेक्षा कर दी गई।

यही कारण थे कि समाज में सचेल और अचेल की कोई निश्चित और नियमित रूपरेखा तैयार नहीं हो सकी।

महावीर ने महाव्रत और प्रतिक्रमाणात्मक अन्तःशुद्धि पर जितनी दृढ़ता से बल दिया उतनी दृढ़ता से सचेल अथवा अचेल के एकान्तिक पक्ष पर नहीं दिया। यही कारण है कि उनके समय में तो यह विवाद समन्वयात्मक सिद्धान्तों से और पार्श्वपत्यिक और महावीर संघ में समझौतेवादी दृष्टिकोण से समूचे संघ में प्रेम से काम चलता रहा, किन्तु जम्बू स्वामी एवं भद्रबाहुजी के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व के समाज में से उठ जाने से, सचेल और अचेल का पुराना विवाद—श्वेताम्बर और दिगम्बर नाम से फूट निकला।

इतना निश्चित है कि भगवान् महावीर ने गृहत्याग किया तब एक वस्त्र—चेल धारण किया था, क्रमशः उन्होंने हमेशा के लिए उस वस्त्र का त्याग कर दिया और पूर्णतः अचेल हो गये।

आचारांग सूत्र के १ श्रुत, अध्याय ६ उद्देशा प्रथम में उनकी इस अचेलत्व भावना का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

जैसे कि—

णोचेविमेण वत्थेण, पिहिस्सामि तंसि हेमंते,
से पारए, आवकहाए, एयं खु अणुधम्मियं तस्स। १
सवंच्छरं साहियं मास, जंण रिक्कासि वत्थगं भगवं,
अचेलए ततो चाई, तं वोसज्ज वत्थ मणगारे। ३
णो सेवती य परवत्थं, परपाए वि से ण भुंजित्था,
परियज्जियाण ओमाणं, गच्छति संखडि असरणाए। १६

अर्थात् भगवान् महावीर के दीक्षा-धारण समय इन्द्र-प्रदत्त एक देववस्त्र प्राप्त हुआ था किन्तु भगवान् ने यह निश्चय किया कि मैं इसे छोड़कर ही शीत सहूंगा और फिर आजीवन वस्त्र धारण नहीं किया और इस देव-प्रदत्त वस्त्र को परम्परा रूप में ही स्वीकार किया और तेरह मास उपरान्त उतार दिया। तत्पश्चात् अचेलक होकर विचरने लगे—सर्वथा वस्त्र रहित विचरण करने लगे। वे न तो पराए पात्र में भोजन करते थे, मानापमान का सर्वथा त्याग कर, स्वयं भगवान् गृहस्थों के रसोईघर में जाकर निर्दोष आहार की गवेषणा करते थे।

उपर्युक्त पाठ द्वारा प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर साधनावस्था में सर्वथा अचेल और उपकरण रहित थे, किन्तु भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध में साधुओं की वस्त्रैष्णा में वस्त्र रखने का स्पष्ट विधान किया है। आचारांग सूत्र—१४ अध्याय प्रथम उद्देश में इसका स्पष्टीकरण

मिलता है कि साधु सनका, पान का, कपास का और अर्क रूई का वस्त्र ग्रहण कर सकता है।

भगवान् द्वारा अचेलत्व की प्रशंसा—

लेकिन वस्त्र-विधान करने पर भी भगवान् महावीर आचारांग के छठे अध्याय के ३ उद्देश में अचेलक साधु की प्रशंसा करते हैं और साधु के तीन मनोरथों में पहला मनोरथ 'अचेले भूयो आवई'—के द्वारा अचेलक बनने की ओर साधु को उत्प्रेरित करते हैं। किन्तु, इन उद्धरणों से स्पष्ट अचेलकत्व का ऐकान्तिक आग्रह रखने वालों की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि इन तीनों प्रकार—महावीर अचेल थे, साधुओं के लिए वस्त्र का विधान किया और अचेलकत्व को आदर्श रखा—इससे ऐकान्तिक कोई भी सिद्धान्त निश्_ सचेलकत्व आदि का पूर्ण अचेलकत्व की पुष्टि नहीं होती है। इसलिए शास्त्र में पार्श्वा-पत्यिक परम्परा में से निकल कर महावीर संघ में सम्मिलित होने वाले साधु अथवा स्थविरों का, जहां सभी परिवर्तनों का उल्लेख आता है, वहांपर उनका सचेलकत्व से अचेलकत्व की ओर आने का कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता, जब कि उनके चार याम के स्थान पर पांच महाव्रत और रात्रिदिवस के प्रतिक्रमण का स्पष्ट विधान किया गया है।

हमने उपर्युक्त स्पष्टीकरण इसलिए आवश्यक समझा कि श्वेताम्बर आम्नाय में वस्त्र पर और दिगम्बर आम्नाय में

अवस्त्र पर जोर दिया गया है। लेकिन भगवान् महावीर न सचेलकत्व और न अचेलकत्व के आग्रही थे, न विरोधी थे।

क्योंकि भगवान् महावीर को वस्त्र-विवाद में कुछ रस नहीं था और न पारमार्थिक सिद्धि में वस्त्रों का कुछ भी उपयोग वे मानते थे। उन्हें तो साधक के लिए अन्तर्शुद्धि की अधिकतम अपेक्षा थी। यही कारण है कि उस समय वस्त्रावस्त्र के विवाद को समन्वयात्मक दृष्टिकोण से सुलझा लिया गया। हां, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की उसमें व्यवस्था कर दी गई, जिसके अनुसार युगानुरूप समस्त संघ बाह्य विधान में उचित परिवर्तन कर सके। ध्यान रहे, अचेलकत्व के आग्रह के कारण दिगम्बर आम्नाय में स्त्री के मोक्ष का द्वार बन्द कर दिया गया। इसे हम आग्रह का विकृत रूप कह सकते हैं। त्याग की ओर बढ़ना, एक सत्य सिद्धान्त है, जो श्रेयस्कर है। किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के महत्त्व को भुला कर नहीं वरन् उनकी योग्य कसौटी पर कस कर ही किसी सिद्धान्तानुसार प्रगति करना अधिक श्रेयस्कर होता है।

भगवान् महावीर की अन्य धर्मों पर छाप

श्रमण संस्कृति के प्रतिष्ठापकों में महावीर का एक अन्यतम स्थान है। धार्मिक अन्ध श्रद्धा, जनता की रूढ़िवादिता और पाखंडके ठेकेदारों के विरुद्ध महावीर ने क्रांति की और सात्विक धर्म का प्रचार किया।

आत्मशुद्धि और राग-द्वेष नाश की ओर उनका प्रधान उद्देश्य था, जिसका प्रभाव तत्कालीन वैदिक परम्परा पर अधिकतम पड़ा।

भारत में श्रमण और ब्राह्मण के नाम से उभयमुखी आर्य-संस्कृति का संस्करण हुआ है। जैन और बुद्ध धर्म के विचारों को श्रमण-संस्कृति वैदिक तथा वैष्णव के सम्प्रदायों की विचार-धारा को वैदिक-संस्कृति के पुत्र के नाम से पुकारा जाता है।

समन्वयात्मक वृत्ति में परिपूर्ण

वैदिक एवं जैन-संस्कृतियां—

इतिहास तथा वैदिक वाङ्मय इस बात का साक्षी है कि वैदिकों के पास श्रमण तथा साधु-संस्था के लिए कोई सुव्यवस्थित विधान-शास्त्र तथा आचार-शास्त्र उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि बौद्धों और जैनों के पास भी गृहस्थों के लिए धर्म-विधान के सिवाय गृहस्थ धर्म को बताने वाले धर्म-ग्रंथों का अभाव है।

इसीलिए मैं समझता हूं कि ये दोनों संस्कृतियां अपने आप में नहीं, अपितु समन्वयात्मक वृत्ति में ही परिपूर्ण हैं। यदि हम वैदिक संस्कृति को पेट और चरण कह सकते हैं, तो जैन और बौद्ध संस्कृति को हृदय और मस्तिष्क कह सकते हैं।

संस्कार और श्रद्धा, कर्म और त्याग, निवृत्ति और प्रवृत्ति इन सबका मेल-जीवन के क्षेत्र में यदि आवश्यक है तो वैदिक और जैन-संस्कृति का भी समन्वय अत्यधिक उपयोगी है।

ऐतिहासिक भाषा में यदि सचोट तर्क द्वारा इस संस्कृति के आदान-प्रदान का यथार्थ वर्णन किया जाय तो हमें कहना होगा कि साधु-संस्था का विधान जैन और बौद्ध धर्म के सिवा, अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है, वैदिक-धर्ममें साधु-धर्म का विधान केवल जैन आचार-शास्त्र का वैदिक छायानुवाद मात्र है और जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय में गृहस्थ-कर्मों का सांसारिक विधान वैदिक विधान का भावानुवाद मात्र है।

जैन, बौद्ध तथा वैदिक ये तीनों विचारधाराएं समुचित रूप में ही वास्तविक अनेकान्त की अजस्र प्रवाहिनी अमर धाराएं हैं। इनके संगम से भारतीय-संस्कृति का सूर्य चमका है।

यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि ये तीनों धाराएं एक दूसरे से प्रमाणित एवं अनुप्राणित हैं। तीनों ने जी भर कर एक दूसरे से अपने पोषण-तत्वों को प्राप्त किया है। कम से कम निवृत्ति त्याग तथा साधु-संस्था का नियमित रूप वैदिकों को जैनधर्म की देन है। अहिंसा की प्रतिष्ठा तथा वैष्णवोंकी आहार शुद्धि और आत्मा तथा परमात्मा की एकरूपता तो वैदिकधारा को जैनधर्म की ही विरासत है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा के अतिरिक्त सर्वप्रथम भाव-यज्ञ की स्थापना की, जिससे देश के पवित्रतम ब्राह्मणों की हिंसाप्रधान यज्ञ-वृत्ति से रुचि हट गई।

इसी समय, राक्षसी-वृत्ति को छोड़कर, राजाओं ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। वैदिक गृहस्थों और ब्राह्मणों पर महावीर

की अहिंसा की इतनी छाप पड़ी कि आज सैकड़ों वर्षों से याज्ञिक हिंसा देश से लोप हो गई।

संन्यासियों, त्रिदण्डियों और योगियों का अधिकाधिक ध्यान अहिंसा तथा महावीर प्रणीत श्रमण-आचार-शास्त्र पर गया, जिसके फलस्वरूप अध्ययन अथवा श्रवण द्वारा उन्होंने अपने सम्प्रदायों में वे नियम लागू किए। त्रिदण्डी संन्यासियों की क्रिया पर जैनधर्म की श्रमण-परम्परा का पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

अन्य धर्मों पर श्रमण-परम्परा की छाप—

बुद्ध और महावीर के साधुओं में सैद्धान्तिक तथा आचार सम्बन्धी मान्यताएं तो कितनी ही एक जैसी दीखती हैं।

जामाली और गोशालक की परम्परा ने महावीर स्वामी की श्रमण-परम्परा से ही पाठ पढ़ा था।

सचमुच, महावीर की श्रमण-संस्था अपेक्षाकृत बहुत सुव्यस्थित और समुन्नत थी। आज भी महावीर के साधुओं के आचार, संयम तथा तप की धूम है। वैज्ञानिक विश्व आश्चर्य से देख रहा है कि जैन-साधु किस प्रकार इतना त्याग कर लेते हैं और अपने जीवन का कल्याण करने में सफल होते हैं। भारतवर्ष में आज भी जैन साधुओं को जितना विश्वास तथा आदर दिया गया है, वह सब महावीर की समुचित व्यवस्था का ही वरदान है।

तत्कालीन संकट और साधु-संस्था

जैन-साधु परम पर्यटक होता है। उसका घरबार-परिवार उसके कन्धों पर रहता है। ग्राम पिंडोलक और नगर पिंडोलक साधुओं को भगवान् ने पापी श्रमण तक कह दिया है, क्योंकि एक जगह अधिक देर निवास करना भी संयम शिथिलता का कारण बन जाता है।

जैनश्रमण पाद-विहारी है, वह दूसरे के सहारे के अधीन नहीं है, उसे तो अपने ही पैरों से समूची-भूमि, विकट अटवी तथा भयानक वनान्तर नापने पड़ते हैं। इसलिए शास्त्रों में साधु संस्था पर आए हुए घोरतम संकटों का विस्तृत वर्णन किया गया है। साथ ही, उस अपवाद-मार्ग का भी निर्देश किया गया है, जिसे साधु समय-असमय पर उचित विधान के अनुसार अवलम्ब रूप में अपना सके। साधु-साध्वी के सामने मुख्य समस्या चोर-डाकुओं का उपद्रव, नदी पार करने के लिए वाहन का उपयोग, रोग, बीमारी, सर्प-बिच्छु का विषैला उपद्रव मिटाने के लिए औषधोपचार, संकटकालीन स्थिति में राज-संस्था में जैन-साधुओं का हस्तक्षेप, विधर्मी राजा द्वारा उठाये गये उपद्रव का निराकरण, दुर्भिक्ष के समय भिक्षा की समस्या का समाधान, धार्मिक संकट का प्रतिकार, संघ-विपत्ति का निवारण आदि समस्त समस्याओं का समाधान—भगवान महावीर ने विवेक-पूर्ण आचरण करने के लिए अपवाद मार्गों का उल्लेख किया है।

प्राचीनकाल में श्रमण-संस्था का कष्ट-सहन

समय की बहुत विचित्र गति है। अतएव, साधु-साध्वियों के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की मर्यादा बांध दी है, जिससे समय पड़ने पर साधु समाज संघ के साथ अनुमति कर विशेष विधान भी बना सकता है, ऐसा अधिकार भगवान् महावीर ने संघ को दिया है।

यदि ऐतिहासिक शोध एवं खोज की दृष्टि से देखा जाय तो आज २५०० वर्ष पहले के पिछड़े जमाने में श्रमण संस्था को किन २ कष्टों का सामना करना पड़ा होगा, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

भयंकर वनान्तरों में होकर साधु श्रमणों को विहार करना पड़ता था। आबादियां दूर-दूर तथा बहुत थोड़ी थीं। जंगल, पहाड़, नदी-नाले, रेगिस्तान सब में होकर अपनी राह आप बनानी पड़ती थी, किन्तु ध्यान रहे, श्रमण, संसार की बाधाओं के बीच अपनी राह स्वयं बनाने के लिए ही तो आया है। लीक लीक पर चलना महावीर का मार्ग नहीं था, क्योंकि उसपर ब्राह्मणों की याज्ञिक हिंसा और क्षत्रियों के उद्दण्ड जीवन की गहरी छाप पड़ी थी।

उस काल में राज्यों की अराजकता भी साधुओं के लिए अत्यन्त कष्टकारी थी। किसी राजा के मर जाने पर, राज्य में सत्ता-प्राप्ति के लिए जो बखेड़े खड़े होते, उनका विषैला प्रभाव साधुओं पर भी पड़ता और उन्हें अनेक भांति त्रास दिए जाते।

उस समय चोर-डाकुओं के गांव के गांव बसते थे, जिन्हें "चोर-पल्लि" कहा जाता था। चोरों का नेता उनका नेतृत्व करता। ये चोर साधु और साध्वियों को बड़ा दुख देते थे।

यदि राजा विधर्मी हुआ तो जैन-साधुओं को बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ती थीं। उन्हें बहुधा गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया जाता था।

बस्ती के निकट रहने वाले साधुओं को भी इसी प्रकार कष्ट उठाने पड़ते थे। अपने उपाश्रय अथवा स्थानक का पहरा देना पड़ता था, क्योंकि वेश्याओं, चोरों, वन-जंतुओं का भय रहता था। बहुधा दुराचारिणी स्त्रियां अपने भ्रूण उनके निकट छोड़ कर चली जाती थीं। वेश्याएं आकर रहने लग जाती थीं। चोर चोरी का माल छोड़कर चले जाते थे। सर्प, बिच्छू और कुत्ते आदि से अन्य साथी संतों की निरन्तर रक्षा करनी पड़ती थी।

दुष्काल की भयंकरता का प्रभाव भी बहुत बुरा पड़ता था। पाटलिपुत्र का दुष्काल कुख्यात है, जब कि भिक्षा के अभाव में सहस्रों साधुओं को देश छोड़ना पड़ा था और अनेक आगम ग्रंथ नष्ट हो गए थे।

इस प्रकार के अनेकानेक कष्ट और आतंक विशेष उपस्थित होने पर साधुओं को धर्म एवं देह की पवित्रता की रक्षा के लिए शरीर त्याग करने को भी बाध्य होना पड़ता था।

आज के शांतिमय राष्ट्रीय जीवन में जब कि सामाजिक न्याय और राज्य-शासन की समुचित व्यवस्था है, उस काल के

कष्टों का अनुमान लगाना दुष्कर है, जिनकी जलती ज्वाला से जीवित निकल कर भगवान् महावीर के सहस्रों अज्ञात नाम साधुओं ने अपने धर्म और कर्त्तव्य का पालन किया था। वे अत्याचारी न रहे, जिन्होंने अनेक अराजकत्वकाल में हमारे पूर्वज साधुओं को अमानवीय पीड़ाएं दी थीं। वे लोग न रहे, जिनके अधर्ममय शासन में जैन-साधुओं की कष्ट-कहानियां बढ़ गई थीं, वे सब न रहे पर जैनधर्म और जैन साधु आज भी विद्यमान है। यह अन्याय, अधर्म और असत्व पर न्याय, धर्म और सत्य की जीत का सबूत है।

श्रमण और प्रचार

महावीर का धर्म किसी की जन्मगत, वर्ण-वर्गगत अथवा समाजगत-बपौती नहीं है। यह तो अन्तःशुद्धि पर बल देनेवाली अत्यन्त वैज्ञानिक विचारधारा है, जो मनुष्य को सहज-सरल तरीके से आध्यात्मिक जीवन और लौकिक-पारलौकिक मुक्ति की ओर ले जाती है। अब यह तो व्यक्ति और समाज की साधना पर निर्भर है कि वह इस अमृत में से कितनी बूंदे प्राप्त कर लें।

विचार का जीवन, प्रचार आज भी, पहले भी—

विचार का जीवन, प्रचार है। विचारधाराएं प्रचार-प्रसार के आधार पर जीवित रहती हैं। भगवान् महावीर के विचारों को प्रचार ने ही अक्षुण्ण रखा है। यद्यपि प्रचार उद्देश्य नहीं है, साध्य नहीं है, पर वह आवश्यक साधन अवश्य है।

विचारधारा का जितना विस्तार होगा, समाज में प्रचार होगा और तद् विषयक जानकारी बढ़ेगी, उतनी ही अनुयायी-वर्ग की संख्या में वृद्धि होगी और विचारधारा को भी जीवित रहने के लिए अनुकूल वातावरण मिलेगा। पारस्परिक सौहार्द, सहयोग एवं साहस का संचार होगा। महावीर सबसे बड़े प्रचारक एवं दिव्य संदेश-संवाहक थे। उन्होंने अपने समस्त साधुओं, श्रावकों, साध्वियों और श्राविकाओंका आह्वान किया कि धर्म-प्रचार के पवित्रतम अनुष्ठान में यथाशक्ति योग देकर आत्मोद्धार एवं परोद्धार करें।

भगवान् महावीर समस्त धर्म प्रचारकों, समाज व्यवस्थापकों और अहिंसा के सेवकों को सदैव प्रोत्साहन देते थे। उपासक दशांगसूत्र में गोशालक मत के समक्ष आर्हती विचारधारा को विजयिनी बनाने वाले कुण्डकोलिया श्रावक को भगवान् महावीरने 'धन्योसि कुण्डकोलियाणं तुमं' कहकर धन्यवाद दिया है।

शंख श्रावक, कामदेव तथा आनन्दादि श्रावकों का विस्तृत वर्णन, गौतम स्वामी को तपस्वी के स्वागतार्थ जाने के लिए अनुमति देना—स्कन्धक संन्यासी गौतम स्वामी के बालमित्र थे। एक बार वे उनसे मिलने आए। महावीर ने गौतम गणधर को स्वागतार्थ जाने की अनुमति दी थी।

केशीकुमार श्रमण का परदेशी को समझाने के लिए जाना, साधुओं का नगर-नगर में घूमना—यह सब व्यवस्थाएं प्रचार के लिए ही तो हुई थी। राजा परदेशी का जीवन और केशी-

कुमार श्रमण का श्वेताम्बिका जाना प्रचारवृत्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

धर्म के लिए आवश्यक है, एक अंग प्रचार—

धर्म बिना प्रचार के कभी ठहर नहीं सकता। इसीलिए भगवान् ने धर्म-प्रभावना तथा धर्म-प्रद्योत करना सम्यक्त्व के महत्त्वपूर्ण अंग माने हैं। दीक्षा से पहले भगवान् महावीर को नव लोकान्तिक देवताओंने जो प्रार्थना की है, उसमें भी आत्म-कल्याण की अपेक्षा 'सव्व जग्ग जीव हियं तित्थं पवत्तहिं' का ही उल्लेख आया है, अर्थात्—'जगत के जीवों के हित के लिए तीर्थ की प्रवर्त्तना करो।' (आचारांग-सूत्र)।

विश्व के उद्धार के लिए ही अहिंसक धर्म की स्थापना की गई है। भगवान् महावीर ने उन्हें धन्य पुरुष माना है, जो संकटों का सामना करके अहिंसा तथा आर्हती संस्कृति का प्रचार करते हैं।

महावीर और भारत की तत्कालीन अवस्था

श्रमण-परम्परा के अधिक सुव्यवस्थित करने के कारण महावीर के पास एक नैतिक सेना बनाई गई जो सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में क्रांति कर सकी।

यही कारण है कि महावीर तत्कालीन बुराइयों के विरुद्ध लड़ सके। यद्यपि उनकी विचारधारा का मोड़ निवृत्तिगामी था तथापि विधायक विचार कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। उस काल में

यज्ञों में जो हिंसा हो रही थी, उसकी अमानवीयता से समाज और प्रजा कांप उठी थी। लेकिन ब्राह्मण एवं उच्चवर्ग के सम्मिलित षड्यंत्र के फलस्वरूप किसी व्यक्ति में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह उठ खड़ा होता और असामाजिक, अमानवीय प्रवृत्तियों के संचालकों को ललकारता। समाज एक बड़ा बन्दीगृह था, जहां वर्णाश्रम और भेद की शृंखलाओं में व्यक्ति बंधा था। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के लिए उच्चवर्गों की दया और दान पर निर्भर था। उसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं थी, क्योंकि जाति और सम्प्रदाय से अन्यत्र व्यक्ति का अस्तित्व नहीं था। ऐसे अंधकारमय युग में प्रकाश की किरण के समान महावीर की महा गिरा गुंजित हुई और व्यक्ति २ को अपना मुक्तिदाता मिला। न केवल मनुष्य, वरन् पशुओं ने भी शांति की सांस ली। यज्ञ का जो धूमिल धूम्र पशुओं के लहू और मज्जा से गंधित था, अब केवल घी से पूर्ण रहने लगा।

महावीर के साधु, 'सेवक-सेना'—

ज्ञान, कर्म और पांडित्य के दावेदारों के सिर झुक गए—यह ज्ञान पर हृदय की, कर्म पर निष्काम भावना की और पांडित्य पर प्रेम की विजय थी। यह मानवता की वह सर्वोच्च स्थिति भी जो मानव में तबतक चले आए दानवत्व का अन्त करती थी। याज्ञिक हिंसा क्या बन्द हुई, मानों कराल काल के कण्ठ का "मृत्यु गीत" बन्द हो गया। प्रेमशांति और त्याग का वातावरण मुखरित हुआ।

इसके अतिरिक्त महावीर स्वामी ने तत्युगीन समस्याओं पर विस्तृत रूप से विचार प्रदर्शित किये। यहांतक कि भगवान् ने व्यापार में संतुलन, सत्य और अमूर्च्छा का श्रावक-व्रत दिया।

साधुओं के द्वारा महावीर स्वामी देश की आध्यात्मिक शिक्षा चाहते थे। सेवकों की एक ऐसी सेना चाहते थे जिनके जीवन का धर्म मनुष्यमात्र को आध्यात्मिक मार्ग पर लाना हो।

अर्थतंत्र की भावी विजय से महावीर स्वामी परिचित थे। थे। उन्होंने अपनी दूर दृष्टि से यह जान लिया था कि मनुष्य धन का दास बनने वाला है और धन से दास बनाने वाला है।

इस रोग से समाज का निदान करने के लिए महावीर ने वर्गहीन अहिंसक समाज का विधान दिया। समता तो उन्होंने दी ही, अपनी स्वल्प आवश्यकता से अधिक रखना पाप बतलाया। अपरिग्रह को उपदेश दिया। इसी प्रकार अणुव्रत व्यवस्था की।

भगवान् महावीर की महाव्रतों की व्याख्या और जीवन-मुक्ति का उद्देश्य और प्रमाद के प्रति घृणा प्रमाणित करते हैं कि वे अकर्म में कर्म और कर्म में मुक्ति का उद्देश्य साकार करना चाहते थे।

उन्होंने भारतीय जीवन में अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा करते हुए संकल्पात्मक हिंसा त्यागने पर अधिक जोर दिया है। हिंसा जीवन में होती है, पर हिंसा के कम से कम होने पर अहिंसा की ओर उन्मुख रहना ही महावीर ने श्रावक का आदर्श उद्-

घोषित किया है। यदि मनुष्य इस प्रकार जीवन व्यतीत करता है तो उसका जीवन उज्ज्वल होता है और कल्याण के निकट पहुंचता है। भगवान् महावीर ने भारत को अशुद्ध से शुद्ध की ओर, शुद्ध से शुभ्र की ओर प्रवृत्त होने का संदेश दिया है।

उनका संदेश वाणी की अपेक्षा कर्म के रूप में अधिक था। कर्म के आधार पर दिया यह संदेश समस्त चराचर के कल्याण निमित्त था।

वे अहिंसा से मैत्री, सत्य से विश्वास और अचौर्य से निष्कपट और ब्रह्मचर्य से तेज ग्रहण कर अपरिग्रह से मनुष्य को परम पुरुषार्थी बनाना चाहते थे।

भारतीय इतिहास के उन चार महापुरुषों में से, जिन्होंने आज की सभ्यता का निर्माण किया और आर्य संस्कृति की प्रतिष्ठा की, उनमें राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर हैं।

उन्होंने भोग पर त्याग को विजेता बनाया। मनुष्य कार्य करे, परन्तु उसका उद्देश्य पवित्र हो। सम्यक् ज्ञान के लिए दृष्टि शुद्ध रखकर देखे। संसार का अध्ययन करें। वृत्तियों को शुद्ध करें। जबतक मनुष्य अपना विवेक जगा, संसार पथ पर चलता रहेगा, तबतक उसके समस्त कर्म सुभाव बनते जायंगे और मुक्ति के कारण बनते जायंगे।

यही कारण है कि भारतीय अहिंसामय, संस्कृति पुरुषार्थ-मय और साहित्य जीवनमय और जीवन मुक्तिमय बन गया।

लोक-भाषा का प्रश्रय

लोक-जीवन पर इस अमृत-वाणी का अपार प्रभाव पड़ा। समाज की उच्छृंखल अव्यवस्था का अन्त आया और मनुष्य ने मनुष्य बनकर रहने का संकल्प किया। उसने अच्छा बनने का व्रत लिया।

साहित्य के विविध क्षेत्रों में मनुष्य मन की सकाम प्रवृत्तियों को अपना बीज बोने का अवसर मिला। इससे आध्यात्मिक साहित्य की उन्नति हुई और जीवन सहज स्वतंत्र हुआ और बुद्धि निरामय हुई भगवान् लोकभाषा में ही लोक-साहित्य निर्माण देखना चाहते थे। इसी हेतु उन्होंने लोकभाषा का आश्रय लिया।

वे चाहते थे कि साहित्य कलात्मक और जीवन को सुन्दर बनाने वाला हो।

महावीर की परम्परा की रक्षा—

भगवान् महावीर ने बुराई और अविवेक के विरुद्ध जो आग सुलझाई थी उसे निरन्तर जलाए रखने वाले और उसको चिनगारियों को संभालने वाले उन बुराइयों और अविवेक को नष्ट न कर सके। अविवेक उन्हें नष्ट कर गया।

जिस जड़वाद, जातिवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध महावीर उठे थे, वही जैनियों में घर कर गया।

अव्रती एवं अप्रत्याख्यानी का जैनधर्म में स्थान नहीं था, न है, लेकिन वे ही व्रतभ्रष्ट जाति से जैन कहलाने लगे।

आज महावीर-परम्परा की रक्षा करने की सर्वाधिक आवश्यकता उठ खड़ी हुई है। अहिंसा, त्याग, अपरिग्रह और प्रेम के मार्ग से जातीय जीवन विचलित हो गया है। उसे अपने मार्ग और अपनी गति पर लाना है। भगवान् महावीर की परम्परा ही उसे जीवित रख सकती है।

विश्व के नाम महावीर का संदेश

भगवान् ने अहिंसा को मुक्ति स्वरूपिणी माना है। प्रेम और अहिंसा का उनका दिव्य संदेश पिछले २५०० वर्षों से विश्व की संत्रस्त मानवता को शांति देता रहा है, लेकिन आज जब देश और विदेश की सीमाएं टूट गई हैं और मनुष्य ने समय और दूरी पर विजय प्राप्त कर ली है,उसकी समस्या और देश की सीमाएं बहुत बृहद् रूप ले चुकी हैं। संसार प्रतिपल संकटापन्न स्थिति से घिरा रहता है,क्योंकि भारत जैसे अहिंसक देशों की कमी है और कतिपय देश युद्ध और अहिंसा में ही मानव-जाति का कल्याण देख रहे हैं।

लेकिन, महावीर का मार्ग अपना कर मानव जाति एक दिव्य-शांति को प्राप्त करेगी जो अहिंसा का सम्बल बनेगा और अहिंसा संतप्त संसार को अपने शासन में लाएगी। यह शासन आत्मशासन होगा और ऐसे शासन में मनुष्य अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए जीयेगा।

तब महावीर का संदेश—अन्तर्राष्ट्रीय समाज रचना का,

विश्व-पार्लियामेंट का, विश्व-सरकार का यंत्र, तंत्र और मंत्र बनेगा।

और वह दिन दूर नहीं है, क्योंकि मनुष्यता अपनी विषमताओं और विडम्बनाओं से परित्राण पाने को बद्धपरिकर हो, खड़ी है।

महावीर-युग की स्मरणीय बातें

महावीर—प्राक्कालीन परिस्थिति
पार्श्वनाथ—भगवान् की परम्परा
महावीर तथा पार्श्वनाथ की तुलना और अन्तर
महावीर और उनका संघ
गौतम गणधर और सुधर्मा स्वामी का जीवन वृत्त
महावीर की संघ-व्यवस्था
महावीर और बुद्ध की तुलना
महावीर, सचेलत्व एवं अचेलत्व
गणतंत्र का विकास
त्रिशला और देवानंदा की चर्चा
गर्भापहरण विवेचनात्मक चिन्तन
संकटकालीन परिस्थितियां और साधु-धर्म

३. भद्रबाहु युग

श्रमण-इतिहास आज भी शोध को विषयवस्तु—

जैन-श्रमण-परम्परा का इतिहास आज भी शोध का विषय है। उसे तमसाच्छन्न कह दिया जाय तो अधिक उपयुक्त न होगा। भगवान् महावीर के १७० वर्षों तक, श्रमण-परम्परा तथा जैन-संघ सुव्यवस्थित रहा, ऐसा हम अनुमान लगा सकते हैं। क्योंकि, भद्रबाहु श्रुत केवली का नाम दोनों परम्पराओं में—श्वेताम्बर और दिगम्बर में, सामान्यता समान रूप से उद्धृत है। फिर भी, उसमें समय का भेद है।

श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार जिस १७० वर्ष की अवधि का अनुमान लगाया गया है, वही दिगम्बर आम्नाय के अनुसार १६२ वर्ष का काल कहा गया है।

उधर जम्बू स्वामी के बाद, आचार्यों के नामों में भी अन्तर है, श्वेताम्बर आम्नाय में प्रभव, श्यंयभव, यशोभद्र, आर्य संभूति और भद्रबाहु उधर दिगम्बर आम्नाय में विष्णु, नन्दी, अपराजित तथा गोवर्द्धन और भद्रबाहु—इस प्रकार के भिन्न नामों का उल्लेख किया गया है। काल-क्रम में भी इनमें अन्तर है।

दिगम्बर

केवली गौतम	१२ वर्ष (पाट पर नहीं आये)
केवली सुधर्मा	२० वर्ष
जम्बू स्वामी	३८ वर्ष
श्रुतकेवली विष्णु	१४ वर्ष
नंदी मित्र	१६ वर्ष
अपराजित	२५ वर्ष
गोवर्द्धन	१७ वर्ष
भद्रबाहु	२६ वर्ष
	१६२ वर्ष

श्वेताम्बर

सुधर्मा	२० वर्ष
जम्बू	४४ वर्ष
प्रभव	११ वर्ष
श्यंयभव	२३ वर्ष
यशोभद्र	५० वर्ष
संभूतिविजय	८ वर्ष
भद्रबाहु	१४ वर्ष
	१७० वर्ष

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों की काल-गणना में ८ वर्ष

का अन्तर है, किन्तु भद्रबाहु की मान्यता में श्वेताम्बर भद्रबाहु को १४ वर्ष तक संघाधिकारी आचार्य के रूप में स्वीकार करते हैं और दिगम्बर २१ वर्षों तक, यहीं १५ वर्षों का अन्तर पड़ जाता है।

भद्रबाहु का जन्म

भद्रबाहु का पूर्ण इतिवृत्त जानने का आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। इसके लिए हमें कुछ ग्रंथों का आश्रय लेना पड़ता है और ऐतिहासिकों की शोध पर विश्वास करना पड़ता है।

भगवान् महावीर से पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहु का समय चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन ठहरता है। महावीर के १६२ वर्षों के बाद, मगध से नन्दों के राज्य का उन्मूलन करके चन्द्रगुप्त का राज्य स्थापित कर दिया गया था। सिकन्दर की यावनी सेनाएं देश देशान्तरों को पदाक्रांत करती हुई आगे बढ़ रही थीं। राजा पुरू हार चुका था। चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य का संगठन भारत की सुरक्षा में तत्पर था।

ठीक यही समय भद्रबाहु का था।

चन्द्रगुप्त जैन थे

अब यहां सबसे पहले यह विवाद उपस्थित होता है कि चन्द्रगुप्त जैन था या नहीं ? भारतीय इतिहास के समर्थ इतिहासकार मि० स्मिथ ने अपनी खोज से यहांतक प्रमाणित किया

है कि चन्द्रगुप्त जैन था। वे लिखते हैं—"मैं अब विश्वास करता हूं कि यह परम्परा सम्भवतः मूल रूप में यथार्थ है कि चन्द्रगुप्त ने साम्राज्य का परित्याग कर जैन-मुनि का पद अंगीकार किया था।"

I am now dispesed to believe that the tradition is probably true in its main out lines and that Chander Gupta really ubdicated and became Jain ascepic.

VINCENT SMIITY
History of India 9—146

ऐतिहासिक प्रमाण

इस मत के समर्थन में डा० काशीप्रसाद जायसवाल जैसे विचारक, विद्वान् लिखते हैं कि पांचवीं सदी के जैनग्रंथ एवं पश्चात्वर्ती जैन शिलालेख यह प्रमाणित करते हैं कि चन्द्रगुप्त जैन-सम्राट् था।

The Jain Books (5th Century A. C.) and later Jain inscrption claim Chander Gupta as a Jain Imperial ascepic.

J. B. O. R.

हमारे अध्ययन ने जैन-शास्त्रों की ऐतिहासिक बात को स्वीकार करने के लिए हमें बाध्य किया है।

हमें यह बात अस्वीकार करने में कोई कारण नहीं दीखता कि हम क्यों जैन मान्यता को स्वीकार करें कि चन्द्रगुप्त ने अपने

राज्यकाल के अन्त में जैनधर्म अंगीकार किया था तथा राज्य-परित्याग कर जैन मुनि-रूप में रहा ?

इस बात को स्वीकार करने वालों में हम अकेले ही नहीं हैं, राइस साहब भी हैं, जिन्होंने आयगबेलगोला के जैन शिला लेखों का भलीभांति अध्ययन किया है। इस बात के समर्थन में अपना निर्णय दिया है।

अन्त में स्मिथ महाशय भी इसी ओर झुक गए हैं।

प्राकृत विमर्श विचक्षण रायबहादुर श्री नरसिंहाचार्य का स्पष्ट अभिमत है कि चन्द्रगुप्त एक सच्चे वीर थे और उन्होंने जैन-शास्त्रों के अनुसार सल्लेखना कर चन्द्रगिर पर्वत से स्वर्ग-लाभ किया। साथ में, यह भी लिखा है कि श्रमण-बेलगोला के चन्द्रबस्ती नाम के चन्द्रगिर पर अवस्थित मन्दिर की दीवारों पर सम्राट् चन्द्रगुप्त के जीवन को अंकित करने वाले चित्र हैं।

डा० एस० डब्ल्यू टामस ने यह भी लिखा है कि चन्द्रगुप्त श्रमणों के भक्तिपूर्ण शिक्षणको स्वीकार करता था, जो ब्राह्मणों के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। इसी बात का प्रमाण प्राचीन प्राकृत शास्त्र तिलोयपण्णत्ति से भी मिलता है—

"मउड़धरेसुं चरित्तो जिण दिक्खं धर दि चन्दगुत्तोय।
ततो मउड़धरा दुप्पव्वजजं णेय गिहंति॥" ४। १४८१॥

मुकुटधर राजाओं में अन्तिम चन्द्रगुप्त नामक नरेश ने जिनेन्द्र दीक्षा धारण की। इसके पश्चात् मुकुटधारी किसी नरेश ने प्रव्रज्या को धारण नहीं किया और न ही करेगा।

इन बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि चन्द्रगुप्त को जैन नहीं मानने वाले साम्प्रदायिक विद्वेष अथवा अविचार के कारण ही ऐसा कहते हैं। प्रो० हर्मन याकोबी चन्द्रगुप्त को अकाट्य प्रमाणों से जैन सिद्ध कर चुके हैं। अभी ही प्रो० वसन्तकुमार चटर्जी का कलकत्ता-विश्वविद्यालय की ओरसे भद्रबाहु पर लिखा, लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें यही प्रमाणित किया गया है कि चन्द्रगुप्त भद्रबाहु के अभिन्नात्मा शिष्य थे।

जैनधर्म का प्रथम प्रचार मगध में—

किन्तु, इतना तो हम सहज ही कह सकते हैं कि चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु दोनों समकालीन थे और इन दोनों का सम्बन्ध गुरु-शिष्य का सम्बन्ध था। चन्द्रगुप्त मगध का शासक था और जैनधर्म का प्रथम प्रचार मगध में ही हुआ।

ऋषभदेव, वासुपूज्य और नेमिनाथ को छोड़ कर अन्य सभी तीर्थंकरों की निर्वाण-भूमि यही मगध रहा है। आज तक के लेखक और ऐतिहासिक भद्रबाहु का जन्म-स्थान भी मगध को ही मानते हैं।

यहां आकर फिर मतभेद उपस्थित होता है कि क्या वराह मिहिर और भद्रबाहु दोनों सहोदर भाई थे? और दोनों प्रतिष्ठानपुर नगर के रहने वाले थे?

एक प्रचलित कथा के आधार पर इनका जीवन यों वर्णन किया गया है:—

भद्रबाहु के गुरु यशोभद्र ने संभूतिविजय और भद्रबाहु को 'आचार्य-पद' से विभूषित किया। इस अपमान से क्रुद्ध होकर वराहमिहिर ने जैनधर्म का त्याग कर दिया।

भद्रबाहु द्वारा उपसर्गहर स्तोत्र की रचना—

उस स्थान का अजैन राजा, वराहमिहिर की विद्वत्ता और ज्योतिष विद्या के कारण उनका भक्त था। वराहमिहिरने उस राजा को उत्तेजित कर जैनों पर अत्याचार करवाने प्रारम्भ कर दिये। जैन जनता को पीड़ित देखकर भद्रबाहु ने ज्योतिष शास्त्र के विषय में शास्त्रार्थ करके वराहमिहिर को पराजित कर दिया। इससे क्षुब्ध होकर उसने प्राण त्याग दिए। भद्रबाहु ने भावी उपसर्ग को टालने के लिए, जैन समाज के लिए, उपसर्गहर स्तोत्र की रचना की भेंट दी। इससे समस्त संकट और आधि-व्याधि से समाज सुरक्षित रह सके।

वराहमिहिर

किन्तु तर्क की कसौटी पर कसनेपर यह मत अधूरा ठहरता है। क्योंकि डा० कर्नल ने वराहमिहिर का काल अनेक प्रमाणों से ६०० ई० पूर्व स्थापित किया है। वास्तव में वराहमिहिर का समय विक्रम की छठी शताब्दी है। वह भद्रबाहु इस भद्रबाहु से भिन्न था। क्योंकि पंचसिद्धान्त नामक पुस्तक में वराहमिहिरने स्वयं लिखा है कि मैंने यह ग्रंथ शक संवत् ४२७ में रचा है। यह भद्रबाहु पहला था, जिसका समय वीर निर्वाण सम्वत्

१७० था और इसका व वराहमिहिर का समय ई० सन् छठी सदी है। 'उपसर्गहर स्तोत्र' की रचना भी दूसरे भद्रबाहु ने की थी। पहले ने नहीं।

भद्रबाहु का जीवन-वृत्त

प्रो० वसन्त कुमार चटर्जी ने भद्रबाहु का जीवन श्रमण बेलगोला के तीर्थस्थान तथा वहांके मंदिर, मूर्तियों, किंवदंतियों और लिपियों के आधार पर लिखा है। भद्रबाहु की दीक्षा वीर निर्वाण सं० १३१ के बाद आचार्य यशोभद्र के पास हुई थी। और स्थूलिभद्र की दीक्षा वीर निर्वाण सं० १४६ वर्ष अथवा १५० वर्ष होने का उल्लेख प्राप्त होता है। भद्रबाहु स्वामी ४५ वर्ष गृहस्थावास में रहे। १७ वर्ष गुरुदेव की सेवा सुश्रूषा का लाभ लिया। १४ वर्ष पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। १४ वर्ष तक वे संघ के एकमात्र आचार्य रहे। वीर निर्वाण १७० के ६६ वें वर्ष में उनका निर्वाण हुआ।

जैन-इतिहास का प्रसिद्ध दुष्काल ?—

भद्रबाहु स्वामी के जमाने में सबसे प्रमुख घटना दुर्भिक्ष पड़ने की हुई है। उसका उल्लेख भिन्न प्रकार से वर्णित, उपलब्ध हुआ है। इस दुर्भिक्ष के कारण ही जैन-संघ की एकता का दुर्भिक्ष पड़ा है। इसे हर्मन याकोबी ने इस प्रकार लिखा है कि— 'मगध में जिस समय दुर्भिक्ष फूट पड़ा, भद्रबाहु संघ रक्षार्थ-नेपाल की ओर चल दिया।'

दुष्काल में शास्त्र, संत और धर्म की सुरक्षा का सवाल और अन्यान्य संकट—

जैनधर्म के प्राचीन इतिहासकारोंने नेपाल जाने का समर्थन किया है, किन्तु हार्नेल साहब उपासकदशांग सूत्र की अंग्रेजी प्रस्तावना में लिखते हैं कि—'भद्रबाहु स्वामी दुर्भिक्ष के कारण दक्षिण भारतमें कर्नाटक की ओर चले गये थे, जिसमें महाराजा चन्द्रगुप्त भी मुनि रूप में उनके साथी ही थे, उनका नाम मुनि प्रभाचंद्र था।

किन्तु श्री मणिलाल जी म० संक्षिप्त जैन इतिहास में लिखते हैं कि पाटलिपुत्र में कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा के दिन महाराजा चन्द्रगुप्त ने पौषध किये रात्रि के पिछले प्रहर में उन्हें १६ स्वप्न दिखाई दिए, जिसमें उन्होंने १२ फन वाला नाग देखा। गुरुदेव भद्रबाहु स्वामी ने उस १२ वें स्वप्न का यह अर्थ लगाया कि उत्तर भारत में १२ वर्ष का भयंकर दुष्काल पड़ेगा।

इसके बाद, एक दिन भद्रबाहु स्वामी नगर में आहार के लिए गए। एक द्वार पर उन्होंने बच्चे को रोते-पुकारते देखा, फिर भी भीतर से किसीने उत्तर न दिया। बच्चा भूखा था, वह तड़पता रहा। भद्रबाहु को विश्वास हो गया कि दुष्काल-पूर्ण दुर्भिक्ष का आरम्भ हो गया है।

तभी, भद्रबाहु स्वामी महाराजा चन्द्रगुप्त को दीक्षा देकर दक्षिण देश में कर्नाटक की ओर चले गए।

भद्रबाहु स्वामी श्रुतकेवली थे। उनके बाद संघ में बहुत

क्षोभ हुआ। चिन्ता बढ़ गई कि अब क्या किया जाए? अकाल की भयंकरता बढ़ती गई। श्रावक-वर्ग भद्रबाहु स्वामी को याद करने लगा, किन्तु कुछ भी समाधान न मिला। समस्याएं उग्र होती गईं।

भद्रबाहु के चले जाने पर स्थूलिभद्र के हाथों में संघ की बागडोर आ गई, किन्तु,स्थूलिभद्र शास्त्रों और पूर्वोंके पूर्ण ज्ञाता नहीं थे।

श्रावक-संघ ने सर्वानुमति से यह स्वीकार किया कि स्थूलिभद्र को पूर्वों का ज्ञान-दान देने के लिए, भद्रबाहु स्वामी से प्रार्थना की जाय और उन्हें पधारने का निमन्त्रण दिया जाय। श्रावक-संघ अनेक कष्ट सहन करता हुआ भद्रबाहु स्वामी तक पहुंचा, प्रार्थनाएं कीं परन्तु भद्रबाहु स्वामी 'महाप्राण' नामक मौन-व्रत में लीन थे, फिर भी, उन्होंने श्रावक-संघ से वार्तालाप किया और अपने आने में असमर्थता व्यक्त की। तब संघ ने भद्रबाहु स्वामी को इस बात के लिए मना लिया कि वे १४ पूर्व का ज्ञान द्रव्य, क्षेत्रानुसार स्थूलिभद्र को देंगे।

श्रावक-मंडल ने वापस आकर अपना समूचा कार्यक्रम सुनाया और स्थूलिभद्र को अन्य चार साधुओं के साथ तैयार कर दिया। कदाचित् हर्मन याकोवी ने यहां ४६६ साधुओं का उल्लेख किया है, जो स्थूलिभद्र जी के साथ आगम ज्ञानार्थ भद्रबाहु के पास गए थे। किन्तु प्रो० वसन्त कुमार चटर्जी ने इस मत का खण्डन किया है कि भद्रबाहु नेपाल गए थे।

याकोबी ने एक भी शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित नहीं किया है, केवल किसी किंवदंती के आधार पर यह कहानी बनाई गई है।

हमें ४९९ साधुओं का भद्रबाहु के पास जाना, अतिशयोक्ति ही लगता है, वह भी दुष्काल समय में! हां, पांच साधु गए यह उचित प्रतीत होता है। भद्रबाहु स्वामी ने उन्हें अध्ययन कराना आरम्भ किया। लेकिन, विद्या प्राप्ति की कठिनाइयों से तीन साधुओं ने साहस छोड़ दिया। स्थूलिभद्र अधिक से अधिक साहस और रुचि से अध्ययन में प्रगति करते गए। एक दिन रूप बदलने की विद्या का प्रयोग करके सत्यासत्य का निर्णय करने लगे कि आदमी से सिंह का रूप बना लिया। निकटस्थ साधुओं को बहुत भय प्रतीत हुआ, किन्तु स्थूलिभद्र ने उसी समय अपना वास्तविक रूप बना लिया।

जब यह समाचार भद्रबाहु स्वामी के पास पहुंचा तो उनके मनमें उद्विग्नता आई, अप्रसन्नता की छाया भी। उन्होंने स्थूलिभद्रजी में १० से अधिक पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने की अयोग्यता देखी।

जब स्थूलिभद्र अगला पाठ पढ़ने के लिए गए तो भद्रबाहु स्वामी ने आगे पढ़ाने से इन्कार कर दिया। स्थूलिभद्र लौट कर मगध आ गए।

मगध में समस्त संघ का भार स्थूलिभद्र जी पर रख दिया गया।

दक्षिण में जैनधर्म की पताका फहराना

भद्रबाहु स्वामी ने दक्षिण भारत को जैनधर्म के रंग में रंग दिया। तत्कालीन दक्षिण के बहुत से राजागण, जैनधर्मानुयायी बने। तालकाड़ प्रान्त के गंग राजागण, मान्यखेट के राष्ट्रकूट और कल्चूरीय राजागण तथा मदुरा के पाण्ड्य राजागण—जैनधर्म के अनन्य श्रद्धालु थे। कदम्ब और चालुक्य वंशीय राजागण जैन न होने पर भी जैनधर्म पर विशेष अनुराग रखते थे। इसीलिए जैन लेखकों को विशेष प्रोत्साहन देते थे। अर्थ द्वारा एवं वृत्ति द्वारा। किन्तु केवल दो वंशों के पल्लव और चौल वंश के राजा जैनधर्म के विरोधी थे।

ईसा की सातवीं सदी में चीनी-यात्री ह्वेनसांग ने, जिसने हर्षवर्धन-युग का इतिहास लिखा है, समूचे कर्नाटक प्रान्त में जैनधर्म के पूर्ण प्रचार एवं प्रभाव का उल्लेख किया है। आज भी वहां की गुफाओं में प्रतीति रूप में जैन निर्ग्रन्थों के चिह्न बने हुए हैं।

कन्नड़ भाषा के जन्मदाता, उसके साहित्य को समृद्ध करने वाले और कन्नड़ की महानतम देन देने वाले जैन कवि ही थे। इस समस्त धार्मिक प्रचार, प्रभाव एवं समृद्धि का श्रेय भद्रबाहु स्वामी को है, जिन्होंने अनेक उपसर्ग सहन कर आर्हती संस्कृति का प्रचार किया।

भद्रबाहु का साहित्य

ज्योतिष ग्रंथों में भद्रबाहु-रचित 'भद्रबाहु संहिता' बहुत

प्रसिद्ध है। किन्तु इतिहास की कसौटी पर यह कृति प्रथम भद्र-बाहु की नहीं, अपितु द्वितीय भद्रबाहु स्वामी की प्रतीत होती है। अभी तक उस काल में लेखन-कला का समुचित विकास नहीं होने पाया था। 'आवृत्तिः सर्वशास्त्राणां बोधादपि गरीयसी' के अनुसार शिक्षा-नीति का निर्माण होता था। तथापि, भद्रबाहु के नाम से इन जिन ग्रंथों की रचना की गई है, जिनमें भद्रबाहु-संहिता का भी उल्लेख किया गया है। निम्न श्लोकों में वह उल्लेख प्राप्त होता है—

"दशवैकालिकस्याचारांग सूत्र कृतांगयोः।
उत्तराध्ययन सूर्य प्रज्ञप्रयो कलकस्य च ॥
व्यवहारार्थिभासितावश्यका नाम इतः क्रमात्।
दशाश्रुताख्य स्कन्धस्य निर्युक्ती शिसोतनोत्।
तथा न्यां भँगवाश्चक्रे संहितां भाद्रबाहवीम् ॥"

भगवान् भद्रबाहु ने दशवैकालिक, आचारांग, सूत्र-कृतांग, उत्तराध्ययन, सूर्यप्रज्ञप्ति, कलकव्यवहार, कृषिभाषित, आवश्यक और दशाश्रुतस्कन्ध नामक दश ग्रंथों की निर्युक्ति अथवा व्याख्या रची है। भद्रबाहु संहिता का भी निर्माण इन्हीं भद्रबाहु ने किया था।

दश ग्रंथों के रचनाकार भद्रबाहु स्वामी

इस तथ्य की पुष्टि ऋषि मण्डल स्तोत्र से भी होती है, जिसके निर्माता हैं धर्मघोष मुनि—जो कि स्थूलिभद्रजी के समकालीन थे। उस स्तोत्र में स्थूलिभद्र की बहुत प्रशंसा की गई है। किन्तु

भद्रबाहु स्वामी की प्रशंसा उस स्तोत्र में उतनी नहीं, जितनी स्थूलिभद्र जी की पाई जाती है। कदाचित् इसका कारण भद्र-बाहु का मगध से दक्षिण की ओर चला जाना है। मगध में भद्रबाहु का परिचय तथा कीर्ति अधिक नहीं होगी तो भी उनका नाम चलता अवश्य होगा। इसीलिए इस स्तोत्र में उल्लेख किया गया और साथ ही यह भी बताया गया कि वे दशाकल्प और व्यवहार नामक ग्रंथों के निर्माता हैं, ऐसे अपश्चिम सकल श्रुतज्ञानी भद्रबाहु को वन्दना करता हूँ।

इससे इतना निष्कर्ष निकलता है कि भद्रबाहु स्वामी दश-ग्रंथों की नियुक्ति करने वाले अवश्य थे। भद्रबाहु संहिता का इस स्तोत्र में कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता तो क्या इससे यह प्रमाणित होता है कि भद्रबाहु संहिता इनकी नहीं थी।

तत्कालीन संघ-स्थिति

भद्रबाहु के समय श्रावक-संघ को अधिकाधिक कार्य करना पड़ा। भद्रबाहु का कर्नाटक की ओर जाना, श्रावक संघ की विनती, कर्नाटक पहुंच कर मगध के श्रावक-संघ की प्रार्थना पर स्थूलिभद्रजी को द्वादशांगी और पूर्वों का ज्ञान देना भद्रबाहु स्वामी के शंकित होने पर और स्थूलिभद्र को पढ़ाना अस्वीकार करने पर और श्रावक-संघ के अनुरोध पर दुबारा पढ़ाना प्रमा-णित करता है कि श्री महावीर के चतुर्विध संघ में श्रावक संघ की भी बहुत बड़ी ताकत होगी।

चतुर्विध संघ की शक्ति धीरे-धीरे श्रावक-संघ में इसी

प्रकार निहित होती गई और अन्त में यह निश्चय हो गया कि कोई भी आचार्य बिना श्रावक-संघ की सम्मति के कोई भी कार्य न करे। इससे इतना तो अवश्य स्पष्ट होता है कि श्रावक संघ अपना उत्तरदायित्व समझता था और समाज के भावी सुधार की आशा को आगे रखकर बहुत से कार्य करता था। यही कारण था कि भद्रबाहु और स्थूलिभद्र जी के निवास स्थान में इतना अन्तर होने पर भी दो सम्प्रदाय और आचार्य नहीं बन सके।

स्थूलिभद्र 'आचार्य' बने

स्थूलिभद्र को, भद्रबाहु के स्वर्गारोहण के अनन्तर ही "आचार्य" पद दिया गया। यद्यपि मगध में एकमात्र प्रभुत्व स्थूलिभद्र जी का ही था। यह सब श्रावक-संघ की दूरदर्शिता का ही परिणाम था। भगवान् महावीर के समय में श्रावक-संघ की इतनी शक्तिशाली तथा सुसंगठित स्थिति नहीं थी, जितनी कि स्थूलिभद्र के काल में थी।

श्राविका-संघ की स्थिति सदा से ही उपेक्षणीय सी रही है। कहीं भी श्राविका-संघ की ओर से किए गए किसी महत्त्वपूर्ण कार्य का उल्लेख नहीं मिलता है। कदाचित् इसमें भारत की सामाजिक स्थिति, कारण बन कर रही हो।

स्थूलिभद्र

भद्रबाहु स्वामी के वीर निर्माण संवत् १७० में स्वर्गारोहण

के पश्चात् स्थूलिभद्र जी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किए गए। संभूतिविजय महाराज के सद्बोध से उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ था। उन्हींके पास इन्होंने दीक्षा ली। भद्रबाहु स्वामी के पास से द्वादशांगी अथवा १४ पूर्वों का विद्या प्राप्त की। १४ पूर्वों का मूल पाठ, १० पूर्व सार्थ ३ पूर्व की धारणापूर्वक तथा १४ वें पूर्व को अधूरा उन्होंने परायण किया था। स्थूलिभद्र के उपरान्त चार पूर्व सदा के लिए विलुप्त हो गए।

स्थूलिभद्र महा मेधावी, धर्मविचक्षण, विद्वमूर्धन्य तथा जैन-धर्म के उस समय प्राणभूत आचार्य थे। उन्होंने आचार्यत्व, संघ व्यवस्थिति के साथ २ साहित्य-निर्माण का काम भी हाथ में लिया था। मगध संघ और पाटलिपुत्र परिषद् के श्री स्थूलिभद्र जी व्यवस्थापक ही नहीं, अपितु संरक्षक भी थे।

आंग्ल भाषा में प्रकाशित उपासकदशांगसूत्र की प्रस्तावना में मि० होर्नल लिखते हैं—"भगवान् महावीर स्वामी से दूसरी सदी में बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा। उस समय पाटलिपुत्र नगर (पटना) में एक कान्फ्रेन्स हुई। उस कान्फ्रेन्स में ११ अंग तथा १४ पूर्व के जानने वाले भी जैन-साधु एकत्रित हुए। उन सबने मिलकर सारा धारा-विधान तैयार किया।

इस समूची सभा के आयोजक स्वामी स्थूलिभद्र जी ही थे। इन्होंने ११ अंगों का संकलन किया। १२ वां दृष्टिवाद नामक अंग नहीं लिखा जा सका, जो सदा के लिए फिर विलुप्त ही हो गया।

पूर्व वृत्तांत—

स्थूलिभद्र जी नागर ब्राह्मण थे और नौवें नंद राजा के मन्त्री शकडाल के ये पुत्र थे। भगवान् महावीर के निसर्ग के १५६ वर्ष बाद इन्होंने दीक्षा ली थी। इनके जीवन में चारित्र का अपार बल था। वेश्या के घर में चार मास रहने पर भी इनका मन वैराग्य में तल्लीन रहा। संसार से विरक्ति, जीवहित और आर्हती संस्कृति के प्रचार की धुन इनमें अटूट थी। साक्षात् संयम के ज्वलंत प्रतीक थे। साहित्य और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, यह भलीभांति जानते थे। यही कारण है कि समय की दुरवस्था जानकर इन्होंने कंठ विद्या को संग्रथन तथा लिपिबद्ध कराने का महत्तम प्रयास किया था।

किन्तु दुखके साथ यह लिखना पड़ता है कि भद्रबाहु स्वामी की सेवा करने वाले विशाखाचार्य भद्रबाहु स्वामी के स्वर्गारोहण के उपरान्त जब वापस मगध आए और उन्होंने देखा कि स्थूलिभद्रजी के साधु अब बनों और उद्यानों में रहते २ शहरों में जाकर रहने लगे हैं तो उन्हें बहुत बुरा लगा।

विशाखाचार्य—

स्थूलिभद्र के मुनियों और विशाखाचार्य में बहुत वार्तालाप हुआ। तथापि, एक दूसरे का समाधान नहीं हो सका। श्रावक संघ ने दुष्काल की भीषण परिस्थिति से उन्हें अवगत कराया और प्रार्थना की कि महाराज, महावीर का धर्म अनेकान्त को

मानकर चलता है। शास्त्रों में भी उद्यान और बस्ती दोनों ही स्थानों में साधु के रहने का विधान मिलता है।

चित्त और केशीकुमार श्रमण के वार्तालाप का भी उदाहरण दिया गया, किन्तु विशाखाचार्य ने एक भी बात स्वीकार नहीं की।

महावीर के मार्ग में विशाखाचार्य का विस्फोट

स्वामी स्थूलिभद्र ने भी बहुत कुछ नम्रता के साथ समझाया किन्तु विशाखाचार्य का आग्रह तनिक भी कम न हुआ।

(क)—उन्होंने एक भी बात नहीं मानी और अपने सन्तों को स्थूलिभद्र से अलग कर लिया।

(ख)—जिन शास्त्रों का संकलन किया गया था, उन्हें भी प्रामाणिक मानने से इनकार कर दिया। बस यहीं से जैनसंघ में शाखाएं फूटीं।

(ग)—किन्तु यहांतक भी ऐसा प्रतीत होता है कि विशाखाचार्य अलग अवश्य हो गए पर कोई सम्प्रदाय स्थापित न कर सके।

महागिरि की दीक्षा—

स्थूलिभद्र जी के पास १७६ वर्ष में, आर्य महागिरि की दीक्षा हुई और संघ-व्यवस्था, धर्म-प्रचार तथा आत्मसिद्धि करते स्थूलिभद्रजी का वीर संवत् २१५ में स्वर्गवास हो गया।

उसके पश्चात् स्थूलिभद्रजी की दीक्षित बहन से उनके द्वारा

कंठस्थ, जो अध्ययन थे, प्राप्त हुए। वे आचारांग और दशवैकालिक की चूलिकाओं के रूप में संग्रहित कर लिए गए थे। जो आज भी प्रसिद्ध हैं।

आर्य महागिरि एवं आर्य सुहस्ति

जैनधर्म अन्तर्शुद्धि, सत्वसंशुद्धि और आन्तरिक शुभ ध्यान पर अधिक बल देता है। अध्यात्म पद प्राप्ति के लिए जैनधर्म ने व्यवस्था का निर्माण किया है। साधन करने वाले साधुओं के लिए आचार-शास्त्र बनाया है। किन्तु साधु-संस्था को भी दो हिस्सों में विभाजित किया है। एक जिनकल्प में, दूसरा स्थविर कल्प में। श्री महावीर तथा उनके समकालीन बहुत से साधु देहदम, इन्द्रिय-संयम तथा आचार का पालन बहुत कठोरता से करते थे। नग्नता, वन-विहरण देह के प्रति सर्वथा उपेक्षा, जीवन मरण से निश्चिन्त, तपस्वीपन, ध्यानमग्नता तथा चिन्तन-तत्परता आदि उनके विशेष गुण थे। समाज के साथ वे कोई सम्बन्ध नहीं रखते और संघ-व्यवस्था की अपेक्षा आत्मशुद्धि ही अपना प्रधान लक्ष्य मानते थे। उन्हें "जैनधर्म" की परिभाषा में जिन-कल्पी कहा जाता है।

विशाखाचार्य का मतभेद सम्प्रदाय में परिणित होकर श्वेताम्बर दिगम्बर बना

समाज, संघ तथा नगरों में रहकर आत्मविकास के साथ साथ समाज-कल्याण करने वाले साधुओं को स्थविर कल्पी

कहा जाता है। इस विषय में संतबाल जी ने अच्छा प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि—"सम्भवतः दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति जिनकल्पी शाखा से हुई देखिये—उनकी पुस्तक "इतिहास की रूप-रेखा।" श्वेताम्बर और दिगम्बर शब्द बहुत पीछे से चले हैं। किन्तु मुझे यह बात अधिक समीचीन लगती है कि स्थूलिभद्र जी और विशाखाचार्य का मतभेद तो पहले ही खड़ा हो गया था। धीरे-धीरे यही मतभेद दो शाखाओं में बंट गया, जो कालान्तर में दिगम्बर और श्वेताम्बर कहलाई गई।

इन दोनों सम्प्रदायों के जन्म में एकान्तिक आग्रह तथा समन्वय वृत्ति का अभाव ही काम कर रहा है। संघ-हित तथा समझौते की भावना जब कम हो जाती है तब मनुष्य में नए सम्प्रदाय की धुन सवार होती है। जब दर्शन, ज्ञान, चारित्र और लोक-हित प्रदर्शन के पथ पर अग्रसर होते हैं, तब वे सम्प्रदायों में बंट जाते हैं और उन्हें व्रत के स्थान पर पाखण्ड का स्वप्न मिलता है।

भद्रबाहु और स्थूलिभद्र के साधुओं में मूलतः कोई अन्तर नहीं था। केवल देश-भेद, परिस्थिति-भेद पड़ जाने से आपस की क्रियाओं में कुछ अन्तर आ गया। स्थूलिभद्र के साधु दुष्काल की भयंकरता के आगे अपनी कठोरवृत्ति को पूर्ववत् नहीं रख सके। वस्त्र, पात्र, उपाश्रय आदि की नीति में कुछ शिथिलता आ गई, जिसे भद्रबाहु के साधुओं ने परिस्थिति जन्य परिवर्तन स्वीकार न करके और भविष्य में नए सुधार की आशा

न करके अपने आपको अलग रखा। इन्होंने स्थूलिभद्र के साधुओं को शिथिलाचारी कहना प्रारम्भ कर दिया, जिसका परिणाम बहुत बुरा निकला। भद्रबाहु के साधु अपने आपको जिनकल्प की व्यवस्था के पालक साधु कहलाते थे। इधर स्थूलि-भद्र के साधु—जिनकल्प की जगह स्थविरकल्प को प्रतिष्ठित कर रहे थे। अभी कल्याणविजय जी गणी ने प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि जम्बूस्वामी वीर सं० के चौंसठवें वर्ष में ही जिन-कल्प मर्यादा समाप्त हो गई थी। उसके बाद साधुओं ने वस्त्र, पात्र, उपाश्रय तथा उपकरणों की उपयोगिता स्वीकार कर ली थी, जिससे स्वाभाविक था कि कुछ शिथिलता आए। दूसरी बात जैन-श्रमण संघ की रक्षा और धर्म-प्रचार की महत्ता को अधिकाधिक समझने लग गए थे। इसीलिए, उपदेश-ग्रंथों की रचना-निमित्त मन्त्र-शास्त्र का निर्माण तथा इनका उपयोग भी जैन-श्रमणों में प्रचलित हो गया था। यद्यपि इन तमाम क्रियाओं का एकमात्र उद्देश्य जैनधर्म का प्रचार मात्र था।

सचेलक एवं अचेलक तत्व

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर संघ-समन्वय से ही, दोनों तत्व प्रारम्भ में विद्यमान थे। ऐसे समय महागिरि और सुहस्ति का प्रादुर्भाव हुआ। जब कि वस्त्र, पात्र, सचेल, अचेल, वसनि, वन आदि क्रियाओं की चर्चा मात्र थी। किन्तु महा-गिरि और सुहस्ति के आपसी विवाद और विभिन्नमुखी वृत्तियों ने इन चर्चास्पद विषयों को सम्प्रदाय का रूप दे दिया। इसका

मूल कारण आचार्य पदलालसा ही कहना होगा। स्थूलिभद्र के स्वर्गवास के उपरांत संघ ने आचार्य-पद महागिरिजी को दिया। श्री सुहस्ति को यह बात कुछ रुचिकर प्रतीत नहीं हुई। फिर भी वह एक शालीन पुरुष थे और अपने युग के प्रधान एवं प्रकाण्ड विद्वान् थे। दोनों संतों में प्रेम बना रहा।

आचार्य महागिरि ने अपनी वृद्धावस्था में आकर अपने शिष्य, वस्त्र, पात्र आदि समस्त उपकरण सुहस्ति स्वामी को सौंप दिए और आप जिन-कल्पी हो गए। आर्य महागिरि सुहस्ति स्वामी का गुण-गान किया करते थे, उन्हें सुहस्ति स्वामी से अनन्य प्रेम था, किन्तु कल्प दोनों का भिन्न २ था।

आचार्य महागिरि से दशपूर्वी नागसेनाचार्य और सिद्धार्थाचार्य ने दीक्षा ली थी, जिन्होंने द्रव्यानुयोग ग्रंथ का निर्माण किया था। वी० नि० सम्वत् २४५ में आचार्य महागिरि का गजेन्द्रपुर में स्वर्गवास हुआ। तत्पश्चात् आचार्य सुहस्ति स्वामी को आचार्य बनाया गया।

आचार्य सुहस्ति और राजा सम्प्रति—

आचार्य सुहस्ति स्वामी बहुत प्रभावशाली थे। इन्होंने ही कुणाल के पुत्र को जैनधर्मावलम्बी बनाया था। कुणाल का पुत्र "सम्प्रति" अशोक का पौत्र था।

सम्प्रति का जन्म ई० पू० २५७, वीर निर्वाण संवत् २७० पौष मास में हुआ था। इसी वर्ष इन्हें मगध-साम्राज्य का उत्तराधिकारी बनाया गया। वीर निर्वाण सं० २८५ में अवन्ती

पति के पद पर अभिषिक्त हुए और २८७-२८८ में इन्हें जाति-स्मरण ज्ञान हुआ।

२६१-६२ में ये मगध-सम्राट् बने। विदेशों पर विजय प्राप्त की।

ई० पू० २३५ में आचार्य सुहस्ति का स्वर्गवास हुआ।

ई० पू० १६१ तक आचार्य गुणसुन्दर रहे। उन्होंने सम्प्रति को जैनधर्म के प्रचारार्थ नियुक्त किया।

सम्प्रति का स्वर्गवास ई० पू० २०३ और वीर निर्वाण ३२३ में हुआ।

गुप्त वंश—चंद्रगुप्त-कालसे ही जैन धर्मावलम्बी था। अशोक स्वयं पहले जैन थे। इस विषयक अधिक प्रमाण के लिए देखिए, कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' का प्रथम-सर्ग, श्लोक १०१, १०२, जिनमें स्पष्ट लिखा है कि अशोक जैन था। कल्हण ने यह भी लिखा है कि अशोक ने काश्मीर में जैनधर्म का प्रचार किया। उनका कहना है:—

"यः शांत वृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम्।
पुष्कलेऽत्र वितस्तात्रौ तस्तार स्तूप मण्डले॥"

प्रो० कर्ण की धारणा है कि—"अहिंसा के विषय में अशोक के आदेश बौद्धों की अपेक्षा जैन-सिद्धान्तों के अधिक निकट हैं। अशोक के धर्मचक्र के २४ आरे २४ तीर्थंकरों को सूचित करते हैं। राजा बलिधे नामक कन्नड़ ग्रंथ में अशोक को जैन बताया है।

डा० थामस ने अपनी पुस्तक "अर्ली फैथ ऑफ अशोका" में भी इस बातका पुष्ट प्रमाण दिया है।

लेकिन अशोक बाद में बौद्ध बन गया। फिर अशोक के पौत्र सम्प्रति राजा को सुहस्ति स्वामी ने जैनधर्म की दीक्षा दी। सम्प्रति भारतवर्ष का सर्ववर्चस्वी सम्राट् हुआ है। उसने राज्य-धर्म के साथ-साथ जैनधर्म और आर्हती संस्कृति का विश्वभर में प्रचार किया। ब्रह्मदेश, आसाम, तिब्बत,अफगानिस्तान, ईरान, तुर्की और अरबस्तान में उस समय अहिंसा धर्म की वैजयन्ती लहरा रही थी। गणना के अनुसार उस समय जैनों की संख्या ४० करोड़ आंकी जाती है। उस समय जैनधर्म-राज्यधर्म था। व्यापक रूप से मान्य था। ईसा और मुहम्मद उस समय पैदा भी नहीं हुए थे।

कर्नल टॉड ने उस समय के जैनधम प्रसार की बात इति-हास की कसौटी पर कसकर लिखी है कि—"अग्नि कुल के राजा जैनधर्म को स्वीकार करते थे। राठोड़ी, घांदुल, माड़ाइल, चाक्रीट, दुहरिया, खोका, बदुरा, याजिरा, रामदेव, काश्रीया, हांतुड़िया, मालाकात, सुएड़, काटाइया, मुहोली, भोगदेव महा-इचा, जेर्शिगा, मुरसीमा, जोटसिया, जोरावरा आदि राज-स्थानी जातियां जो उपराजपूत वर्ग की हैं, जैनधर्म की अनुया-यिनी थीं।"

प्राचीन भारत में जैनों की संख्या कई कोटि—

यहां आकर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में

जैनधर्म भारतवर्ष में बहुत प्रसिद्धि पा चुका था और उसके अनुयायीवर्ग की संख्या करोड़ों तक पहुंच चुकी थी। इस प्रचार कार्य में प्रधान हाथ सम्प्रति राजा का रहा है।

राजा सम्प्रति आचार्य सुहस्ति को अपना गुरु मानता था और अशोक की तरह जैनधर्म का प्रचार करता था। जैनधर्म के प्रति सम्प्रति का योगदान तो बहुत विस्तृत है, हम तो संक्षिप्त परिचय मात्र देकर जैन परम्परा का वर्णन करेंगे।

यहां पर सम्प्रति का विशेष उल्लेख करने का मेरा उद्देश्य केवल इतना ही है कि जैनधर्म-विश्वधर्म बनने की योग्यता रखता है। जब जब उसे राजाश्रय तथा शुभ निष्ठावान् प्रचारकों का सुयोग प्राप्त हुआ है, तब-तब जैनधर्म राज्यों पर भी शासन करता रहा है।

"विश्ववाणी" पत्रिका में प्रकाशित हुआ है:—

"सम्राट् सम्प्रति ने अरबस्तान और फारस में जैन-संस्कृति केन्द्र स्थापित किए थे। वह बड़ा शूरवीर और जैनधर्म का अनन्य उपासक था।"

प्रो० पिशल और मुकर्जी ने ऐतिहासिक खोज के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि—"अशोक के नाम से अनेक शिलालेख यथार्थ में सम्प्रति के हैं। प्रियदर्शी के रूप में अशोक का ही वर्णन किया गया है।"

"इपी टोम ऑफ जैनिज्म" में सम्प्रति को महान् वीर,

जैननरेश एवं धर्म प्रवर्धक बताया है, जिसने सुदूर देशों में जैन-धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया था।

आचार्य महागिरि और सुहस्ति का ऊपर जो वर्णन आया है उसका विस्तार देते हुए ऐतिहासिकों ने लिखा है कि—"आचार्य महागिरि और सुहस्ति में पर्याप्त मतभेद था।"

किसी २ विद्वान् का विचार है कि सुहस्ति महागिरि के शिष्य थे। किसीके विचार से दोनों स्थूलिभद्र के शिष्य थे और गुरुभाई थे।

श्री मणिलाल जी महाराज ने अपने ग्रंथ—"प्राचीन जैन-धर्म नो इतिहास" में तथा डा० जगदीशचन्द्र ने अपनी पुस्तक "महावीर वर्द्धमान" में श्री सुहस्ति को आचार्य महागिरि का शिष्य बताया है।

किन्तु मुनि श्री सन्तबाल जी तथा अन्य पंडितगण दोनों संतों को स्थूलिभद्र जी के शिष्य बताते हैं।

यदि सुहस्ति को महागिरि का शिष्य स्वीकार कर लिया जाय तो महागिरिजी के आचार्य बनने पर सुहस्ति को रोष नहीं होना चाहिए था। यदि दोनों को गुरुभाई मान लिया जाय तो कमसे कम यह विवाद शान्त हो जाता है।

खैर, कुछ भी हो, दोनों आचार्य जैनधर्म के प्राणभूत आचार्य थे।

आचार्य सुहस्ति ने जैनधर्म का संदेश समस्त विश्व में फैलाने का प्रयास किया—

श्री सुहस्ति आचार्य के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह

थी कि उन्होंने जैनधर्म का सन्देश सारे संसार में पहुंचाने का प्रबल प्रयत्न किया था। ये स्थविरकल्प में थे। समाज-सुधार, धर्म-प्रचार तथा आर्हती संस्कृति का प्रसार ही इनका मुख्य ध्येय था। यही कारण है कि एकान्तिक आत्म-साधना करने वाले मुनिराज श्री सुहस्ति के साथ न रहकर जिनकल्पी महागिरि का अनुकरण करने लग गए थे। यही था मूल कारण श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदाय बनाने का।

"थूलभद्दं जाव सव्वेसिं एक संभोगी आसी। थूलभद्द जुगप्प क्षणा दो सीसा, अज्ज महागिरी अज्ज सुहत्थिओ। अज्ज महागिरी जेठो, अज्ज सुहत्थी तस्सठि, एगोथूलभद्द सामिणा। अज्ज सुहत्थिस्स जुओ गणो दिन्नो। तहापि अज्ज महागिरी अज्ज सुहत्थि पीतिवसेण एकूकतो विरहन्ति।" निशीथ चूर्णी हस्तलिखित प्रति, पंचम उद्देश्य, पृ० १८० (मुम्बई के गोड़ी जी उपाश्रय में है)।

अर्थात्—स्थूलभद्रजी के सर्व साधुओं का एक ही आहार था। स्थूलभद्रजी के दो शिष्य थे—आर्य महागिरि और सुहस्ति। महागिरि ज्येष्ठ थे। आर्य महागिरि को योग्य जानकर गणभार सौंप दिया गया। तो भी प्रीतिवश आर्य महागिरि-सुहस्ति स्वामी के साथ विचरते रहे। इसीका दूसरा प्रमाण है—'कल्प दीपिका' में भी इस प्रकार पाठ प्राप्त होता है।

कल्पसूत्र, कल्पलता में यही पाठ लगभग इसी भांति प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आर्य महागिरि और

सुहस्ति—दोनों गुरु भाई थे और दोनों में अनन्य प्रेम था। इतना अवश्य है कि आर्य महागिरि जिनकल्पी व्यवहार का पालन करते थे।

डाक्टर स्मिथ ने तो यहांतक लिखा है कि सम्प्रति के राज्य शासन के सलाहकार आर्य सहस्ति ही थे जिनकी शोभामय प्रवृत्ति एवं योग्य मन्त्रणा के कारण सम्प्रति का राज्य इतना विशाल और व्यवस्थित बन सका।

महाराजा खारवेल

यहां दूसरी सदी के महाराजा खारवेल का वर्णन कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा। अभी महाराजा खारवेल के विषय में एक प्रश्नात्मक विवरण प्राप्त हुआ है। किन्तु, अभी ऐतिहासिकों को यह मालूम न हो सका कि खारवेल कौन-से सम्प्रदाय तथा कौन-से आचार्य की शिष्य-परम्परा में से थे। यदि भगवान् महावीर की परम्परा में से किसी भी साधु के वे शिष्य होते तो अवश्य उस आचार्य का भी नाम तथा महाराजा खारवेल का संयुक्त नाम प्राप्त होता। जहां इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रचण्ड साहसी महाराजा खारवेल जैनधर्म का अनन्य उपासक था, वहां यह पता नहीं लगता, उन्हें किस आचार्य से जैनधर्म की दीक्षा प्राप्त हुई थी? इससे सहज में ही अनुमान लग सकता है कि वह जैन थे किन्तु, सम्भवतः तत्कालीन पार्श्वा-पत्यिक मुनियों के सत्संग से ही ये उद्बोध उन्हें प्राप्त हुआ हो।

पार्श्वापत्यिक संघ अभी खण्डित रूपमें विद्यमान था। सामूहिक रूपसे पार्श्वापत्यिक संघ केशी-गौतम संवादके बाद, महावीर-संघ में विलय हो गया था। किन्तु कुछ साधु और कुछ श्रावक अलग रह गए थे। उन्हीं साधुओं की कृपा से खारवेल जैन बना था, और वह महावीर के अनुयायी की जगह, पार्श्वनाथानुयायी रहा हो।

खारवेल न तो क्षेत्रवंशीय परम्परा में थे और न ही चेदी वंशीय थे वरन् वे चेरवंशज थे। क्योंकि महाराजा खारवेल वैशाली के अधिपति महाराजा चेटक के पुत्र शोभनरायकी परम्परा में से ही थे। और संभव है कि वे पार्श्वापत्यिक श्रावक ही रहे हों। शोभनराय की आठवीं पीढ़ी में क्षेमराज अथवा खारवेल राजा हुआ था।

खारवेल के पार्श्वनाथानुयायी होने से ही वीर पट्टावली और आचार्य परम्परा में तथा आचार्यों के राजा शिष्य की गणना में खारवेल का नाम उपलब्ध नहीं होता।

खारवेल के समय, दुष्काल के कारण बहुत सा साहित्य नष्ट हो गया था। खारवेल ने फिर आर्य महागिरी की परम्परा के श्री बलिस्सह, बोधिलिंग धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदि दो सो जिनकल्पी वृत्ति वाले साधु और आर्य सुस्थित, आर्य सुप्रतिब्द्ध उमास्वामी तथा श्यामाचार्य आदि तीन सौ साधुओं को एकत्र कर जैन-साहित्य का पुनरुद्धार कराया।

पुष्यमित्र-परिचय

खारवेल, इतिहास प्रसिद्ध राजा थे। इनकी रानी भी जैन थीं। अग्निमित्र, मीरेडर की भयंकर लड़ाई में इनका बहुत उल्लेख प्राप्त होता है। इनकी वीरता की धाक भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी प्रस्तुत थी। ये वीर, वर्चस्वी, नीतिज्ञ और भारतवर्ष के प्रतापी सम्राट् थे।

श्री जायसवाल ने उड़ीसा के खण्डगिरि पर प्राप्त ईसा की दूसरी शताब्दी के शिलालेख का उद्धरण देते हुए लिखा है कि—
"खारवेल कलिंग का बहुत बड़ा प्रतापी जैन सम्राट् था।"

श्री मो० र० देसाई ने अपने जैन साहित्य के संक्षिप्त इतिहास में लिखा है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में उत्तरापथ से लगाकर पण्डम देश पर्यन्त महाराजा खारवेल की विजयपताका लहराती थी।

पंडित सभा द्वारा पुनर्प्राप्ति आगमों की अस्वीकृति—

इसके अतिरिक्त दूसरे शिलालेख में यह भी उल्लेख पाया जाता है कि—

"चन्द्रगुप्त के समय में (पाटलिपुत्र परिषद्) जैन साधुओं और पंडितों की सभा हुई थी, उसमें लुप्त हुए जैन आगमों को फिरसे व्यवस्थित किया गया था। किन्तु इस आगमोद्धार को बहुत से जैन साधुओं ने प्रामाणिक रूप से स्वीकार नहीं किया था।"

उपरोक्त शिलालेख में आगे लिखा है कि—"खारवेल ने मौर्यकाल में नष्ट हुए अंगसप्तक के चौथाई भाग का पुनरुद्धार कराया था।"

इन प्रमाणों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि खारवेल जैनधर्म में कितनी रुचि लेते थे और उनका जैनधर्म के प्रचार में कितना हाथ रहा है। इतना निश्चित है कि ये राजा भद्रबाहु के निकट-काल में हुए थे।

आचार्य गुण सुन्दर जी

आचार्य सुहस्ति के स्वर्ग-गमन के पश्चात् वि० सम्वत् २६१ में आचार्य गुणसुन्दरजी को संघ का भार सौंपा गया। उस समय सम्प्रति महाराजा का वर्चस्व पूर्ण वैभव में पूर्णोज्जवल रूप में था। सम्प्रति को आचार्य गुणसुन्दरजी पर अगाध श्रद्धा थी। आचार्य गुण सुन्दरजी सम्राट् सम्प्रति के आचार्य सुहस्ति की तरह ही राज्य गुरु थे। गुणसुन्दरजी के कथन पर सम्प्रति ने जैनसंघ के लिए अविस्मरणीय कार्य किए। सम्राट् सम्प्रति का विस्तृत विवरण गुजराती इतिहास में उपलब्ध होता है, जिससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि समूचा सम्प्रति-साम्राज्य आचार्य गुणसुन्दरजी के इंगित पर संचालित होता था। 'संभव है कि डा० स्मिथ ने इसी आधार पर यह लिखा है कि गुप्त साम्राज्य की मन्त्रणा में जैन मुनियों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ था। यही कारण है कि उस समय देश अधिक से अधिक अहिंसा की

प्रतिष्ठा कर सका। वीर वि० सं० ३३५ में आचाय गुणसुन्दरजी का स्वर्गवास हो गया।

निगोद व्याख्याता कालिकाचार्य

जैन इतिहास की कड़ियां यहां आकर बिखर जाती हैं। एक ओर आचार्य गुणसुन्दरजी का नाम मिलता है—दूसरी ओर सुप्रति बुद्ध आचार्य का। तो भी उस समय के समूचे इतिवृत्त के अध्ययनोपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सम्प्रति के मृत्यु के अनन्तर और गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद जैनसंघ का उत्कर्ष निम्न मुखगामी हो गया था। इसलिए, साधु परम्परा राज्य-गौरव पद से निम्नस्तर पर आ गई थी। इस समय कालिकाचार्य एक महानतम व्यक्तित्व को लेकर आगे आये और उधर उमास्वामी ने जैनधर्म को, साहित्य की भाषा में, एक अनोखा पथ-प्रदर्शन दिया। लगभग ये सब सम-समान-कालीन आचार्य थे। फिर भी हम पहले कालिकाचार्य का ही वर्णन करेंगे, किन्तु कालिकाचार्यके वर्णन से पहले हमें एक निर्णय अवश्य करना होगा कि कालिकाचार्य कौन थे? कौन-से थे? और कितने थे? (देखिए—"जैन-साहित्य नो इतिहास"—मो० द० देसाई)

कालिकाचार्य नाम के तीन आचार्यों का इतिवृत्त प्राप्त होता है। सर्वप्रथम कालिकाचार्य प्रथमानुयोग अर्थात् धर्मानुयोग की रचना करने वाले थे, जिसकी साक्षी हमें पाटण के ताड़पत्र भण्डार में से प्राप्त एक गाथा से होती है।

"अचित जिनवते नवशत्या अत्ययेत्र शरदां जिनमोक्षात्।
काल को व्यधित वार्षिकामार्यः पूर्वभाद्रपद शुक्ल चतुर्थ्याम्॥"

कालिकाचार्य जिन्होंने पर्यूषण पंचमी पूर्व भाद्रपद शुक्ल को चतुर्थी का रूप दिया था। उनका समय वीरात् ९९३ बैठता है। किन्तु हमारे प्रतिपाद्य विषय इस समय द्वितीय आचार्य हैं, जिनका समय ४५३ है। किन्तु मणिलाल जी महाराज ने उनका समय ३७५ ठहराया है। संभव है, उन्होंने किसी पट्टावलि का अनुकरणमात्र ही किया हो।

पिटर्सन की रिपोर्ट के आधार पर यह समय ३८५ लिखा है। तथापि, इन तमाम शोधों में से ४०० से लेकर ४५३ तक हमें उनका समय निर्धारित करना ही होगा। अभी तो कालिकाचार्य के नाम से गुजराती में एक बहुत बड़ा ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। उज्जैन (मध्यभारत) से प्रकाशित विक्रम अभिनंदन ग्रंथ में भी कालिकाचार्य का उल्लेख मिलता है।

कालिकाचार्य का जीवनवृत्त

कालिकाचार्य क्षत्रिय राजकुमार थे। इनके एक बहन थी, जिसका नाम सरस्वती देवी था। दोनों भाई बहन पर वैराग्य का रंग चढ़ा, आर्हती दीक्षा ग्रहण कर ली। कालिकास्वामी को संघ का आचार्य बना दिया गया और उधर सरस्वती महासति को प्रवर्तिनी, "कथावलिकार" ने लिखा है कि—"उस समय का राजा गर्दभिल्ल बहुत विषयान्ध और दुष्टप्रकृति का था, उसने

एक बार सरस्वती महासती के यौवन का उभार और तेजस्वी मुखमण्डल देखा तो मुग्ध हो गया। उसके मन में विलास और विषय से परिपूर्ण दुष्टता यहांतक पहुंची कि अपने सेवकों द्वारा महासती का अपहरण कराया और उन्हें अपने महल में बंदिनी बना दिया।"

सरस्वती के सतीत्व की रक्षा, तपस्वी का तेजस्वी स्वरूप–

जब राजा को कुछ समझाने-बुझाने पर भी कुछ बस न चला तो कालिकाचार्य ने साधुवेष त्याग कर सिंधु देश के छज्जु सामन्तों का संगठन किया और एक विशाल सेना लेकर गर्दभिल्ल का मान भंग कर दिया। अपनी बहन को विमुक्त किया और पुनः अपने पद पर प्रतिष्ठित किया।

कालिकाचार्य ने इस महानतम कार्य को भारतीय संस्कृति परम्परा के अनुरूप ही पूर्ण किया। इस युद्ध में प्राणिहत्या तो हुई पर आचार्य कालिका का उद्देश्य स्पष्ट था। वे हिंसा करना नहीं चाहते थे, वे तो केवल राजा को राज्य-धर्म पर स्थिर रखना चाहते थे और महासती सरस्वती के सतीत्व का रक्षण उनका उद्देश्य था। जब उनका कोई उपाय सफल न हुआ तो, उन्हें यह मार्ग अपनाना पड़ा। हमें इस युद्ध की हिंसा को न देखकर, राज्यपतन, देशविनाश, सतीत्व अपहरण और प्रजा बलात्कार जैसे महान पापों को आगे रखना चाहिए। नैतिक दृष्टि से उन्होंने हमारे सामने एक महान् आदर्श रखा है। बहन

की सांगोपांग रक्षा, जैनधर्म की प्रभावना को कम न होने देना और कार्य की सफलता पर उसी प्रकार दीक्षा देकर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होना कालिकाचार्य के अभूतपूर्व पवित्र गुणों का प्रकाशन है।

हमें समस्त जैन-साहित्य में अहिंसा निग्रह और अनुग्रह के समुज्ज्वल रूपों का इससे सुन्दर परिपूर्ण उदाहरण दूसरा प्राप्त नहीं होता।

" वाचक उमास्वाती "

वाचक उमास्वाती की परम्परा तक जैन इतिहास में बहुत से उलटफेर आ चुके थे। जैन-परम्परा को धार्मिक और सांस्कृतिक प्रसार के साथ-साथ राजधर्म की प्रतिष्ठा भी मिल चुकी थी। इसलिए समस्त आचार्यों का सामाजिक संगठन के साथ साथ साहित्य संवर्धन की ओर भी ध्यान गया। भद्रबाहु और कालिकाचार्य तक तो आगम युग का ही संग्रथन हुआ, जिनकी भाषा प्राकृत थी। किन्तु जैनधर्म को सर्वांग सम्पूर्ण बनाने के लिए आवश्यकता इस बात की थी कि जैन-साहित्य संस्कृत में भी अभिवृद्धि पाए। सूत्र के रूप में, दर्शन के रूप और सभी रूपों में।

जैन-परम्परा में कालिकाचार्य और उमास्वामी का समय ऐसा विलक्षण प्राप्त होता है कि जिसमें समस्त जैन-संघ की शक्ति एक आचार्य के हाथ से हटकर बहुत-से आचार्यों के

हिस्से में बंट गई। इसका कारण है कि जिनकल्प और स्थविर-कल्प ने दो दीवारें तो खड़ी कर ही दी थीं। इनके पश्चात् मान्यताओं के आधार पर सम्प्रदाय खड़े होने लगे और देखते देखते कई नए सम्प्रदाय खड़े हो गए। भिन्न २ आचार्य नियुक्त होने लगे। स्थूलभद्र से पहले जैन-परम्परा में दूसरे किसी भी अन्य आचार्य के होने का संकेत न मिलता है। किन्तु, महाराजा खारवेल के सप्तांग शोधन कार्य में हम कितने ही आचार्यों को एकत्रित हुआ पाते हैं। जैसे—नक्षत्राचार्य, देवसेनाचार्य, उमा-स्वामी, श्यामाचार्य आदि—यही कारण है कि आचार्यों की क्रमशः परम्परा आचार्य सुहस्ति के समय समाप्त हो गई थी। विभिन्न आचार्य बन चुके थे। यद्यपि श्यामाचार्य के लिए भी बहुत-सी अटकलें लगाई गई हैं, तो भी, पूर्ण विश्वस्त जीवनवृत्त अभी प्राप्त नहीं, एवं निश्चित नहीं हो पाया है। तथापि तत्त्वार्थ भाष्य की प्रशस्ति में इनका जीवन इस प्रकार प्राप्त होता है—

उमास्वाती का जीवन परिचय

श्री उमास्वाती उच्च नागरी शाखा के थे। न्यग्रोधिका नामक ग्राम में इनका जन्म हुआ था। उनकी माता का नाम वात्सी (वत्स-गोत्रजा) था और पिता का नाम कौशीषणी गोत्रीय स्याति था। वे वाचकमुख शिवश्री के प्रशिष्य और सूत्रधार घोषनन्दी मुनि के शिष्य थे। विद्यागुरु के नाते महावाचकश्रमण मुंडपादके शिष्य एवं वाचनाचार्य मूलजी के भी शिष्य थे।

आज तक इनका समय अनिश्चित रहा है तो भी श्री

नाथूराम प्रेमी ने मैसूर के नगर तालु नं० ४६ शिलालेख से इन्हें यापनीय संघ का सिद्ध किया है। वह शिलालेख इस प्रकार है:—

"तत्वार्थ सूत्र कर्त्तारं उमास्वामि मुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलि देशीयं वन्देऽहं गुणमंदिरम्॥"

इस श्लोक में उल्लिखित श्रुतकेवलि देशीय विशेषण से सिद्ध होता है कि ये यापनीय संघ के संघाग्रणि थे, क्योंकि यह विशेषण शाकटायन को भी लगाया गया है।

समय

स्वयं उमास्वाती ने अपने को उच्च नागरी शाखा का सदस्य बताया है। इस शाखा का जन्म आर्यादिन के शिष्य शांति श्रेणिक के समय हुआ था। आर्य दिन का समय वीरात ४२१ है। इसके बाद ही इस शाखा की स्थापना हुई है। उमास्वाती के पूर्व तो यह थी, परन्तु, वे इसके पूर्व नहीं हो सकते। तात्पर्य यह हुआ कि इनका समय ४ और ५ सदी है। पं० सुखलाल जी और अन्य विद्वानों ने इन्हें ३ से ५ सदी के बीच माना है। किन्तु प्रभावना सूत्र की टीका में बतलाया है कि आर्य महागिरि के दो शिष्य हुए — बहुल और बलिषद। इनमें से बलिषद के शिष्य ही तत्वार्थ आदि ग्रंथों के निर्माता वाचक उमास्वाती हैं। वीरात् ३७६ में प्रज्ञापना सूत्र के कर्त्ता श्री श्यामाचार्य का स्वर्गवास हुआ था, ऐसी स्थिति में उमास्वाती का वीरात् ३७६ से पहले ही होना संभव हो सकता है।

साहित्य-निर्माण

उस समय तक के आगमों में जैन-प्रमेयों का वर्णन विप्र-कीर्ण था। अतएव जैनधर्म का तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, जीवविद्या और पदार्थ-विज्ञान आदि नाना प्रकार के विषयों का एक साथ निरूपण करने वाले ग्रंथ की आवश्यकता की पूर्ति उमास्वाती के तत्वार्थ सूत्र ने की। तत्वार्थ सूत्र दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से श्रद्धास्पद स्वीकार किया गया है।

यही कारण है कि छठी शताब्दी के दिगम्बराचार्य पूज्य-पाद ने उस पर "सर्वार्थ सिद्धि' नामक टीका की रचना की है। आठवीं और नवीं शताब्दी में तो इसकी टीका की होड़-सी लग गई है। अकलंक और विद्या-नंदी ने राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक नामक ग्रंथ टीका रूप रचे हैं। सिद्धसेन और हरिभद्रने क्रमशः बृहत्काय और लघुकाय वृत्तियों को रचना की है। यह परम्परा आजतक भी उसी प्रकार चली आ रही है।

उमास्वाती का चमत्कार–

तत्वार्थसूत्र को हम जैनधर्म की गीता कह सकते हैं। इन टीकाओं से ही इस अमूल्य रत्न का अवबोध होता है। इसका कारण केवल यही है कि समस्त जैन-ज्ञान को एक सूत्र–रूप देना कितना कठिन कार्य है, और तत्त्वार्थ सूत्र समस्त जैनदर्शन, ज्ञान का निचोड़ स्वरूप ग्रंथ है।

शास्त्रों के ज्ञान को शृंखलाबद्ध और संक्षिप्त रूप देना ही

उमास्वाती का चमत्कार है। इस सूत्र की भाषा संस्कृत है। अध्याय इसमें दश हैं। विशेष जानकारी के लिए आचार्य आत्मारामजी म० का "तत्वार्थ सूत्र" और "जैनागम समन्वय" पढ़िए।

कहा जाता है कि तत्वार्थसूत्र भाष्य भी उन्होंने स्वयं ही लिखा था। इस ग्रंथ के अतिरिक्त उमास्वाती ने "प्रशम रतिः" "श्रावक प्रराप्ति", "मूल प्रकरण", "जम्बूद्वीप समास प्रकरण", क्षेत्र विचार आदि अनेक ग्रंथ रचे हैं। आचार्य हेमचन्द्र उन्हें अद्वितीय प्रकरण निर्माता तथा उत्कृष्ट संग्राहक कहकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं।

विमल सूरि

अब हमारा इतिहास वीरात् ४७० वर्षों को पार चुका है। ४७० वर्षों के उपरान्त ही विक्रम संवत् का प्रारम्भ होता है।

इस काल में उज्जयिनी पर गुप्त तथा गर्दभिल्ल के पश्चात् शक राजाओं का अधिकार हो गया था। किन्तु विक्रम नामी अद्वितीय पराक्रमी राजाने शक राज्य को तहस नहस कर उज्जयिनी पर अपना ध्वज फहराया। इस परम पावन पर्व के उपलक्ष में विक्रम संवत् का प्रादुर्भाव हुआ। भारतीय संस्कृति ने हूणों और शकों पर विजय प्राप्त कर नवीन लोक-जीवनमें अभियान किया। विक्रम संवत् उसीका साथी है।

इस समय तक भगवान् महावीर के निर्वाण को ४७० वर्ष व्यतीत हो गये थे। विक्रम की पहली सदी, लगभग संवत् ३० में

विमलसूरि ने प्राकृत भाषा में, 'पउम चरिअं' (पद्म चरित्र-जैन रामायण) की रचना की। इससे प्रतीत होता है कि उस समय रामायण की कथा जनता में अत्यन्त लोकप्रिय थी। इसीलिए विमलसूरि ने रामायण को जैन-संस्करण दिया। इस हेतु कि जैन श्रमणों को प्रचार-सम्बन्धी सुविधा हो और महावीर का शासन लोकप्रिय हो। 'पउम चरिअं' के कर्त्ता विमलसूरि नागिल कुल के आचार्य विजयसूरि के शिष्य थे।

माथुरी वाचना

आर्य दिन आचार्य–वीरात् ४७६—

जैन परम्परा में आर्य दिन आचार्य को एकन्दिलाचार्य भी कहा जाता है।

एकन्दिला आचार्य गौतम गौत्रीय और कर्णाटक देशीय थे। वीरात् ४७६ में माथुरी परिषद् के ये आचार्य–संयोजक ही नहीं हुए, व्यवस्थापक भी बने। पाटलिपुत्र परिषद् के अनन्तर तो देश में दो बार १२ वर्षों के अकाल पड़ चुके थे, जिन्होंनें साधु-संस्था और साहित्य-संग्रहको छिन्न-भिन्न कर दिया।एकन्दिला-चार्यने दुष्काल के अनन्तर फिर भगवान् महावीर प्रतिपादित आगमों का संकलन करने के लिए, देशमें विचरने वाले साधुओं का आह्वान किया और मथुरा को एकादशांगी वाणी से सुगंधित किया। यही कारण है कि अधर्मागधी भाषा में शूरसेन देश की शौरसेनी प्राकृत भी सम्मिलित हो गई।

नन्दीसूत्र में आचार्य स्कन्दिल को नमस्कार किया गया है तथा जिनदास महत्तर गणिकृत "नन्दीपूणि" में इस समस्त घटनाचक्र का विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है।

माथुरी

इस वर्णन में वाचना का सुव्यवस्थित इतिहास दिया गया है।

पादलिप्त सूरि

जब महाराजा विक्रम शकों को पराजित कर उज्जयिनी की राजगद्दी पर आसीन हुए, उस समय पादलिप्त सूरि के अस्तित्व का प्रमाण प्राप्त होता है। पादलिप्त सूरि के पिता का नाम पुष्प-चन्द्र और माता का नाम पंडिता था।

सेठानी ने इस बालक को बाल्यकाल में ही गुरु को सौंप दिया था। गुरु ने ग्रहण किया और दश वर्ष की आयु में बालक को आचार्य बना दिया।

पादलिप्त सूरि समर्थ विद्वान, कवि और प्रखर प्रतिभाशाली महापुरुष थे। इस सम्बन्ध में बाल श्रेणीकार श्रेणी में इस प्रकार लिखवाते हैं:—

पाटलिपुत्र में मुरुण्ड नामक राजा राज्य करता था। उसके दरबार में सैकड़ों पंडित रहते थे। उन्होंने इस छोटे से आचार्य की परीक्षा लेने का विचार किया और घी की एक कटोरी आचार्य के पास भेजी। आचार्य ने उसमें बबूल के कांटे चुभो-

कर लौटा दी। इस सारी घटना का आशय यह था—और पंडितों ने जमा हुआ घी भेज कर यह अभिप्राय प्रगट किया कि इस कटोरी की भांति यह नगर पंडितों से परिपूर्ण है। आचार्य ने उसमें कांटा चुभोकर यह आशय स्पष्ट किया कि जैसे घी में कांटों ने स्थान ले लिया है, उसी प्रकार पंडितों से भरे इस नगर में मैं भी स्थान प्राप्त करूंगा।

प्राचीनकाल में इसी प्रकार बुद्धि की कसौटी हुआ करती थी।

आचार्य श्री ने पाटलिपुत्र पर अपनी धाक् जमाई और अपनी प्रेममयी वाणी से सारे नगर को प्रभावित किया। प्रमदलोचना जैसी वेश्या को प्रतिबोध देना आचार्य श्री का ही काम था। कहते हैं कि मानखेटपुर के प्रतापी राजा कृष्ण पर भी इनका बड़ा प्रभाव था। रुद्रदेव सूरि और श्रमण सिंह सूरि से इन्हें बहुत सी अलभ्य और अमोघ विद्याएं प्राप्त हुई थीं।

अपने पैरों पर औषधियों का लेप कर ये आकाश में उड़ सकते थे। संभवतः इसीलिए इनका नाम पादलिप्त पड़ गया था। एक बार वे मानखेट से उड़कर भृगुकच्छ पहुंचे थे। तदनन्तर वे टंकपुर (मोरवी) के निकट, आज के टंकारा आये थे। यहीं नागार्जुन उनका शिष्य बना था। नागार्जुन ने स्वर्णसिद्धि प्राप्त की थी और अपने गुरु पादलिप्त की पुण्य स्मृति में पालीताना नगर की स्थापना की थी।

इस उदाहरण में ऐतिहासिक सत्य चाहे जितना हो, किन्तु

यह निश्चित है कि पादलिप्त सूरि बहुत ही शासन-प्रभावक और युगप्रधान आचार्य थे।

साहित्य

आचार्य पादलिप्त ने प्राकृत भाषा में एक बहुत ही सुन्दर कथा "तरंगावली" के नाम से लिखी है। यह कथाकोश बहुत ही विस्तृत तथा समृद्ध है।

यह पुस्तक मूलतः जैन महाराष्ट्रीय प्राकृत में निर्माण की गई है। गद्य और पद्य दोनों का ही इसमें विलक्षण समन्वय किया गया है। आचार्य वीरभद्र के शिष्य नेमचन्द्र ने इसे प्राकृत में ही १०० गाथा परिमाण का संक्षिप्त संस्करण तैयार किया है।

इसके अतिरिक्त जैन नित्यकर्म, जैन दीक्षा, प्रतिष्ठा-पद्धति तथा शिल्प-निर्माण-कलिका नामक ग्रंथों को आचार्य देव ने संस्कृत भाषा में ही लिखा है। इन्होंने ज्योतिष्करण्डक पर प्राकृत में टीका भी लिखी है।

इस महान् कृतियों से आचार्य श्री की अकाट्य विद्वता का पूर्ण परिचय मिलता है।

आगम-युग की परिसमाप्ति

श्रमण महावीर के उपदेशों को श्रुत कहा गया और उसका नाम आगम प्रसिद्ध हुआ। भद्रबाहु स्वामीने आगम-साहित्य की पृष्ठभूमि बताते हुए कहा कि—"तप, नियम, ज्ञान, रूप वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अन्तर्ज्ञानी केवली भगवान् भव्यजनों

के हित के लिए ज्ञानकुसुम की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि पट में उन सकल कुसुमों को झेलते हैं और प्रवचन-माला में गूंथते हैं। यही परम्परा हमें आचार्य परम्परा से प्राप्त हुई है। इसी ज्ञान-राशि को जैनागम कहा गया है। अबतक के इतिहास में जिन महापुरुषों का वर्णन आ चुका है और वे समस्त जैनाचार्य जिन्होंने आर्हती संस्कृति की स्थापना में सर्वाधिक योगदान दिया है, वह विचार-शृंखला सब आगमों के आधार पर ही खड़ी की गई है। आगमोत्तर समस्त जैन-साहित्य—आगमों की व्याख्या तथा महत्त्व प्रदर्शन में ही निर्माण किया गया है, जिसमें दर्शन, विज्ञान, कर्मवाद आदि ऐसे विषय हैं, जिनमें जैन-परम्परा ने अभूतपूर्व देन अर्पण की हैं, तथापि जैन-साहित्य का एकमात्र आधार जैनागम ही है। वैदिक परम्परा में जिस प्रकार वेद ही प्रधान रहे हैं, उसी प्रकार जैन-साहित्य में जैन-आगम ही समूचे साहित्य के प्राणस्वरूप रहे हैं।

आगम के पर्याय और उसकी व्युत्पत्ति

श्री उमास्वाती ने "तत्वार्थाधिगम शास्त्र", के अध्याय १ सूत्र २० के भाषा में श्रुतज्ञान के विविध पर्यायों का दिग्दर्शन दिया है, जिसमें उन्होंने श्रुत, आप्तवचन आगम, उपदेश, औचित्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन आदि शब्दों को समानार्थक सूचित किया है।

"श्रुतमाप्तवचनागम उपदेश ऐतिह्यमाम्नायः
प्रवचनं जिनवचनामित्यर्थान्तरम् ।"

श्री सिद्धसेन गणि ने आगम की व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूप में की है:—

"आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनद्वारेणेत्यागमः"

अर्थात्—आचार्यों की परम्परा द्वारा वासना से जो आता है वह "आगम" है।

यह स्मरण रहे कि आर्हत् आगम कहने से जैन, बुद्ध और वैष्णव सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रंथों का बोध होता है, परन्तु प्रस्तुत पुस्तक में हम आर्हत शब्दों को केवल जैन अर्थके व्यवहार में लाए हैं। क्योंकि शैव भी अपने शास्त्रों के लिए आगम शब्द का प्रयोग करते हैं—जैसे "शैवागम"। इसलिए, जैनागम या आर्हत् आगम शब्द का प्रयोग हमने किया है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय आगमों को अंग, उपांग, छेदसूत्र और मूलसूत्र—इस प्रकार चार विभागों में अभिव्यक्त मानता है।

११. *अंग*—

जिस प्रकार शरीर के आधार से सांसारिक प्राणी विश्व में रहते हैं, उसी प्रकार धर्म भी अंगज्ञान के आधार संसार में रहता है। ऐसे धर्म के स्तम्भ रूप ज्ञान से परिपूर्ण ग्रंथ को अंग या अंगसूत्र कहा जाता है।

इनका वर्गीकरण और प्राकृत एवं संस्कृत नाम निम्न प्रकार हैं—

१.	आहार	(आचार)
२.	सूयगड	(सूत्रकृत)
३.	ठाण	(स्थान)
४.	समवाय	(समवाय)
५.	विवाहपण्णत्ति	(व्याख्याप्रज्ञप्ति)
६.	नायाधम्मकहा	(ज्ञातधर्मकथा)
७.	उवासगदसा	(उपासकदशा)
८.	अंतगडदसा	(अंतकृद्दशा)
९.	अनुत्तरोववाइयदशा	(अनुत्तरोपपातिकदशा)
१०.	पण्हावागरण	(प्रश्नव्याकरण)
११.	विवागसुअ	(विपाक सूत्र)
	और दिट्ठिवाय	(दृष्टिवाद)

("दृष्टिवाद"—बारहवां अंग था पर वह विच्छेद हो गया)
अब हम "उपांग" की ओर आते हैं।

१२. उपांग—

१.	औपपातिक	२.	राजप्रश्नीय
३.	जीवाभिगमन	४.	प्रज्ञापना
५.	सूर्यप्रज्ञप्ति	६.	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
७.	चन्द्रप्रज्ञप्ति	८.	कल्पिका

९. कल्पावतंसिका १०. पुष्पिका

११. पुष्पचूलिका १२. वृष्णिदशा

चार मूल

१. नन्दी २. दशवैकालिक

३. उत्तराध्ययन ४. अनुयोगद्वार

चार छेद

व्यवहार, वृहत्कल्प, निशीथ और दशाश्रुत स्कंध, एक आवश्यक यह ३२ शास्त्र हुए।

इन प्राचीन शास्त्रों में जैन-परम्परा की दृष्टि से आचार, विज्ञान, उपदेश तथा दर्शन और भूगोल आदि का वर्णन किया गया है।

जैसे आचार में मुख्य आचारांग, दशवैकालिक आदि।

उपदेशात्मक—उत्तराध्ययन आदि

भूगोल और खगोल—जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति तथा चंद्र प्रज्ञप्ति

प्रायश्चित्त विशुद्धि—छेद शास्त्र

जीवन चरित्रात्मक—उपासक दशा, अनुत्तरोपपातिक आदि

आख्यानात्मक—ज्ञातृधर्म कथा आदि

कर्म विषयादिक—विपाक आदि

संवादात्मक—भगवती आदि

दर्शनात्मक-सूत्रकृत, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, भगवती, नंदी, स्थानांग, समवाय, जीवाभिगम और अनुयोग आदि। जैन-

दर्शन में मौलिक तत्वों की प्ररूपणा शास्त्रों में विस्तृत रूप से पाई जाती है। अनेकान्त दर्शन आदि के विचार, अंग और दृष्टि समस्त विषय जैनागमों में संग्रथित हैं।

आचार्यों ने उन्हीं विचारों को नए परिधान पहनाए हैं। आगमों का काल-निर्णय करना बड़ा कठिन है। बहुत से जैन ग्रंथकारों ने इस जटिल कार्य की रूपरेखा प्रस्तुत की है। लेकिन अभी तक प्रामाणिक काल गणना और काल-विभाजन करने की पूर्ण क्षमता पैदा नहीं हो सकी है। किन्तु इतना निश्चित है कि श्यामाचार्य के प्रज्ञापना सूत्र के बाद किसी भी रचना को आगमपिटक में स्थान नहीं प्राप्त हो सका है।

तत्वार्थसूत्रकी रचना प्राकृत में होती तो, उत्तम रहता—

मेरे विचार से यदि उमास्वाती आचार्य तत्वार्थ सूत्र को संस्कृत में न लिख कर प्राकृत में लिख पाते, तो निश्चित था कि यह, आगमों की कोटिमें आ जाता और जैन परम्परा की तीनों सम्प्रदायों का एक शास्त्र बन जाता। तत्वार्थ सूत्र को आगम न मानने का कारण भाषा के पार्थक्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि महावीरके ४०० वर्ष बाद आगम युग समाप्त हो चुका था। और इस समय समस्त जैन-साहित्य प्रतिस्पर्द्धियों के प्रहार सुरक्षार्थ आगमों के आधार पर रचा जाने लगा था, जिसकी उस युग को आवश्यकता थी। सिद्धसेन दिवाकर ने इस कमी की पूर्ति की। विक्रम की पहली शताब्दी में ही अनेकान्त चर्चा जोरों पर थी। चारों ओर से इस पर

प्रहार होने लगे थे। जैनाचार्यों ने उन सभी व्यक्तियोंके खण्डन के लिए संस्कृत भाषा में ही अनमोल और अपूर्व ग्रंथों की रचना की, किन्तु ये ग्रंथ-रत्न थे, आगम नहीं। आगम-काल तो यहां आकर समाप्त हो जाता है।

सिद्धसेन दिवाकर

जीवन-परिचय—

सिद्धसेन दिवाकर जाति से ब्राह्मण थे। उज्जयिनी इनकी जन्म नगरी थी। उज्जयिनी के महाराजा स्कन्दगुप्त के मंत्री देव ऋषि इनके पिता थे। इनकी माता का नाम दैवसिका था। डा० सतीशचंद्र ने यह श्लोक देकर स्कन्दगुप्त (विक्रमादित्य) के नव-रत्नों में से एक रत्न की तरह सिद्धसेन दिवाकर का उल्लेख किया है।

"धन्वंतरिः क्षपणकोऽमर सिंह शंकु वैतालभट्ट घटखर्बर-कालिदासः ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः समामां रत्नानि वैवर-रुचिर्नव विक्रमस्य ज्योतिर्विद्याभरण।"

विक्रम, राजसभामें सिद्धसेन का अपूर्व सम्मान—

डा० सतीशचन्द्र ने अनेक तर्कों और प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि—"क्षपणक सिद्धसेन का ही नाम है। विक्रमादित्य के दरबार में सिद्धसेन का बहुत मान था। इससे अनुमान लगता है कि सिद्धसेन संस्कृत, दर्शन और अध्यात्म शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे। उनकी अभूतपूर्व बुद्धि का चमत्कार राजा और प्रजा दोनों स्वीकार करते थे। संभव है इसी कारण उन्हें अपने ज्ञान और विद्या वैभव का गर्व हो गया था। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि

जो मुझे शास्त्रार्थ में हरा देगा, मैं उसे गुरु स्वीकार कर लूंगा। तत्पश्चात् इन्होंने जब वृद्धवादी क्षमाश्रमण की ख्याति सुनी तो शास्त्रार्थ के लिए तैयार हो गए।"

"गर्व-खर्व" की अद्वितीय कथा—

पता लगाया तो ज्ञात हो गया कि वृद्धवादी पाटन-नगर (वर्तमान भड़ौंच) में विराजमान हैं। दिवाकर वहीं पहुंचे। ज्ञात हुआ कि वृद्धवादी महाराज यहां से भी विहार कर गए हैं। आचार्य ने सहज रूप से ही विहार किया था परन्तु दिवाकर अपने ज्ञान के गर्व में इतना प्रमत्त था कि उसने सोचा वृद्धवादी डरकर विहार कर गये हैं। दिवाकर ने अपनी शिष्य एवं पंडित मंडली को भड़ौंच में ही ठहरने का आदेश दिया और स्वयं वृद्धवादी के पीछे चल पड़ा। खोजते २ मार्ग में उनसे भेंट हो गई। वन प्रान्तर था। वृद्धवादीजी ने परिचय पूछा तो दिवाकरजी ने साफ कह दिया कि—"मैं सिद्धसेन दिवाकर हूँ। आप तो भाग चले, पर मैं छोड़ने वाला कहां था? आपसे शास्त्रार्थ करना चाहता हूं। मेरी प्रतिज्ञा है कि या तो आप पराजय स्वीकार करें या शास्त्रार्थ करें!"

आचार्य वृद्धवादी में जीवन की गहन गहराइयों का अवगाहन था। वे ज्ञानी से अधिक अनुभवी थे और अनुभवी से अधिक पारखी थे। समझ गए कि यह नवयुवा पंडित बुद्धि की वारुणी में मदमत्त है। उन्होंने सिद्धसेन की चुनौती स्वीकार कर कहा—"यह तो वन प्रदेश है, यहां हमारे शास्त्रार्थ का

मध्यस्थ कहां मिलेगा ? पर सिद्धसेन उतावला था। इधर उधर नजर दौड़ाकर देखा, बोला—"वे जो ग्वाले गौएं चरा रहे हैं, उनमें से ही एक हमारा मध्यस्थ बन जायगा।"

यही हुआ—शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ।

सिद्धसेन दिवाकर संस्कृत का प्रकाण्ड पंडित था। शब्द, वाक्य, विचार और सूत्र उसके पवित्र कण्ठ में स्वयं चले आते थे और उसकी जिह्वा, वर्षा के बादलों के समान शब्दोंकी जल-बिंदुएं बरसाती थीं। अपने पूर्व पक्ष के स्थापनार्थ सिद्धसेन ने लच्छेदार संस्कृत में धाराप्रवाह व्याख्यान आरम्भ किया। उसकी वाणी के वेग से वायु का वेग विकम्पित हो स्तब्ध खड़ा रह गया। दिशाएं गूंज उठीं। पर उसका, मध्यस्थ ग्वाला कुछ न समझा। उसे विस्मय था कि यह व्यक्ति विक्षिप्त तो नहीं है ?

अब वृद्धवादी की बारी आई। वे यह जान चुके थे कि सिद्धसेन पढ़ा तो है किन्तु गुना नहीं है। अन्यथा ग्वाले को मध्यस्थ क्यों बनाता ? और उसके सम्मुख इस प्रकार अनर्गल संस्कृत प्रवाह क्यों बहाता ?

अतएव आचार्य वृद्धवादी ने अपनी शांति स्थिर रख, अपने मध्यस्थ के ज्ञान और समझ की सीमा को सामने रखकर डमरू हाथ में लिया और ठेठ प्राकृत-रास में गाना शुरू किया—

"न वि मारि अइ न वि चोरी अइ
परदारह संगुति वारिअइ

थोवा थोवुं दाइ अइ
तउ सग्गि टुगुटुगु जोइ अइ।"

अर्थात्—किसी को सताना नहीं। चोरी नहीं करना। पर-स्त्री का संग नहीं करना। यथाशक्ति दान देना। बस यही रास्ता है जिससे मनुष्य धीरे २ स्वर्ग चला जाता है।"

चतुर्विंशति प्रबंधकार और रामचंद्र सूरिकृत "विक्रमचरित्र" में विभिन्न प्रकार के दोहों की उपलब्धि होती है। देखिये—"जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास" (मो० द० देसाई)

जिस प्रकार बजती बीन के मोहन राग से महानाग मोहित हो जाता है उसी प्रकार वृद्धवादी के इस गान से मध्यस्थ महाराजा ग्वालेराम मस्त हो गए।

उसने खड़े होकर अपनी अटपटी भाषा में निर्णय अनुभवी वृद्धवादी के पक्ष में दिया। ज्ञान, पांडित्य और अहं को व्यावहारिक सभ्यता की देहली पर झुकना पड़ा। दिवाकर ने हार स्वीकार कर ली। वह वृद्धवादी के चरणों पर गिर पड़ा। वृद्धवादी बोले—"सिद्धसेन! तूने सरस्वती का समग्र वरदान अकेले ही प्राप्त किया है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु लोक की अपनी धारा में एक पग भी नहीं तैरा है। यह मूर्ख ग्वाला तेरा मध्यस्थ नहीं हो सकता। भले आदमी, कभी ऐसा मध्यस्थ बनाया जा सकता है, जो अक्षर मात्र से अपरिचित हो?"

परन्तु सिद्धसेन ने कहा—"मेरे मध्यस्थ ने ही मुझे हराया है, उसके निर्णय और अपने वचन का मैं पालन करूंगा।"

वृद्धवादी न माने और कहने लगे—"अभी आगे शहर में चलते हैं वहां पंडित सभा में पुनः शास्त्रार्थ होगा, वहीं सच्ची हार-जीत का निर्णय होगा।"

फलतः एक बड़ी सभा में पुनः उनका शास्त्रार्थ हुआ। लेकिन सिद्धसेन की हार हुई और वह दिवाकर से "सिद्धसेन सूरि" बन गया। उन्होंने आचार्य वृद्धवादी से दीक्षा ली।

सिद्धसेन को जैनागमों के अध्ययन में कुछ भी समय नहीं लगा। स्वल्पकाल में ही उन्होंने जैनागम, जैनदर्शन और आर्हती संस्कृति का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया। उनकी योग्यता देखकर गुरु ने शिष्य-मंडली के साथ स्वतंत्र विचरने की छूट दे दी।

अवन्तिका के आंगन में—

सिद्धसेन घूमते हुए उज्जैन में, विक्रम की राजधानी पहुंचे। राजा विक्रमादित्य ने अपना पुराना पंडित मानकर, एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रा से स्वागत-सम्मान किया। इन्होंने कुछ भी लेना अस्वीकार किया, क्योंकि त्यागी थे। अपनी त्यागमयी श्रमण वृत्ति का राजा को परिचय दिया।

विक्रमादित्य तो पहले ही मुग्ध थे अब और भी अभिभूत हो गए। उधर कर्मारपुर के राजा देवपाल ने सिद्धसेन सूरि को अपना गुरु बना लिया व अपनी राजधानी में शाही ठाठ से स्वागत किया।

सिद्धसेन सूरि की आकर्षक एवं ज्ञानार्द्र वाणीसे क्या राजा

क्या प्रजा सभी मोहित हो गए। सिद्धसेन को विहार करने न देते थे। न वे ही विहार कर रहे थे। इस अति परिचय ने राग-पाश को प्रगाढ़ बना दिया। राजा, प्रजा और सिद्धसेन का सात्विक प्रेम भी मोह में पड़कर बंधन बन गया। आगे चलकर यही बंधन पतन का कारण बना।

विलासवायु का प्रथम झोंका—

आचार्य सिद्धसेन अपनी त्याग-परम्परा से शिथिल पड़ गए। पालकी में वे बैठते। राजसी सत्कार स्वीकार करते। राज पुरुषों की तरह रहते।

जैन साधुचर्या में गृहस्थों से कार्य लेना तथा अपना भार उठवाना वर्जित होते हुए भी दिवाकरजी की पालकी मजदूर उठाते और वे राज्यतंत्र में एक विशेष परामर्शदाता के रूप में भाग लेते एवं सम्मान का उपभोग करते।

गुरुदेव वृद्धवादी को यह सब समाचार मिले। वे काफी वृद्ध हो गए थे। तथापि अपने शिष्यों का उद्धार करने कर्मारपुर पहुंचे। वहां वेश बदल कर सिद्धसेन की पालकी उठाने वालों में लग गए। एक तो वृद्धावस्था, दूसरे कभी ऐसा काम न किया भार के कारण उनका शरीर लड़खड़ाने लगा।

सिद्धसेन ने पालकी में बैठे बैठे ही बड़े दर्प एवं अभिमान से कहा—"अरे मूर्ख वृद्ध तू कौन है? क्या भागी बोझ से तेरे कन्धे दुखते हैं?" (भो वृद्ध! "कोऽसि भूरि भाराक्रान्तः स्कन्धः किं तव बाधति?")

सिद्धसेन का यह प्रश्न सुनकर गुरु बोले—"तुम्हारा बाधति (अशुद्ध शब्द-प्रयोग) शब्द मुझे जितनी पीड़ा पहुंचा रहा है उतना भाराक्रान्त कन्धा नहीं।" (न तथा बाधते स्कन्धो यथा "बाधति बाधते।")

उद्धार—

जल्दी में सिद्धसेन "बाधते" के स्थान पर "बाधति" बोल गए थे। पालकी-वाहक-वेषधारी गुरु ने उसकी भूल बता दी। किन्तु सिद्धसेन ज्ञानी थे, समझ गए कि—"मेरी भूल बताने वाला यह व्यक्ति साधारण नहीं हो सकता।" उन्होंने गुरु को ध्यान से देखा और सब लोगों को चकित करते हुए चरणों में गिर गए। उनकी आंखों में क्षोभ और ग्लानी के आंसू भर आए।

गुरु बोले—"तू सावधान हो गया है, यह काफी है। दिवाकर दूसरों को प्रकाश देता है, लेकिन तू स्वयं ही अंधकार-ग्रस्त हो गया है।" ❀

उस दिन दिवाकर सिद्धसेन सूरि को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने विश्वकल्याण एवं आत्मकल्याण की पुनः प्रतिज्ञा ली।

❀नोट—हमने इन किंवदन्तियोंका आधार, मुख्यतया संत-बालजी लिखित "जैन इतिहास की पाण्डुलिपि" और "जैन साहित्य का इतिहास" श्री देसाई कृत पुस्तकों को बनाया है।

जैनदर्शन में दिवाकर द्वारा तर्क की आधार-स्थापना—

इस घटना के पश्चात् दिवाकर संघ-हित में लग गए। दिवाकरजी ने जैन-परम्परा में साहित्य, दर्शन और तर्क-शास्त्र के अभाव की पूर्ति की, जिसका विस्तृत वर्णन आगे किया जाएगा।

भारत के दर्शन-क्षेत्र में नागार्जुन के प्रवेश से नवीन जागरण आया। सभी दार्शनिकोंने अपने २ दर्शन में उत्तर पक्ष को अधिक सबल, अकाट्य एवं व्यवस्थित बनाने का प्रयत्न किया। जैनधर्म में जो बातें केवल धर्मशास्त्रों के आधार पर ही स्थित थीं उन्हें तर्क का आधार देकर सिद्धसेन-काल में अधिक स्थायी आधार दिया गया है।

वैदिक धर्म की अपेक्षा जैनधर्म का दार्शनिक रूप अभी तक आगमों में बीज रूप में विद्यमान था। स्वतंत्र रूप में अभी तक उसका प्रतिपादन नहीं होने पाया था। ऐसी स्थितिमें जब जैनधर्म को आगमों के अतिरिक्त दर्शन का बिलकुल सहयोग नहीं मिला था। उस काल में सिद्धसेन दिवाकर का अवतरण हुआ। यह दिवाकरजी की ही मौलिक प्रतिभा का फल है कि जैनदर्शन तर्कशास्त्रसे सुसमृद्ध है। दिवाकर सिद्धसेन सूरि के उपरान्त तो जैनाचार्यों ने जैनदर्शन की अभूतपूर्व ज्ञानराशि का उत्सृजन किया। किन्तु मूल रूप से तर्कशास्त्र के मूल प्रणेता सिद्धसेन दिवाकर ही थे।

आद्य जैन तार्किक

आज के जैन विद्वान् तथा अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियों का सर्वमान्य मत है कि सिद्धसेन से पूर्व, जैन-दर्शन में तर्कशास्त्र सम्बन्धी कोई स्वतंत्र सिद्धान्त प्रचलित नहीं था। उनसे पहले प्रमाण-शास्त्र सम्बन्धी बातें केवल आगम ग्रंथों में अस्पष्ट रूप से संकलित थीं। जैनधर्म के सहचर ब्राह्मण और बौद्ध धर्म की भी यही अवस्था थी। परन्तु महर्षि गौतम के न्यायसूत्र के संकलन के पश्चात् धीरे-धीरे तर्क का जोर बढ़ने लगा। तार्किक ब्राह्मण हुए और साथ ही बौद्ध भी हुए।

इस प्रकार बौद्ध और ब्राह्मण विद्वानों में तर्क-शास्त्रीय युद्ध बढ़ता गया। सिद्धान्तों और युक्तियों की कसौटी पर धर्म को कसा जाने लगा।

प्रारम्भ में जैनाचार्यों ने इस दार्शनिक संघर्ष को तटस्थ रूप से देखा। किन्तु जब अनेकान्त और समन्वय पर तथा कर्तृत्व, अकर्तृत्व पर प्रहार होने लगे तो जैनाचार्यों ने भी अनेकान्त की सुरक्षार्थ तर्क का आयुध लेकर रण निमन्त्रण स्वीकार किया।

इस युद्धक्षेत्र में सर्वप्रथम उतरनेवाले थे आचार्य सिद्धसेन दिवाकर। जैनदर्शन को तर्क का सम्बल प्रदान करने वाले आद्य आचार्य थे। इसीलिए जैन-परम्परा में इन्हें जैन-तर्कशास्त्र का मूल और आद्यप्रणेता कहा गया है।

जैनधर्म को एक ही ग्रंथ में सूत्र रूप में संग्रंथन करने का

काम तो उमास्वाति आचार्य कर चुके थे। किन्तु जैनधर्म के मनोनीत प्रमाणों और नयों को तर्क कसौटी पर कसने का काम वह शेष छोड़ गए थे। इसीके लिए सिद्धसेन दिवाकर ने सर्व-प्रथम "न्यायावतार" नामक ग्रंथ की रचना संस्कृत में करके जैन-प्रमाण की नींव दृढ़ की।

जैन-तर्क का प्रणेता ग्रंथ

"न्यायावतार" जैन साहित्य में पहला तर्क एवं पद्य ग्रंथ है। "न्यायावतार" आज भी न्याय का, अजेय सूत्रों से निबद्ध और अजोड़ तर्कों से सुसनद्ध ग्रंथ माना जाता है।

"सन्मति तर्क प्रकरण" नामक प्राकृत भाषा का महान् ग्रंथ भी सिद्धसेन सूरि की ही अमर कृति है। यह अनेकान्तवाद की विश्वविजयिनी प्रतिष्ठा के लिए लिखा गया था। संभव है कि जैन श्रमणों को प्राकृत पढ़ना सुलभ हो और संस्कृति के प्रति रुचि स्वल्प हो इसके लिए दिवाकरजी ने इस अद्भुत ग्रंथ की रचना की। दिवाकरजी अनेकान्त को सर्वधर्म समन्वय करने की मूल्यवान् दृष्टि कहते थे। उनका विश्वास था कि तमाम दार्शनिक जो सत्य स्पर्शी हैं वे सब महामूल्यवान् मुक्ता-मणियां हैं। जबतक इन्हें एक सूत्र में नहीं बांधा जायगा तबतक ये किसीके गलेका हार नहीं बन सकतीं, क्योंकि उसमें समन्वय की कमी है।

'दर्शन में समन्वय' की सिद्धसेन की सम्मति—

इसी कमी की पूर्ति के लिए समन्वयवाद, अनेकांतवाद तथा

स्याद्वाद का जन्म हुआ। उसके बिना इन मणियों की कोई कीमत नहीं। न इनका कोई उपयोग ही है। यही कारण था कि सिद्धसेन ने समस्त दार्शनिकों को अपनी २ दृष्टि में समन्वय की भावना रखने का आदेश दिया है।

इसी मौलिक भावना के आधार पर अनेकान्त की प्राण-प्रतिष्ठा हुई है, जिसका जीवित स्वरूप है—'सन्मति तर्क प्रकरण'। 'सन्मति तर्क' जैन साहित्य की अमूल्यतम निधि है और अनेकान्त की ज्वलन्त परिभाषा है। यह भारतीय वाङ्मय की दिव्यतम ज्योति है।

आद्य जैन कवि, स्तुतिकार

अश्वघोष, कालिदास और सिद्धसेन—

अश्वघोष और कालिदास के उपरान्त सिद्धसेन दिवाकर का नाम नहीं भुलाया जा सकता। विक्रम की सभा के नवरत्नों में से एक थे दिवाकर, और दूसरे थे कालिदास। दिवाकर जैसा समर्थ एवं उन्मेषशालिनी प्रतिभा से सम्पन्न कवि और दार्शनिक अभीतक जैन जगत् में अवतीर्ण नहीं हुआ। इतना अवश्य है कि शोकजनित चेष्टाओं में जहां कालिदास के शब्दों में विप्रलम्भ की शृंगार का पुट आ जाता है वहां सिद्धसेन दिवाकर के शब्दों में, वर्णन में वैराग्य और निर्वेद का प्राधान्य रहता है।

तुलना करके देखिए—

"मग्धोन्मुखाक्षाण्युपदिष्ट वाक्य,
संदिग्ध जल्पानि पुनःसराणि ।
बालाभि मार्गाचरण क्रियाणि,
प्रलांवस्रान्त विकर्षणानि ॥
अकृत्रिम स्नेहमय प्रदीर्घ,
दीनेक्षणाः साधु मुखांच पाराः ।
संसार सात्म्यज्ञ जनैक बंधो,
न भाव शुद्धं जगृहुमनस्ते ॥

—सिद्धसेन दिवाकर, द्वा० पू० ११-१२

विलम्ब केश्यो मलिनाशुं काम्वरा,
निरंजनै वाष्पहते क्षणैर्मुखैः ।
स्त्रियो न रेणुर्मृ जयाविनाकृता,
दिवीवतारा रजनीक्षयारुणाः ॥
अरक्त ताम्रैश्चरणैरनूपरैर,
कुण्डलैरार्जव कन्धरै मुखैः ।
स्वमावण वै जघनैर्मेखलैरहा,
योकत्रैर्मुषितै रिव स्तनैः ॥

—अश्व० बुद्ध० सा० ८ २१-२२

विलोचनं रक्षिण मंजनेम, संभाव्य तद्वञ्चित वामनेत्रा ।
तथैव वातायन संनिकर्षं ययौ शलाका म परा वहन्ती ।

तासा मुखैरासवगं घगर्मैर्व्याप्तान्तराः सान्द्र कूतूहलानान् ।
विलोल नेत्र मुम रैर्गवाक्षाः सहस्त्र पत्राभरणा इवासन् ।
—कालिदास-कुमार संभव, सर्ग ७ ५६-६२

उपरोक्त उदाहरणों से तीनों कवियों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

सिद्धसेन दिवाकर की रचना में वैराग्य एवं त्याग का जो प्राधान्य है वह उन्हें अन्य कवियों से जहां अलग कर देता है वहां उनके काव्य को लोकप्रियता नहीं देता। लोकहित उसमें है, लोकरंजन तत्त्व नहीं।

हेमचन्द्र सूरि द्वारा सिद्धसेन की स्तुति

यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य में कालिदास और अश्वघोष के साथ सिद्धसेन दिवाकर का नाम नहीं आता है। यद्यपि जैन-परम्परा में सिद्धसेन दिवाकर आदि कवि ही नहीं अपितु, लब्धप्रतिष्ठ, जिनवाणी के सर्वाधिक श्रेष्ठ आदि उद्गाता हैं। आचार्य श्री हेमचंद्र सूरि ने दिवाकरजी के प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए कहा था कि "क सिद्धसेनस्तुतयो मदार्था अशिक्षितालाप कला क चैषा।"

अर्थात् मेरी रचना आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की गहन रचना के सामने एक अशिक्षित मनुष्य के प्रलाप के समान लगती है। सिद्धसेन दिवाकर आज स्तुतिकार हैं। इनकी स्तुतियों में सबमें प्रमुख यह विशेषता है कि वे दीखने में अत्यंत

संक्षिप्त और भाव में अत्यन्त गंभीर हैं। सचमुच बिहारी का दोहा यहां पर चरितार्थ होता है—

"सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर॥"

एक एक श्लोक में दिवाकर ने दर्शन, भक्ति तर्क, खण्डन आदि सब कुछ उँडेल दिया है।

जहांतक उनकी द्वात्रिंशिका रचना का प्रश्न है, स्तुति के क्षेत्र में वह सर्वश्रेष्ठ और बहुत सुन्दर है।

आद्य जैनवादी

आदिवादी शास्त्रार्थ के अमर प्रणेता—

सिद्धसेन दिवाकर जैन-परम्परा में आदि कवि ही नहीं अपितु आदि वादी भी थे। शास्त्रार्थ एक कला है, दिवाकर इस कला के पारंगत और आध्यात्मिक सेना के एक महानतम अजेय सेनानी थे। अपने युग में दिवाकर की अकाट्य तर्क-शक्ति के आगे वड़े २ शास्त्रार्थ धुरन्धर सिर झुका चुके थे। दिवाकर की वाणी का जादू और तर्क उठाने की मौलिक प्रतिभा, साहित्य निर्माण की असाधारण योग्यता के आगे उस समय कोई भी टक्कर लेने वाला नहीं था। यही कारण है कि उनके अनुकरण पर आचार्य समन्तभद्र ने भी स्वयम्भू स्तोत्र की रचना की। बादमें तो सर्वदर्शन संग्राहक के रूप में भी दिवाकर अद्वितीय थे। उन्हीं के अनुकरण पर भारतीय वाङ्मय में

षड्दर्शन-समुच्चय और सर्वदर्शन संग्रह का निर्माण हुआ है। सिद्धसेन भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड पंडित थे। यही कारण है कि उनका भारतीय दर्शनों और उपनिषदों, श्रुतियों और स्मृतियों का अगाध ज्ञान जैन दर्शन-निर्माण में और अनेकान्त के निरूपण में आशातीत लाभ दे सका।

"अधुनावादि-खद्योताद्योतन्ते दक्षिणा पथे।
नूनमस्तं गतो वादी, सिद्धसेनो दिवाकरः॥"

स्वतंत्र विचारक–

सिद्धसेन दिवाकर आगमों के शब्दों से चिपटे रहने वालों में से नहीं थे। वे तो समभावपूर्वक सत्यासत्य की खोज में गहरे उतर कर मोती लाने वाले जीवट थे। उनके क्रांतिकारी विचार, उनकी मनोहारिणी रचनाएं और उनकी हृदय-ग्राहिणी वाणी स्वतंत्र रूप से उस समय भारतीय धार्मिक पट पर अपना अभूतपूर्व अभिनय कर रही थी। पुराणपंथियों की, दिवाकर बहुत कड़े शब्दों में भर्त्सना किया करते थे और आधुनिक-वादियों को पुरातनमें से साधु-साधु संग्रहित करने की प्रेरणा देते थे।

दिवाकर के विप्लवी विचार

"यदा शिक्षित पंडितो जनो विदुषामिच्छति वक्तुमग्रमाः।
न च तत्क्षणमेव शीर्यते जगतः किं प्रभवन्ति देवताः॥
पुरातनैर्या नियता व्यवस्थिति स्तत्रैवसा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।

तथैति वक्तुंमृत रूढ़ गौरवादहन्त जातः प्रथमन्तुविद्विषः।
जनोऽयमनस्य मृतः पुरातनः पुरातनै रेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यवस्थितेषु कः पुरातनोक्त न्यय परीक्ष्य रोचयेत।
यदेव किञ्चिद् विषय प्रकल्पित निर्विगाहते किमत्र युक्तं कि
मयुक्तमर्थतः।

गुणावबोध प्रभवं हि गौरवं
कुलांगना वृतमेजन्यथा भवेत्।

सिद्धसेन नवीन और पुरातन के बीच एक कड़ी—

नवीन और पुरातन के बीच सिद्धसेन एक कड़ी का काम करते थे। यदि हम एक ही श्वास में उन्हें कहना चाहें तो, कहना होगा कि दिवाकर सर्वप्रथम जैन साहित्य सृष्टा, जैन-दर्शक, उत्सर्जक, जैनस्तुतिके रचयिता, काव्यकार और शास्त्रार्थ कला निष्णात महत्तम आचार्य थे।

प्रभाव

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर श्वेताम्बर परम्परा में से थे, किन्तु उनका प्रभाव श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों पर बहुत पड़ा है। समन्तभद्र जी तो उनके समकालीन ही थे। किन्तु तत्पश्चात दिगम्बर सम्प्रदाय में होने वाले समस्त आचार्यों ने सिद्धसेन दिवाकर की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

हरिवंश पुराण कर्त्ता जिनसेन, तत्वार्थ राजावार्तिक के टीकाकार अकलंक, अनन्तवीर्य, शिव कोटि आदि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के प्रमुख स्तोता रहे हैं।

दीक्षा लेने के बाद आचार्य वृद्धवादी ने जो स्कन्दिलाचार्य के शिष्यों में से थे, सिद्धसेन का नाम कुमुदचंद्र रखा था। आगमों के व्याख्याकार होने के नाते उन्हें ग्रन्थहस्ती के नामसे भी उद्धृत किया गया है। कल्याण-मंदिर में इनका नाम कुमुदचंद्र आया है, और आचारांग के शास्त्र-परिज्ञा अध्ययन पर विवरण लिखने में इनका नाम गंधहस्ती आया है। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्धि सिद्धसेन दिवाकर के नाम से ही हुई। सच-मुच दिवाकर ही थे।

अवसान

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का अवसान किस सदी में हुआ, यह निश्चित ज्ञात नहीं है। विद्वानों में मतभेद है। बहुत से ग्रंथों के देख लेने पर कोई निश्चित समय प्राप्त नहीं होता। तथापि जैनाचार्य (न्याय विजयकृत) नामक पुस्तक के आधार पर विक्रम संवत् १८ तथा श्री वीर सम्वत् ४८० ठहरता है। दक्षिण के प्रतिष्ठानुपर नगर में आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर का अवसान हुआ।

उनकी मृत्युके उपरान्त जो श्लोक कहा गया था उसे हम पहले दे चुके हैं।

वराहमिहिर और भद्रस्वामी

यह तो पहले ही निश्चित किया जा चुका है कि भद्रबाहु एक नहीं दो हुए हैं। वराहमिहिर प्रथम भद्रबाहु के भाई नहीं

थे, अपितु द्वितीय भद्रबाहु स्वामी के भाई थे। इसका कारण उनका विक्रम के समय होना है।

वराहमिहिर—कालिदास और सिद्धसेन के समान विक्रम-राजसभा के नवरत्नों में से थे। ज्योतिर्विद्याभरण में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। वराहमिहिर और भद्रबाहु जाति से ब्राह्मण थे। प्रतिष्ठानपुर नगर में इनका जन्म हुआ था। सुभद्राचार्य की वैराग्य वाणी से इन्हें विरक्ति पैदा हुई थी। दोनों भाइयों ने एक साथ ही दीक्षा ली, ज्ञानार्जन किया। महान् पांडित्य प्राप्त किया, किन्तु भद्रबाहु स्वामी प्रकृति से नम्र, विनीत और सुशील थे। लेकिन, वराहमिहिर स्वभावतः अभिमानी थे। यही कारण है कि गुरुदेवने भद्रबाहु को आचार्य पद दिया किन्तु वराहमिहिर को नहीं। इसका परिणाम यह निकला कि वराहमिहिर इसे सहन नहीं कर सके और दीक्षा छोड़कर अलग हो गए। साथ ही द्वेषी भी बन गए। ज्योतिर्विद्या में दोनों भाई अत्यन्त निष्णात थे। वराहमिहिर राज्य के कृपा-भाजन बन गए, किन्तु भद्रबाहु और जैनधर्म से विद्वेष रखने लगे। तथापि अन्तिम विजय तो भद्रबाहु स्वामी की रही। कहा तो यह जाता है कि उसी उपसर्ग को मिटाने के लिए भद्रबाहु स्वामी ने "उपसर्गहर स्तोत्र" की रचना की।

इनका समय विक्रम संवत् २२ माना जाता है और वीर संवत् ४६२।

विक्रम की तीसरी शताब्दी तकका विहंगावलोकन

जैनधर्मको जितना प्रसार विक्रम की पहली शताब्दी में मिला है, उतना शायद कभी नहीं मिला।

यही ठीक है कि अबतक जैनधर्म भारत का राष्ट्र धर्म बनने का गौरव प्राप्त कर चुका था। चन्द्रगुप्त, अशोक और सम्प्रति तथा खारवेल सम्राट् के राजत्वकाल में जैनधर्मने बहुत उन्नति की थी।

तथापि यह उन्नति प्रचार और प्रसार तक ही रही साहित्य जगत् में अभी तक यथेष्ट क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हो सका था। इस अभाव की पूर्ति विक्रम की पहली शताब्दी में हुई। जब कि सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र भारतीय वाङ्मय में जैन साहित्य की उत्कृष्ट अवतारणा लेकर आए। धीरे-धीरे जैन-साहित्य इतना समृद्ध हो गया कि यदि भारतीय साहित्य में से जैन-साहित्य हटा दिया जाय तो वैदिक साहित्य वास्तव में लंगड़ा हो जायगा। सचमुच भारतीय साहित्य में समन्वय-वाद का प्रवर्तन और संवर्द्धन जैन-साहित्य ने ही किया है। भारत के जैनेतर आचार्यों ने संसार के समस्त दर्शनों का खण्डन अथवा मण्डन करने के लिए अध्ययन किया, लेकिन जैनाचार्यों ने संसार के समस्त दर्शनों में समन्वय स्थापित करने के लिए सर्वांगीण दृष्टि का प्रसार किया।

जैनाचार्यों ने समस्त दर्शनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया।

जैनागमों में अनेकान्त की स्वरूपतः झांकी दिखाई गई थी। किन्तु सिद्धसेन दिवाकर ने तो जैनदर्शन का समन्वयवादी दर्शन के रूप में विश्व को अमूल्य उपहार दिया।

विक्रम की तीसरी शताब्दी तक एक ओर आगम ज्ञान कण्ठ-परम्परा, लिखित भंडार तथा शिलालेख और ताम्रपत्रों में व्याप्त हो चुका था। और दूसरी ओर जैनधर्म के मौलिक तत्वों को न्याय की भाषा का रूप दे दिया गया था। आवश्यकता इस बात की थी कि इस समूचे ज्ञान को शृंखलाबद्ध बनाया जाय। बार २ दुष्काल की अस्तव्यस्तता से सुरक्षित किया जाय। इसीलिए विक्रम के ३०० से लेकर ८०० वर्षों तक के इतिहास को शास्त्र सम्पादन काल अथवा वल्लभीवाचन काल कहा गया है। अगले पृष्ठों में इसका क्रमशः वर्णन किया जायगा।

वल्लभी वाचन-काल

वल्लभी वाचन-काल और उसमें जैनधर्म की स्थिति—

(वि० सं० ३०० से ८०० तक)

इस काल में जैनधर्म और जैन परम्परा की कैसी स्थिति थी यह जानने के लिए अभी तक ऐतिहासिकों की शोध जारी है। फिर भी यह अवश्य कहा जाता है कि यह काल आगमों पर भाष्य और चूर्णियों की रचना का काल था। विशेष के लिए "जैन साहित्य नो इतिहास" देखिए—मो० द० देसाई।

भारत के इस स्वर्ण युग में प्रमाणित करने के लिए अभीतक कोई आधारभूत साधन उपलब्ध नहीं हुआ है।

विक्रमकी ९ वीं सदी में उद्योतनसूरि नामक आचार्य हुए हैं। उन्होंने अपने "कुवलयमाला" नामक कथा-ग्रंथ में जो प्रशस्ति दी है, उससे ज्ञात होता है कि गुप्तवंश के एक जैनाचार्य हरिगुप्त थे। वे हूण सम्राट् तोरमण के गुरु थे। तोरमण ने गुप्त साम्राज्य को पराभूत कर दिया, और वि० सं० ५६६ में भारत-भूमि पर अपना एकाधिपत्य स्थापित किया। इस आधार पर तोरमण का समय छठी शताब्दी निश्चित किया गया है।

हरिगुप्त आचार्य के महाकवि देवगुप्त नामक महत्तर पदाधिकारी शिष्य हुए हैं, जिनका कुवलयमाला कार ने गुप्तवंश के

राजर्षि के रूप में तथा "त्रिपुरुष चरित्र" के कर्ता के रूप में उल्लेख किया है।

देवगुप्त के शिष्य शिवचंद गणि हुए, जो पंजाब से निकल कर अन्त में भिन्नमाल नगर में स्थिर हुए थे। भिन्नमाल नगर जैनधर्मावलम्बी ओसवाल, पोरवाल तथा श्रीमाल आदि जातियों का मूल स्थान है।

शिवचंद गणि के शिष्य यक्षदत्त गणि हुए, जिनके अनेक प्रभावशाली शिष्यों ने गुर्जरप्रदेश में जैनधर्म का प्रचार किया। वास्तव में गुजरात देश में जैनधर्म का वर्चस्व अहिलपुर के शासन-काल में ही उन्नत हुआ और आज तो जैनधर्म का प्रभाव सर्वाधिक गुर्जर देश में ही है।

इन्हीं यक्षधर गणि के दूसरे शिष्य बड़ेश्वर (वटेश्वर) क्षमा-श्रमण हुए। जिन्होंने आकाश वद्र, आणन्दपुर आजकल के बड़नगर में जैनधर्म का प्रसार किया।

—देखिए, जिनविजयजी की सम्पादिता "कुवलयमाला" की प्रस्तावना।

मुनि कल्याणविजयजी इस आगारवप्प को बड़नगर न मानकर अमरकोट मानते हैं। उनका ख्याल है कि जालोर के पास एक अतिप्राचीन स्थल ग्राम अमरकोट नाम से प्रसिद्ध था। खैर, कुछ भी हो, वटेश्वर क्षमाश्रमण ने आकाश वद्र नामक नगर को जैनधर्म की दीक्षा दी थी।

उक्त बटेश्वर के शिष्य तत्त्वाचार्य हुए। संभव है यह तत्त्वा-

चार्य आचारांग और सूत्रकृतांग पर संस्कृत व्याख्याएं लिखने वाले शिलांकाचार्य, अपरनाम तत्त्वादित्य ही हों।

मल्लवादी

(वि० सं० ४१४ वीरात् ८८४)

एक दंत कथा के अनुसार वल्लभीपुर में (आधुनिक वला काठियावाड़ में) शिलादित्य नामक राजा राज्य करता था। कालांतर में वह बौद्ध हो गया। इसी राजा की सभा में "नय-चंद्रवाल" नामक प्रसिद्ध न्याय ग्रंथ के निर्माता मल्लवादी नामक श्वेतपट क्षमाश्रमण ने बौद्धों के साथ विवाद करके विजय प्राप्त की थी। इस बात का प्रमाण "प्रभावक चरित्र" में इस प्रकार से प्राप्त होता है—

श्री वीर वत्सराद्य शताब्दऽके चतुर शीति संयुक्ते।
जीए समल्लवादी बौद्धांस्तद व्यन्तरांश्चापि॥

प्र० च० पृष्ठ ७४.

भगवान् महावीर के आठ सौ चौरासीवें वर्ष में मल्लवादी नाम का आचार्य हुआ जिसने बौद्धों को पराजित किया था।

जैनन्याय की विशेषता उसका अनेकांत-दर्शन—

'नयचक्र' न्याय ग्रंथ है। न्याय-सम्बन्धी समस्त साहित्य संस्कृत भाषा में लिखा गया है। जैनन्याय की विशेषता उसके अनेकान्त दर्शन में है। अनेकान्त का महत्त्व स्थापित करने वाले और उसके स्वरूप का वर्णन करने वाले सैकड़ों ग्रंथ जैन-साहित्य में मौजूद हैं। दसवीं शताब्दी के बाद लिखे गए ग्रंथों को यदि

अलग कर दिया जाय तो इस विषय के दो महान् ग्रंथ जैन-साहित्य में हैं। इन दो में एक तो सिद्धसेन दिवाकर कृत सन्मति तर्क और दूसरा प्रस्तुत मल्लवादी द्वारा रचित नयचक्र है। मूल नयचक्र आज उपलब्ध नहीं है। सिंह क्षमाश्रमण की रचित नय-चक्र की टीका भी आज सुलभ साध्य नहीं है। कहा जाता है कि मल्लवादी आचार्य ने धर्मोत्तर टिप्पण तथा सन्मति तर्क की वृत्ति भी लिखी है। जैन रामायण (पद्म-चरित्र) की रचना भी इन्होंने की है। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। आचार्य हेमचंद्र ने " अनुमल्लवादिन (तार्किका) " कहकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है।

शिवशर्मासूरि

(वि० सं० ५००)

विक्रम संवत् ५०० के आसपास शिवशर्मा सूरि नामक एक महान् आचार्य हो गए हैं। उन्होंने ४७५ गाथाओं का "कर्म-प्रकृत" नामक ग्रंथ की रचना की है। इसके अतिरिक्त इन्होंने शतक नामक कर्म-ग्रंथ (प्राचीन छः कर्म ग्रंथों में से पांचवां) एक सौ ग्यारह गाथाओं में रचा है।

चंद्रर्षि महत्तर

लगभग इसी समय में चन्द्रर्षिमहत्तर का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने "पंचसंग्रह" नामक कर्म विषयक ग्रंथ की रचना की है और उस पर नौ हजार श्लोक प्रमाण की वृत्ति भी स्वयं ही निर्माण की है।

वल्लभी-परिषद्

परिस्थिति-

(वीरात् ६८० वर्ष वि० सं० ५१० वर्ष)

विक्रम के ५०० वर्ष बाद भारत में एक बहुत ही भयंकर बारह वर्षीय दुष्काल पड़ा। उसमें फिर जैनधर्म का साहित्य इधर-उधर अस्त-व्यस्त हो गया।

अकाल के रौरव ताण्डव के समय साहित्य और धर्म की बात कौन सुनता है? सबको अपने २ प्राणों की लगती है। भारत की अगाध ज्ञान-राशि इन दुष्कालों के गर्त्त में डूब गई। जितनी सामग्री प्राप्त है वह महानतम आचार्यों के जीवट प्रताप से ही उपलब्ध है।

इस दुष्काल में भी जैनधर्म के बड़े २ दिग्गज श्रुतधरों का अवसान हो गया और जीर्णशीर्ण श्रुत कहीं २ अवशेष रह गए। वह भी दुर्दशा में। पाटलिपुत्र और माथुरी वाचना के बाद वल्लभी वाचना का समय इसी काल में उपस्थित होता है। श्रुत-साहित्य की विच्छेद जैसी अवस्था हो गई। अकाल की क्रूरता शांत होते ही जैनसंघके समस्त आचार्य तथा मुनिवरों को यही चिन्ता लगी कि किसी भी प्रकार से श्रुत की सुरक्षा की जाय और द्वादशांगी वाणी को लिपिबद्ध करा लिया जाय।

देवर्द्धि क्षमा श्रमण उस समय युगप्रधान आचार्य थे। उन्होंने श्रुत सुरक्षा का बीड़ा उठाया। आगामी पंक्तियों में देवर्द्धि क्षमाश्रमण का परिचय प्रस्तुत किया जाएगा।

देवर्द्धि-क्षमाश्रमण

देवर्द्धि और श्रुत सुरक्षा-कार्य—

देवर्द्धि का जन्म सौराष्ट्र के वेलाकुल पत्तन (आज का वेरावल पाटन) में हुआ था। इनके पूज्य पिता का नाम कामर्द्धि था और जो अरिदमन राजा के सेवक थे। इनकी माता का नाम कलावती थी। रोहिताचार्य के पास इन्होंने दीक्षा ली। श्री देवगुप्त गणी के पास इन्होंने एक पूर्व का सार्थ ज्ञानोपार्जन किया और इन्हें आचार्य-पद प्रदान किया गया। क्षमाश्रमण की पदवी इन्हें किसी अन्य ज्ञानाचार्य श्री देवगुप्तजी से प्राप्त हुई थी। जैनसंघ में उस समय लगभग ५०० आचार्य थे जिनको क्षमाश्रमणजी ने श्रुत सुरक्षार्थ एकत्रित किया था।

समयसुन्दर गणी ने अपना समाचारी शतक और श्री विनयविजय कृत लोकप्रकाश में इसे वल्लभी वाचना का नाम दिया है। उन्होंने लिखा है कि—

"श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणेन श्री वीरात् अशीत्यधिक नव शत वर्ष जातेन् द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षा वशात् बहुतर साधु व्यापत्तो। बहुश्रुत विच्छत्तौच जातायां...भविष्यद् भव्य लोकोपकाराय, श्रुत भक्तयेच श्रीसंघ आग्रहाद् मृतावशिष्ट तदाकालीन सर्वसाधुन् वलभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नाव

शिष्टात् न्यूनाधिकान् त्रुटितात्रुटितान् आगामाऽऽलापकान् अनुक्रमेणस्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढ़ाःकृताः। तत्तो मूलतो गणधर भाषिता नामपि। तंत्संकलनान्तर सर्वेषामपि आगमानां कर्त्ता श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण एव जातः।

—समयसुन्दर गणि, "समाचारी शतक"

श्री देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने लिखा कि बारह वर्षीय दुष्काल के कारण बहुत-से साधुओं का स्वर्गवास हो गया। तभी अनेक श्रुतधरों का भी विच्छेद हो गया। श्रुतभक्ति से प्रेरित होकर क्षमाश्रमण ने जैन-संघ के उपाकारार्थ श्री वीर सं० ६८० वर्ष में श्री संघ के आग्रह से समस्त अकाल से बचे हुए साधुओं को निर्मंत्रित किया और वल्लभी में उनके मुख से अवशेष रहे हुए, बढ़े हुए, त्रुटित, अत्रुटित आगमों के पाठों को अनुक्रम से अपनी बुद्धि के अनुसार संकलित किया। इस प्रकार आगमों को पुस्तकीय रूप प्राप्त हुआ। मूल में गणधरों से ग्रंथित सूत्रों को देवर्द्धिगणी ने पुनः संकलन किया। अतः इसी कारण से शास्त्र के कर्त्ता देवर्द्धि क्षमाश्रमण कहलाए।

वल्लभी में शास्त्रों का संकलन तो हुआ, किन्तु नागार्जुन और स्कन्दिलाचार्य की वाचनाओं का सर्वथा एकमत और पाठस्वरूप एक नहीं हो सका। माथुरी वाचना और वल्लभी वाचना में जब पाठ विषयक कुछ भी निर्णय नहीं हुआ, तो कुछ भी निर्णय किए बिना ही दोनों वाचनाओंको एक कक्षा का घोषित कर दिया।

"तत्रोंस्ततोऽर्वाची नैश्च गीतार्थैः पापाभिरुचिः,
मतद्वय मूलयता कक्षी कृतमनिर्णयात् ।"
—विनय विजलोक प्रकाशः।

आचार्य मलयगिरिजी ने भी ज्योतिष्करंड वृत्ति में इसी मत का समर्थन किया है। किन्तु इस वल्लभी वाचना के विषय में कल्याण विजयजी म० का ऐसा कथन है कि—"मैं वल्लभी वाचना को देवर्द्धि की वाचना नहीं, अपितु नागार्जुन की वाचना मानता हूँ। मथुरा में आर्यस्कन्दिल की अध्यक्षता में और वल्लभी में आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में वाचना हुई। ये दोनों आचार्य आपस में मिल नहीं सके, इसीलिए दोनों वाचनाओं के पाठ भेद चालू रहे। क्योंकि देवर्द्धि ने एक ही वाचना को चालू रखने और उसे व्यापक बनाने के लिए आर्य स्कन्दिल की वाचना सर्वसम्मति से चालू रखी। नागार्जुन की वाचना में रहे हुए पाठ भेदों को नागार्जुन पठ-भेद के रूप में नोंध लिया गया है।" इसी कारण आजकल टीकाओं में "नागार्जुनीय" शब्द से पाठ भेद स्वीकारा गया है। देखिए—"जैन-साहित्य नो इतिहास"-देसाई कृत।

कल्याण विजयजी का मत तो स्पष्ट है किन्तु इसकी प्रमाणिकता में सन्देह है। क्योंकि पं० दलसुख मालवणियाने नागार्जुन और देवर्द्धि की वाचना में डेढ़ सौ वर्षों तक का अन्तर बतलाया है।

विनय विजय-कृत "सुबोधिका" की प्राचीन गाथा में यह

उल्लेख किया है कि वल्लभीपुर नगर में देवर्द्धि प्रमुख ने सकल संघ को एकत्रित किया और ९८० वर्ष में समस्त आगमों को लिपिबद्ध किया। संकलन किया:—

"वलहि पुरंमि नयरे देवड्ढि पमुह सयल संघेहिं,
पुव्वे आगम लिहिउ नवसय असी आणु वीराउ।"

—"सुबोधिका"

इस मत से तथा अन्य प्राचीन मतों से वल्लभी वाचना देवर्द्धि के प्रमुखत्व में हुई थी, यही निश्चित होता है। यह हो सकता है कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने स्कन्दिलाचार्य की माथुरी वाचना की अधिकाधिक सहायता ली है। हां, इतना अवश्य मानना होगा—"नागार्जुननीयास्तु पठन्ति" कहकर दोनों वाचनाओं के पाठ भेदों को स्पष्ट बताकर एक महत्त्वपूर्ण काम किया है।

देवर्द्धि ने शास्त्र संकलन करके जैनसंघ पर एक अभूतपूर्व उपकार किया था। देवर्द्धि अपने समय में जैनसंघ में नक्षत्र की तरह दैदीप्यमान थे। वीरात् १००० और विक्रम सं० ५३० में उनका स्वर्गवास हो गया।

देववाचक

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय में ही देववाचक नामके आचार्य हुए हैं।

समाज की कई प्रचलित मान्यताएं इस मत के विपरीत हैं

कि नंदी सूत्र के निर्माता देववाचक थे, अपितु देवर्द्धि क्षमाश्रमण ही थे, ऐसा कहा जाता है।

लेकिन, मांगलिक सूत्र के वास्तविक रचयिता देववाचक ही थे। नंदी सूत्र में वल्लभी वाचना के आगमों की सूची भी बताई गई है और साथ में भारतीय वाङ्मय के समस्त प्रमुख ग्रंथों का उल्लेख किया है, जिसमें लगभग सभी भारतीय धर्मों के मोटे २ ग्रंथ आ जाते हैं।

इसी समय में एक सिद्धसेन गणि हुए हैं, जिन्होंने तत्त्वार्थ-सूत्र की टीका लिखी है, जिसमें प्रमाण और नय पर तार्किक और लाक्षणिक पद्धति से विवेचना की है।

धनेश्वर सूरि

देवर्द्धि क्षमाश्रमण के काल में ही आचार्य धनेश्वर सूरि का समय निश्चित होता है। क्योंकि वि० सं० ५१० अथवा ५२३ में "कल्पसूत्र" की रचना की गई थी। इसके लिए एक कथा प्रचलित है:—

गुजरात का आनंदपुर नगर (आज का वड़नगर, वृद्धनगर) उस समय बहुत प्रसिद्ध था। उस नगरी का ध्रुवसेन राजा था। भाग्ययोग से आचार्य धनेश्वरजी का वहां आगमन हुआ। उसी समय राजा का एकमात्र पुत्र मृत्यु की शरणमें चला गया। राजा को पुत्र की मृत्यु का बड़ा शोक हुआ। प्रजा भी शोक-ग्रस्त हो गई। उस समय आचार्य धनेश्वर सूरि ने राजा का शोक-शमन करने के लिए "कल्पसूत्र" की वाचना की। लोगोंका

कथन है कि "कल्पसूत्र" की रचना भी उन्होंने की थी। किन्तु इतना अवश्य है कि आचार्य ने इस सूत्र की वाचना की थी।

आजकल कल्पसूत्र का व्याख्यान पर्यूषण पर्व में करना अधिक फलदायी गिना जाता है।

कालिका सूरि (तृतीय)

कालिकाचार्य (तृतीय) देवर्द्धि क्षमाश्रमण के मुख्य सहयोगी थे। उस समय में कालिकाचार्य महाप्रभावक तथा उद्भट विद्वान् थे। चैत्यवासियों की यति परम्परा को श्रद्धा सुदृढ़ बनाने के लिए इन्होंने महानतम प्रयत्न किया था। इनके समय की मुख्य घटना संवत्सरी की तिथि परिवर्तन है।

अबतक पर्यूषण का सांवत्सरिक पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन मनाया जाता था और चौमासी पूर्णिमा के दिन होती थी। किन्तु इन्होंने संवत्सरी पर्व को पंचमी के दिन की अपेक्षा चतुर्थी के दिन मनाया। यद्यपि पइट्ठाणपुर (प्रतिष्ठानपुर) में प्रवेश करते हुए इन्होंने स्वयं अपने मुखसे कहा था कि--"भद्दवय सुद पंचमीए पज्जो सयमां" अर्थात्—भाद्रपद सुदी पंचमी को ही पर्यूषण पर्व करना चाहिए। तो भी, शालिवाहन राजा के कारण अथवा उसके आग्रह से आचार्य ने उस वर्ष संवत्सरी जैन संघ सुरक्षा के लिए पंचमी की जगह चतुर्थी को मनाई। इसमें केवल राज्य विपत्ति ही कारण थी। वीरात् वह काल ९९३ का था। उसी वर्ष उनका स्वर्गवास हो गया। किन्तु उनके शिष्यों ने

अगले वर्ष भी चतुर्थी की ही संवत्सरी मनाई। इसमें अन्धानु-करण के सिवाय और कुछ नहीं था।

रत्नेश्वर सूरि, कुलमण्डल सूरि आदि समस्त आचार्यों ने चतुर्थी की संवत्सरी अप्रामाणिक ठहराई है, किन्तु श्वेताम्बर समाज फिर भी आजतक अपनी इस भूल का सुधार नहीं कर पाया है।

धर्मसेन सूरि महत्तर

उक्त आचार्य ने केवल संघदास क्षमाश्रमण के वासुदेव हिंडी नामके प्राकृत चरित्र को पूरा किया था।

मानतुंगाचार्य

कण्ठ प्रदेश के सम्राट् (थाणेश्वर प्राचीन नाम) हर्षवर्द्धन का राज्य-अभिषेक वि० सं० ६६४ में हुआ था। ठीक उसी समय जैनसंघ के युगप्रधान आचार्य महाकवि मानतुंग थे, जिन्होंने संघ की सुरक्षा के लिए तथा स्तुति करने के लिए "भक्तामर" नामक स्तोत्र प्रसादमयी भाषा में धारा प्रवाहिक प्रांजल और भावप्रधान पद्धति से रचा है। "भक्तामर" की गौरव-गाथा भाव और भाषा, कला और कल्पना के अनूठे सामञ्जस्य से अनोखी बन पाई है।

जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण

(वीरात् ११४५—वि० सं० ६४५)

देवर्द्धि क्षमाश्रमण के अनन्तर क्षमाश्रमणों की परम्परा

समाज में चल पड़ी। जिनभद्र गणी भी उसी परम्परा में एक प्रभावक आचार्य थे। इनका काल हरिभद्र सूरि से बहुत पहले आंका गया है। क्योंकि हरिभद्र सूरि ने अपने ग्रंथों में गणिजी का उल्लेख किया है। अतः अनुमान से इनका समय वीरात् ११४५ और वि० सं० ६४५ निश्चित किया गया है। जैनसंघ में अबतक जितने आचार्य आए, वे सब दो कोटि के आए—एक तो आगम प्रधान और दूसरे तर्क प्रधान। आगम प्रधान आचार्य आगमों को परम्परागत शब्दशः पुष्टि करने का काम करते हैं और तर्कप्रधान आचार्य आगमगत पदार्थ-व्यवस्था को तर्कसंगत और रहस्यानुकूल बनाने की चेष्टा करते हैं। इसीलिए जैन परम्परा में विचार-भेद और तर्क-भेद होते रहे हैं। जिन-भद्रगणी आगमप्रधान आचार्योंमें से एक मुख्य आचार्य थे। जिस प्रकार सिद्धसेन दिवाकर तर्कप्रधान श्रेणी के मुख्य आचार्य थे, उसी प्रकार गणीजी आगमप्रधान परम्परा में अग्रणी थे। जिनभद्रगणी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने बहुतसे अन-मोल ग्रंथों की रचना की है। मुख्यतया वे भाष्यकार के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। क्योंकि विशेषावश्यक मूल और उसपर टीका लिखकर उन्होंने जैन साहित्य को बहुत बड़ी भेंट दी है। बृहत्संग्रहणी (४००-५००) गाथाएं बृहत् क्षेत्र-समास, बिशेषण-वती (४०० गाथाएं का प्रकरण-ग्रंथ) जीतकल्प सूत्र तथा ध्यान शतक की इन्होंने रचना की है।

विशेषावश्यक भाष्य जैन साहित्य में शिरोमणी ग्रंथ माना

जाता है। जैन आगमों का सम्प्रदायगत रहस्य तथा आगमों का गूढ़ आशय जानने में ये आचार्य अपने समय में अद्वितीय थे। इसीलिए भाष्यकार के रूप में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण जैन शास्त्रकारों में अग्रणी माने जाते हैं। इन्हें युगप्रधान की उपाधि भी प्रदान की गई थी। हेमचंद्र आचार्य ने इनको उत्कृष्ट व्याख्याता के नाम से स्मरण किया है।

जिनदास महत्तर

वि० सम्वत् ७३३ में आचार्य जिनदास महत्तर ने निशीथ और नंदीसूत्र पर एक विलक्षण चूर्णी रची है। हरिभद्र सूरि ने जिनदास महत्तर का बड़े आदर से अपनी कृतियों में नाम लिया है। अनुयोग द्वार सूत्र पर भी इन्होंने चूर्णी रची है। ऐसे उल्लेख मिलते हैं।

हरिभद्रसूरि

हरिभद्र उदयमान गुरु आगम की सम्पत्ति से संयुक्त, शत्रुओं का दर्प दमन करने वाले, महा मेधावी आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हैं।

जैन-परम्परामें हरिभद्र सूरि साहित्य में सर्वाधिक साहित्य स्रष्टा तथा समाज व्यवस्थापक के नाम से परम ख्याति प्राप्त हैं। उनका जन्म सम्वत् आदि अनुपलब्ध है। जीवन-परिचय भी अंधकार के गहन गर्त में पड़ा हुआ है। किन्तु सामान्य प्रमाणों के आधारों पर उनका स्वर्गस्थ समय वि० सं० ५३० या ५८५

के आसपास माना जाता है। लेकिन श्री जिनविजयजी ने ऐतिहासिक आलोचना करके हरिभद्र सूरि का समय ७५७ से ८५७ निश्चित किया है। फिर भी उनका समय आज भी गवेषणीय ही बना हुआ है।

जन्मस्थान

रामायण के पाठक "चित्रकूट" से चिरपरिचित हैं। इसी चित्रकूट में इनका जन्म हुआ था। भूलसे लोग इसे चित्तौड़ समझते हैं।

इसी चित्रकूट नगर में जितारि नामक राजा राज्य करता था। वह परम प्रतापी नरेश था। उसके 'हरिभद्र' नामक राजपुरोहित थे।

हरिभद्र चौदह विद्याओं में निष्णात कुशलमति, राज्य एवं राज सभा में सर्वमान्य अग्निहोत्री ब्राह्मण थे।

अपनी महामति के ज्ञान गर्व से वे पृथ्वी, जल और आकाशवासी समस्त बुद्धजनों से शास्त्रार्थ करने के लिए प्रतिपल तत्पर रहते थे। विजयाभिलाषी ऐसे थे कि कन्धे पर कुदाली, जाल और सीढ़ी इन तीन वस्तुओं को धारण करते और "जम्बूद्वीप में मेरे समान बुद्धिशाली नहीं" इस घोषणा के लिए 'जम्बूलता' अपने स्कन्ध पर धारण करते।

उस काल में गुरुवादका देश में बड़ा जोर था। हरिभद्रजी के सामने भी यह समस्या उपस्थित हुई कि वह किसको गुरु

बनाएं? अगाध विद्या का वारिधि उनके सम्मुख आलोड़ित था। इसीका उन्हें अभिमान हो आया था। इसी विद्या की अस्मिता के बल पर पंडित हरिभद्रजी ने प्रतिज्ञा की थी कि—"जिसके बोले हुए श्लोक या गाथा का मैं अर्थ नहीं समझ सकूंगा, वही मेरा गुरु होगा।"

यह उनका बौद्धिक अभिमान था। अभी उन्हें अध्यात्म एवं आत्मविद्या का सारग्राही पाण्डित्य प्राप्त नहीं हुआ था। तथापि इस अवधि में उन्हें कोई गुरु नहीं मिला। एक दिन जब कि वे किसी गली से गुजर रहे थे उनके कानों में एक गाथा का मधुर स्वर सुनाई दिया:—

चक्किदुगं, हरिपणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की, केसवदु, चक्की केसीय चक्कीय॥"

अर्थात्—"अनुक्रम से दो चक्रवर्ती, पांच वासुदेव, पांच चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चक्रवर्ती, एक वासुदेव, दो चक्रवर्ती, एक वासुदेव, और एक चक्रवर्ती—इस प्रकार भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल में कुल १२ चक्रवर्ती और ६ वासुदेव हुए।"

उक्त गाथा मधुर कण्ठ से उद्गरित हो रही थी। हरिभद्र उस मंजुल एवं विलक्षणा वाणी पर थमक गए। चुप २ दो बार श्रवण किया। सुनने में आनंद आया पर उसका अर्थ न लगा सके। उन्हें अपनी प्रतिज्ञा स्मरण हो आई और वे इस गाथा को गाने वाली जैन साध्वी याकिनी के पास गए।

उन्होंने साध्वी-मुख से गाथा का अर्थ सुनना चाहा। साध्वी

ने विलक्षणतापूर्वक अर्थ समझाया। हरिभद्र संतुष्ट हुए और शिष्य बना लेने की विनती की।

साध्वीजी ने उत्तर दिया—"भाई, तुम किसी को गुरु बनाना चाहते हो तो, मेरे गुरुजी के पास जाओ। वे हैं धर्माचार्य जिनदत्त सूरिजी महाराज!"

हरिभद्र को यह स्वीकार न था। तथापि वे याकिनी महत्तरा साध्वी के आग्रह को मान कर जिनदत्तसूरि की सेवा में गए।

जिनदत्तसूरि बहुत प्रतापी, तेजस्वी, शांत एवं गंभीर मुखमुद्राधारी महात्मा थे। उनका जप, तप, ज्ञान और संयम देखकर हरिभद्रजी को भी वैराग्य ज्ञान आया—उनकी भेंट की कथा इस प्रकार है कि जब प्रथमतः जिनदत्तसूरि को उन्होंने देखा तो तत्काल निम्न श्लोक पढ़ा।

"वपुरेव तवाचष्टे भगवन् वीतरागताम्।
न हि कोटरसंस्थवग्नौ, तरुर्भवति शाद्वलः॥"

अर्थात्—"हे भगवान्, आपकी मूर्ति ही वीतरागिता क बतला रही है। यदि कोटर में अग्नि हो तो वृक्ष कदापि हराभरा नो दिखेगा।"

गुरु ने विचार किया—यह कोई महातेजस्वी परम पंडित प्रतीत होता है। राज्य एवं प्रजामान्य व्यक्ति है। तत्पश्चात् उन्होंने उससे कहा—"हे अनुपम बुद्धि के निधान पंडित, कुशल तो है? यहां आने का प्रयोजन कहो!

हरिभद्र ने उत्तर दिया—"हे पूज्य ! क्या उत्तर दूं। मैं बुद्धिनिधान नहीं हूं। आपकी शिष्या याकिनी महत्तरा के प्रभाव से प्रभावित एवं आपके दर्शनों की लालसा से यहां आया हूँ।"

इसके उपरान्त हरिभद्र जिनदत्त सूरि द्वारा दीक्षित हुए और अपने आपको याकिनी महत्तरा के धर्मपुत्र मानने लगे।

सामाजिक जीवन

आचार्य जिनदत्त सूरि ने हरिभद्र में प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं अपार ज्ञान देखा और उससे प्रसन्न होकर संघ के आचार्यत्व का महान् भार भी उन्हें सौंप दिया। हरिभद्र सूरि विद्वान् तो थे ही किन्तु आचार निष्ठ भी पूरे थे। वे ज्ञान और आचरण को समान महत्त्व देते थे। उनके जीवन में कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं था। जैन साधुओं के संयम को देखकर जहां उन्हें महान श्रद्धा उत्पन्न हुई, वहां जैन साधु—चैत्यवासी मुनियों का शिथिलाचार देखकर घृणा भी पैदा हुई।

हरिभद्र सूरि अत्यन्त उदार थे और आडम्बर, पाखण्ड तथा ढोंग उनके स्वभाव के विरुद्ध था। उन्होंने चैत्यवासी सम्प्रदाय के स्थितिपालक साधकों की शिथिलता देखकर उन्हें बड़ी कड़ी फटकार बताई थी। वे किसीका पक्षपात करने वाले नहीं थे। उन्होंने सम्बोध प्रकरण में शिथिलाचारी साधुओं का जो नग्न चित्र खींचा है, वह देखने जैसा है।

वे लिखते हैं—

"चेइपमढ़ाइवासं पूयारंभाइ निच्चसित्तं,
देवाइ दव्व भोगं जिणहर सालाइ करणं च।
मय किच्च जिणपूया परूवणं मय धणाणं जिणदरणे,
गिहिपुरओ अंगाइपवयण कहणं धनट्ठाए।"

—"आजकल संयम और त्याग की असिधार पर चलने वाले जैन साधु चैत्य और मठ में निवास करते हैं। पूजा के लिए आरती करते हैं। जिन मंदिर और पौषधशाला चलाते हैं। मंदिर का देवद्रव्य अपने उपयोग में लाते हैं।"

और आगे कहा है:—

"नर यगइहेउ जो उस निमित्त तेमीच्छमंत जोगाइ।
मिच्छ तराय सेवं नीयाण विपाव साहिज्जं
वत्थाइ विविद वण्णाई अइसइ सद्दाइं धुव वासाइ।
पहिरज्जइ जत्थ गणेत गच्छ मूल गुण मुक्कं
अनत्थिय वसहा इव पुरओ गायन्ति जत्थ महिलाणं
जत्थ मयार मयारं भणंति अलं सयं दिंति।
संनिहि महाकम्मं जलफल कुसुमाई सव्व सच्चित्तं
निच्चं दुतिवार मोयण विगइल वंगाइ तं बोलं
की वो न कुणई लीयं लज्जइ पडिमाइ जल्ल भुवणेइ
सोरोहणो य दिंण्डेइ, बंधइ, कड़िपट्टमम कज्जे,
वत्थो वगरण पत्ताइ दव्वं नियणिस्सेण संगहियं
गिहिगेहंम्मि यजेसिं ते किणिणो नाण नहु मुणिणो।

गिहिपुरओ सज्जायं करंति अण्णोणमेव भूमंति
सीसाइयाण कज्जे कलह विवायं उइरेंति।
किं बहुणा भणियेणं बालाणं ते हवंति रमणिज्जा
दुक्खाणं पुण एए विरहागा छात्र पाव दहा।"

—सम्बोध प्रकरण (प्रकाशित—अहमदाबाद, जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा) पृष्ठ १३-१९ तक।

श्री हरिभद्र के इस उपर्युक्त कथन का आशय है कि ये मुनि श्रावकों को शास्त्रों का रहस्य बताने से इन्कार करते हैं। मुहूर्त्त निकालते हैं। ज्योतिष से शुभाशुभ फल बताते हैं। रंगीन, सुगंधित और धूपितवस्त्र पहनते हैं। स्त्रियों के सामने गाते हैं। साध्वियों का लाया हुआ आहार करते हैं। धन का संचय करते हैं। केश-लोच नहीं करते। मिष्टाहार करते हैं। ताम्बूल, घी, दूध, फलफूल और सचित्त जल का उपभोग करते हैं। वस्त्र, पान-जोड़ा, वाहन-शैया रखते हैं। कंधे पर बिना कारण कटि-बस्त्र रखते हैं। तेल मर्दन करते हैं। स्त्रियों का संसर्ग करते हैं। मृत गुरुओं के दाह-स्थल पर पादपीठ बनवाते हैं। बलि करते हैं। जिन प्रतिमाएं बेचते हैं। गृहस्थों का बहुमान करते हैं। पैसा देकर बालकों को चेला बनाते हैं। वैद्यगी, मंत्र, तंत्र आदि करते हैं। जलसे मनाते हैं। साधु-प्रतिमा का पालन नहीं करते।

इस प्रकार चैत्यवासी साधु जन अमर्यादित होकर स्वच्छंद बनते जा रहे हैं।

उस समय की साधु संस्थाओं में अति शिथिलाचार

आ गया था। संयम की अपेक्षा, साधुओंमें कीर्ति और धनैष्णा का प्रभुत्व हो गया था।

इन्हीं निर्बलताओं को देखकर हरिभद्रसूरि के मन में भयंकर प्रतिक्रिया हुई थी। उन्होंने साहस के साथ संयम-विशुद्धि का आन्दोलन चलाया था। किन्तु शिथिलाचारियों का बहुमत इस कदर बढ़ा चढ़ा था कि उनकी एक न चली।

इस पर उनका मन अति खिन्न हो गया, जिसका साकार-रूप 'सम्बोध प्रकरण' में हरिभद्रने उतारा है। इससे पता चलता है कि उनके मन में जैन साधु संस्था के प्रति कितना अनुराग और तड़प थी। उसमें सुधार लाने के लिए वे कितने आकुल थे।

हरिभद्रसूरि की जीवन महत्ता उनके साहित्य-सर्जन की बहुमुखी प्रतिभा में है। उनका विशाल साहित्य एक अच्छे पुस्तकालय के समान है।

लोकश्रुति है कि उन्होंने १४१४ ग्रंथों की रचना की। इतनी बड़ी ग्रंथ-राशि रचना के विषय में एक किंवदंती प्रचलित है।

हंस और परमहंस नामक उनके दो भान्जे उनके पास ही दीक्षित हो गए थे। जैन शास्त्रों का अभ्यास करने के बाद, बौद्ध-दर्शन का सर्वांगीण परायण करने की उत्कण्ठा उनके दिल में जागृत हुई। गुरु की अनुमति के बिना ही बौद्ध विद्या-पीठ में वे दोनों चले गए।

उन दिनों धार्मिक उन्माद जोर पर था। दोनों शिष्य गुप्त वेश में अध्ययन करते थे। तथापि सुदीर्घ समय तक उनकी

गुप्तता सुरक्षित न रह सकी। दोनों के बारे में यह शंका होते ही कि ये जैन हैं, विद्यापीठ के अधिकारियों ने खोज आरम्भ कर दी। शंका सत्य निकली। बौद्धों ने दोनों को मार डालने का प्रयत्न किया, किन्तु दोनों को पता लग गया और वे वहांसे भाग निकले। विद्यापीठ के लोगों ने उनका पीछा किया। हंस तो मार्ग में ही लड़ते २ मर गया। परमहंस किसी प्रकार अपने गुरु के पास चित्रकूट जा पहुंचा। (अकलंक और निष्कलंक का जीवन भी कुछ इसी तरह चित्रित किया गया है। जिनका समय भी हरिभद्रजी के आसपास निश्चित किया गया है। निष्कलंक तो बौद्धों के हाथ मारे गए, अकलंक बच निकले। इन घटनाओं से यही फलितार्थ निकलता है कि अहिंसा की परम्परा को माननेवालों में भी धार्मिक उन्माद की विकृति पैदा हो चुकी थी।)

गुरुदेव हरिभद्रसूरि ने जब यह समाचार सुना तो एकदम क्रोधान्ध हो गए और बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ करने को तत्पर हुए तथा यह प्रतिज्ञा की कि जो हारेगा उसे उबलते हुए कड़ाह में जलकर मरना पड़ेगा। इस शर्त के कारण कितने ही बौद्ध पंडितों को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। किन्तु साध्वियों और आचार्य जिनदत्तसूरि को यह क्रूरतापूर्ण व्यवहार अच्छा नहीं लगा।

गुरु ने कोपशांति के लिए हरिभद्रजी के पास समरादित्य की प्राकृत की तीन गाथाएं भेजीं। जिन्हें पढ़कर उनका कोप

शान्त हुआ। मन में पश्चात्ताप हुआ। गुरु के पास जब यह प्रायश्चित लेने गये तो गुरुदेव ने उन्हें १४१४ ग्रंथ लिखने का प्रायश्चित दिया। प्रायश्चित देनेवाले गुरु ने भी बहुत बुद्धि-मत्ता से काम लिया। प्रायश्चित का प्रायश्चित और साहित्य-समृद्धि भी।

इसी आत्मसंशोधक और साहित्य-प्रवर्धक प्रायश्चित के कारण हरिभद्रसूरि ने १४१४ ग्रंथों का निर्माण किया।

साहित्य की विशेषता

"समराइच्चकहा" की प्रस्तावनामें प्रो० हर्मन योकोबी लिखते हैं कि—"सिद्धसेन दिवाकर ने जिस जैनदर्शन की पद्धति का प्रचलन किया था उसे पराकाष्ठा तक पहुंचाने वाले तो हरिभद्र-सूरि ही हैं।"

माना कि हरिभद्रसूरि ने दिवाकर की तरह प्रमाण-शास्त्र की रचना नहीं की, तो भी उन्होंने दिग्नागकृत न्यायप्रवेश की टीका करके जैनाचार्यों को बौद्ध-दर्शन कीओर तो अवश्य प्रेरित किया है। ज्ञान के क्षेत्र में वे सम्प्रदाय की चौकाबंदी के विरोधी थे। उनके समूचे साहित्य की विशिष्टता यह है कि उन्होंने प्रत्येक दर्शन में रहे हुए सत्य का दर्शन किया है और शुद्ध तटस्थ भाव से उसका विचार-विमर्श किया है। किन्तु परमत निरूपण में उन्होंने साम्प्रदायिक अभिनिवेश का प्रवेश नहीं होने दिया। पदार्थमात्र को समस्त दृष्टि बिन्दुओं से देखने की

पद्धति का नाम ही वे अनेकान्तवाद, स्याद्वाद अथवा सापेक्ष-वाद समझते थे। उनके साहित्य अध्ययन के बाद पता चलता है कि वे प्रकृति से सरल, आकृति से सौम्य और वृत्ति से अत्यन्त उदार थे। वह गुणानुरागी थे। जैनधर्म पर अनन्य श्रद्धा होने पर भी उनके हृदय में पक्षपात का जरा भी स्थान नहीं था। उन्होंने स्पष्ट कहा है:—

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥
बन्धुर्न नः स भगवानरयोऽपि नान्ये।
साक्षान्न दृष्टत्तर एकःतमोऽसि चैषाम्॥
श्रुत्वावचः सुचरितं च पृथम विशेषम्।
वीरं गुणातिशय लोलतयाऽऽशिचृतः स्मः॥"

अर्थात्:—"महावीर में मेरा कोई पक्षपात नहीं है और कपिल आदि ऋषियों से मेरा कोई द्वेष नहीं है। युक्तियुक्त वचन, चाहे जिसका भी हो, वह स्वीकार्य है। महावीर हमारे बंधु नहीं हैं, और दूसरे देव हमारे शत्रु नहीं हैं, क्योंकि हमने किसी को भी साक्षात् तो नहीं देखा है। हमने तो केवल विशिष्टतायुक्त गुणातिशयित वचनों के कारण ही भगवान् वीर को अपनाया है।"

श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के लिए उन्होंने बहुत ही स्पष्टोक्ति कही है—

आसम्बरो वा सेयम्बरो वा बुद्धो वा अहव अन्नो वा।
समभाव भावियप्पा लहेइ मुक्खं न सन्देहो॥

अर्थात्—"दिगम्बर हो या श्वेताम्बर हो, बुद्ध हो या अन्य कोई हो, जो भी अपनी आत्मा को समभाव से भावित करता है वही निःसन्देह मुक्ति को प्राप्त करता है।"

अष्टपुष्पी समाख्याता स्वर्ग-मोक्ष-प्रसाधिनी।
अशुद्धेतर भेदेन द्विधा तत्वार्थदर्शिभिः॥
(हरिभद्रसूरिः)

अर्थात्—"तत्वदर्शी पुरुषों ने अष्ट पुष्पी पूजा दो प्रकार की कही है। एक सावद्य और दूसरी निरवद्य। इनसे निरवद्य पूजा ही मोक्ष साधिका और सच्ची पूजा है।"

तात्पर्य यह है कि श्री हरिभद्रसूरि एक बहुत बड़े उदारचेता, महामना, पक्षपात रहित सत्योपासक साधु-पुरुष थे। वे भारत के उच्च धर्माचार्यों के पुण्यश्लोक इतिहास में उच्चतम पुरुषों में थे। उन्होंने जैन-साहित्य में महान योगदान रूप विशाल ग्रंथ राशि अर्पित की है। उसी प्रकार उन्होंने जैन-योग साहित्य का सर्वप्रथम संकलन तथा सम्पादन किया है। जैन-योग साहित्य के नवनवीन युग के सर्वप्रथम उद्भावक थे।

जैन-दर्शन की दृष्टि से उनका निम्नलिखित साहित्य उल्लेखनीय है:—

१. अनेकान्तवाद प्रवेश,
२. अनेकान्त जयपताका, पक्षवृत्ति सहित,

३. अष्टक प्रकरण
४. आवश्यक बृहद् वृत्ति,
५. उपदेशप्रद प्रकरण
६. दशवैकालिक सूत्र वृत्ति
७. न्याय सूत्र प्रवेश वृत्ति
८. धर्म-विन्दु प्रकरण
९. धर्म संग्रहिणी प्रकरण
१०. नन्दी सूत्र लघुवृत्ति
११. पंचाशक प्रकरण
१२. पंचवस्तु प्रकरण टीका
१३. पंचसूत्र प्रकरण टीका
१४. प्रज्ञापना सूत्र प्रवेश व्याख्या
१५. योग दृष्टि समुच्चय
१६. योग-विन्दु
१७. ललित विस्तार
१८. लोक तत्व निर्णय
१९. विंशतिविंशिका प्रकरण
२०. षड्दर्शन समुच्चयः
२१, शास्त्रवार्ता समुच्चयः
२२. श्रावक प्रज्ञप्ति
२३. समराइच्च कहा
२४. सम्बोध प्रकरण

२५. सम्बोध समाप्ति का प्रकरण

हरिभद्रसूरि केवल ग्रंथकार ही नहीं थे अपितु सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि भी थे।

वे जैन-परम्परा के एक महान् साहित्यकार और समाज व्यवस्थापक ही नहीं अपितु योग-साहित्य के प्रथम निर्माता, समभाव के उत्कृष्ट उद्गाता और स्याद्वाद के प्रमुख प्रचारक सरल महात्मा पुरुष थे। जैन-परम्परा को उनकी देन महान् है। उनका उत्सर्ग अविस्मरणीय है और उनकी विरासत अनमोल एवं अमर है।

हम उनके निम्नलिखित निर्भीक शब्द दुहराकर यह प्रकरण पूरा करेंगे:—

नास्माकं सुगतः पिता न रिपव स्तीर्थ्या धनं नैव तैः
दत्तनैव तथा जिनेन न हृतं किंचित्कणादादिभिः
किंत्वेकान्त जगद्धितः स भगवान् वीरो यतश्चामलं
वाक्यं सर्वमलो पहर्तृ च यतः श्तद् भक्तिमन्तोवयम्।

हरिभद्र-युग

आचार्य हरिभद्र स्वयं ही लेखक नहीं थे। अपितु समाज के होनहार लेखकों, साहित्यकारों और अन्यान्य उन्मेषशालिनी प्रतिभाओं को प्रोत्साहन भी देनेवाले थे। यही कारण है कि आचार्य हरिभद्रके समकालीन आचार्यों पर तो उनका पूरा प्रभाव पड़ा ही है, किन्तु परवर्ती आचार्य भी हरिभद्रजी के ही प्रशस्त पथ के अनुगामी रहे हैं।

इसीलिए १००० तक के काल को हरिभद्र युग का नाम दिया गया।

राजनैतिक परिस्थिति

हरिभद्र का काल राजनैतिक उथल-पुथल और दुष्कालों के आगमन का काल रहा है। अभी तक गुजरात का पाटण नगर बसा नहीं था। इस समय भिल्लमाल अथवा श्रीमाल नगर गुर्जर भूमि की राजधानी के रूप में प्रख्यात था। भूगोल-शास्त्रियों ने इस क्षेत्र का सीमान्त मारवाड़ और गुजरात की सीमा-संधि के मध्य में स्थापित किया है। उस समय सौराष्ट्र में वल्लभीपुर और गुजरात में वृद्धनगर (आकाशवप्र) तथा भृगुकच्छ (भड़ौंच) के सिवाय और कोई बड़ा नगर नहीं था। वृद्धनगर गिर २ कर जीर्णशीर्ण हो गया था।

बारह वर्ष दुष्काल के अकाण्ड ताण्डव से डर कर लोग इधर उधर भाग गए थे। धीरे-धीरे इन लोगों का व्यापार मारवाड़ और गुजरात में फैल गया। राज्य-सत्ता पर इनको अधिकार मिल गया। ज्ञातिबंधारण काल में ये भी अपने आपको अपने ग्राम के नाम से प्रसिद्ध कर गए—श्रीमाली ब्राह्मण, श्रीमाली जैन आदि कितनी ही जातियां श्रीमालों के नाम से बन गईं।

वास्तव में जातियों का इतिहास यही है कि जो जिस जगह से निकल कर बाहर चला गया या भाग गया, वह बाहर उसी गांव के पुराने नाम से प्रसिद्ध हो गया। धीरे २ जातियां बन गईं जो गांव के नाम से पहचाने जानी लगीं। ओसवाल, पोरवाल, श्रीमाल, लाढ़ आदि आदि सभी जातियों के नाम गांवों के नाम के आधार पर ही रखे गए हैं।

ज्ञातिबंधारण-काल में ब्राह्मणों, वणिकों और सुवर्णकारों ने अपने अपने बाड़े बनाए। जातियां और उपजातियां बनीं। इसी प्रकार आज भारत भरमें जातियों का महाजाल फैल गया।

जैनाचार्यों ने प्रचार का काम अपने हाथ में लिया और जैनधर्म तथा वीर-शासन का झंडा मारवाड़ और गुजरात में फहरा दिया। जैनधर्म की दीक्षा लेनेवाले श्रीमाली, पोरवाल, आदि बहुतसे कुटुम्ब ऐसे निकले कि जिन्होंने जैनधर्म को स्वयं धारण ही नहीं किया, अपितु, जैनधर्म के प्रचार में भी पूरा पूरा योग दिया।

गुजरात के इतिहास में उस समय अणहिलपुर और पाटण का नाम अति प्रसिद्ध हो रहा था। पाटण के राज्य-दरबार में श्रीमालों और पोरवालों का प्रभुत्व बढ़ रहा था। इन दोनों उप-जातियों का विकास भी एक साथ ही हुआ था।

पोरवाल मूल में पूर्व से आकर बसे थे। क्रमशः प्रागवाट्, पूर्वाट्, पोरुवाट और पोरवाड़ और पोरवाल बन गए। गुजरात में इन दोनों ने साथ २ काम किया है। ऐसा मानने में ऐतिहासिक बाधा तो कोई नहीं आती। पोरवालों को जैनधर्म की दीक्षा देने का श्रेय भी हरिभद्रसूरि को ही है।

हरिभद्रजी विद्याधर गच्छीय थे।

अन्य आचार्य—

उद्योतन सूरि

इनका पूरा नाम दाक्षिण्यांक उद्योतन सूरि है। वि० सं० ८३४ के लगभग इनका समय निर्धारित किया गया है।

उद्योतन सूरि की प्रसिद्धि का आधार इनकी प्रसिद्धतम अमूल्य कृति "कुवलयमाला" है। "कुवलयमाला" की भाषा प्राकृत है। रचनाशैली बाणभट्ट की कादम्बरी के समान सभासनिबद्ध, प्रांजल तथा मंजुल है। प्राकृत साहित्य में यह पुस्तक अमूल्य रत्न के समान है। इसकी शैली चम्पू जैसी है।

उद्योतन सूरि के धर्मगुरु तत्वाचार्य थे और विद्यागुरु हरिभद्र सूरि थे।

बप्पभट्ट सूरि

(जन्म वि० सं० ८००—मृत्यु वि० सं० ८७५)

प्राक्कालीन संस्कारवश यह आचार्य बाल्यावस्थामें दीक्षित हो गए थे। जाति से यह आचार्य ब्राह्मण थे। गौत्र भारद्वाज था। सं० ८०६ में यह दीक्षित हो गए थे। ११ वर्ष की आयु में इन्हें जैनसंघ की ओर से आचार्य पद दिया गया था।

११ वर्ष की आयु में ही आचार्य बन जाना इनकी प्रतिभा, योग्यता और सामर्थ्य का परिचायक है। इनके जीवन की मुख्य विशेषता चरित्रबल है। अपरिमित ज्ञान, अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन और तपः शक्ति इनके मुख्य गुण थे।

दुवांतधी नामक ग्रामके गृहस्थ से इनके गुरु ने इन्हें मांग लिया था। इनके पिता का नाम 'ब्रह्म' था माता का नाम 'भट्टि' था।

इनके पिता ने यह शर्त रखी कि इनका नाम माता-पिता की स्मृति में ब्रह्म और भट्टि मिलाकर ब्रह्मभट्टि रखा जायगा।

इन्होंने जुमराड़ तथा ग्वालियर नगर के आसपास गोपाचल पर्वत की तलहटी में ग्वालियर के राजा को जैनधर्म की दीक्षा दी थी। आचार्य श्री का व्याख्यान बहुत मर्मवेधी और भाववाही होता था। इनके गुरु सिद्धसेन सूरि कहे जाते हैं। कोई २ इनके गांव का नाम डूब ग्राम भी बताते हैं।

इनकी स्मरण शक्ति इतनी विलक्षण थी कि ये एक ही दिन में एक हजार अनुष्टुप कण्ठस्थ कर लेते थे।

एक दिन इनके पास एक राजकुमार आया। इन्होंने पूछा कि—"कुछ पढ़ोगे ?"

कुमार ने उत्तर दिया कि—"इच्छा तो यही है।" यह कुमार और कोई नहीं था। कन्नौज के राजा यशोवर्मा का पुत्र था। पिता नाराज हो गए थे। अतएव, रुष्ट होकर भाग आया था। थोड़े समय तो यह राजकुमार बप्प-भट्टि के पास रहा। जब यशोवर्मा को मालूम हुआ तो उसने अपने पुत्र को बुला भेजा। थोड़े ही समय के बाद यशोवर्मा का देहान्त हो गया। कुमार राजगद्दी का अधिकारी बना।

कुमार को गुरुजी की याद आई। यही तो कुलीनता की पहचान है ? ऋण को कैसे भूलता ? कुमार ने गुरुदेव के चरणों में राज्य की भेंट धर दी। किन्तु समर्थ रामदासजी ने जो उत्तर शिवाजी को दिया उसकी पूर्व-रचना बप्पभट्ट सूरि ने की थी।

आचार्यदेव ने गौड़ा (बंगाल) के अन्तर्गत लक्षणावती नगर के राजा को भी प्रतिबोध दिया था। राजा और प्रजा में दुर्भावना फैली हुई थी, उसका अन्त भी इन्हीं आचार्य के उपदेश से हुआ था। चावड़ा वंश पर भी आचार्य श्री का अमित प्रभाव था। ये हृदय के बड़े उदार और स्वभाव के मस्तयोगी थे।

बप्पभट्टी ने अपनी विद्वत्ता के प्रताप से साधारण जनता पर तथा पंडित मंडली पर अच्छी छाप छोड़ी थी। नंदसूरि और गोविंद सूरि नामक इनके दो शिष्य थे। आम राजा के पुत्र

भोज राजा पर इनका पर्याप्त प्रभाव था। मथुरा के शिवमतानुयायी वाक्पति योगी को भी इन्होंने प्रतिबोध दिया था। ९५ वर्ष की परिपक्व आयु में इनका स्वर्गवास हुआ। जैनधर्म को प्रचार के द्वारा फैलाने वाले ये समर्थ, प्रभावशाली आचार्य थे।

शीलांकाचार्य

(वि० सं० ९२५)

वि० सं० ९२५ में शीलांकाचार्य मानदेव सूरि के शिष्य थे। उन्होंने १०,००० श्लोक प्रमाण प्राकृत में "महापुरुष चरित्र" नामका वृहद् ग्रंथ बनाया था। उसमें ५४ महापुरुषों का वर्णन कियागया है। इसी संख्या में ९ पात्र और सम्मिलित करके हेमचन्द्राचार्य ने संस्कृत-भाषा में "त्रिषष्ठि शलका पुरुष चरित्र" का निर्माण किया है।

वि० सं० ९३३ में इन्होंने आचारांग सूत्र और सूत्रकृतांग पर संस्कृत भाषा में टीका लिखी है।

इन दोनों सूत्रों की ही नहीं, अपितु इन्होंने ११ अंगों पर टीकाएं लिखी थीं। लेकिन नौ अंगों की टीकाएं नष्ट हो जाने के कारण, अभयदेव सूरि ने उन ९ अंगों पर नए सिरे से टीकाएं लिखीं। जीव-समास पर लिखी उनकी वृत्ति आज भी उपलब्ध है।

सिद्धर्षिसूरि

(वि० सं० ९६२)

सिद्धर्षि एक महान् जैनाचार्य थे।

गुजरात के श्रीमाल नामक नगर में राजमंत्री सुप्रभदेव के दो पुत्र थे, उनमें से छोटे शुभंकर के पुत्र थे सिद्ध। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि माघ इनके चचेरे भाई थे। यौवनावस्था में सिद्ध विषयभोग में तल्लीन हो गए। जुए का व्यसन भी हो गया। बहुत लोगों के समझाने पर भी इनका मन न माना और धीरे-धीरे वे जुआरियों के अधीन हो गए। अन्त में अपनी माता की प्रताड़ना से एक दिन अर्धरात्रि को घर से निकल पड़े और उपाश्रय में जाकर आश्रय लिया। वहीं दीक्षा ली।

सिद्धर्षि सूरि एक बलवती कल्पना के घनी साहसिक लेखक थे। इन्होंने "उपमितिभव प्रपंच कथा" नामक एक विशाल रूपक ग्रंथ रचा था, जिसकी भाषा अलंकार-मय संस्कृत है। भारतीय साहित्य में इस कृति का एक विशिष्ट स्थान है। वि० सं० ९६३ की ज्येष्ठ सुदी ५ वीं गुरुवार के दिन यह ग्रंथ समाप्त हुआ था। इस आशय का उल्लेख इस ग्रंथ में मिलता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने "श्रीचन्द्रकेवलि चरित्र" का संस्कृत में सफल अनुवाद किया, जो मूलतः प्राकृत में था।

इनके गुरुदेव का नाम दुर्गस्वामी था, जो अखण्ड कीर्ति सम्पन्न ब्राह्मण कुल में जन्मे थे। उस काल में संस्कृत और प्राकृत मान्यताएं समान रूप में प्रचलित थी। किन्तु पाण्डित्य-प्राप्त वर्ग संस्कृत की ओर ही झुका था। "बालानां सद्बोधकारिणी" प्राकृत कही जाती है—इसीलिए संभव है कि आचार्यवर्य का भी झुकाव संस्कृत की ओर ही अधिक रहा है। इसीसे पता लगता

है कि युग का संकेत संस्कृत की ओर बढ़ रहा था, प्राकृत की ओर नहीं।

प्राकृत के नाते लगभग प्राकृत-काल समाप्त होने जा रहा था, क्योंकि समस्त आचार्य प्राकृत से संस्कृत की ओर आ रहे थे। प्राकृत के ग्रंथों का भी संस्कृतमें अनुवाद हो रहा था।

आचार्य सिद्धर्षि सूरिके साथ ही विक्रमकी पहली सहस्राब्दी पूरी हो जाती है।

जम्बूनाग स्वामी

(वि० सं० १००५)

जम्बूनाग स्वामी चन्द्रगच्छ के प्रभावक संत थे। विद्वत् संसद में भी इनका बड़ा मान था। इन्होंने १००५ में 'मणिपति-चरित्र' ग्रंथ की रचना की। जिनशतक काव्य तथा चंद्रदूत काव्य भी इन्हीं की कृतियां हैं।

प्रद्युम्न सूरि

इसी चन्द्रगच्छ में प्रद्युम्न सूरि हुए, आप वैदिक शास्त्र के परम प्रकाण्ड पंडित थे। इन्होंने अल्लू राजा की सभा में दिगम्बरों को पराजित किया था। ये बड़े ही प्रभावशाली शास्त्रार्थ महारथी थे। सपादलक्ष और त्रिभुवनागिरि आदि राजाओं को इन्होंने ही जैनधर्म की पवित्र दीक्षा दी थी। ये प्रसिद्ध आचार्य भगवान् महावीर के ३२ वें पाट पर आए थे।

माणक्य चंद्रसूरिने भगवान् पार्श्वनाथ चरित्र की प्रशस्ति में उपर्युक्त वृत्तान्त लिखा है।

महादार्शनिक अभयदेव सूरि

रस से परिपूर्ण मालव नामक प्रदेश है जहां धारा नामक नगरी है। भोज के काल में इसी नगरी में महीधर पति श्रेष्ठि रहता था।

अभयदेव के पिता का नाम महीधर श्रेष्ठि था, माता का नाम धनदेवी था। आप धारा नगरी के निवासी थे।

जैन-दर्शन के प्रकाण्ड पंडित आचार्य अभयदेव सूरि को कौन नहीं जानता ? उनकी अनमोल कृतियां उनका उज्ज्वल इतिहास, जिन्हें पढ़कर ही हमें सन्तोष करना पड़ेगा।

इनके गुरुदेव का नाम प्रद्युम्न सूरि था। न्याय के विशाल वन के ये केशरी थे। तर्क पंचानन के निष्णात थे।

इनके काल में संस्कृत-साहित्य का उत्कर्ष और जैन-न्याय का विकास समुचित रूप से हुआ है।

इस उन्नति का सारा श्रेय इन्हें है। आचाय अभयदेव सूरि ने सन्मति तर्क पर एक अद्भुत टीका लिखी है, ये संस्कृत, न्याय तथा प्रमाण-शास्त्र के प्रौढ़ विद्वान् थे।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने १६७ आर्य छन्दों में प्राकृतका सन्मति तर्क ग्रंथ निर्माण किया है। इसी पर आचार्य अभय-देव सूरि ने २५ हजार श्लोक प्रमाण एक अत्यन्त विस्तृत टीका लिखी है। इसका नाम "तत्व-बोध-विधायिनी" है।

११ वीं शताब्दी में न्यायशास्त्र पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों ने इससे भी विपुल और विस्तृत टीकाएं लिखी हैं, किन्तु परवर्ती समस्त आचार्य और टीकाकार इसी टीका को आदर्श मानते रहे हैं।

जैन न्याय तथा तर्कशास्त्र का श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सिद्ध-सेन दिवाकर को पिता माना जाता है और दिगम्बर सम्प्रदाय में आचार्य मल्लवादी ! हरिभद्र और अभयदेव सूरिने जैन न्याय का बहुत प्रसार और विकास किया है। इसी काल में दिगम्बर सम्प्रदाय में आचार्य अकलंक, विद्यानंद और प्रभाचन्द्र ने जैन न्याय को अति विशदता प्रदान की है। अतएव, इस काल को जैन इतिहासकारों ने न्याय-शास्त्र का विकास-काल नाम दिया है।

इस न्याय विकास का श्रेय आचार्य अभयदेव सूरि को है। इन्होंने सन्मति तर्क की टीका ऐसे अनोखे और सुलझे हुए ढंग से लिखी है कि आने वाले टीकाकारों को शैली सुधारनी पड़ी। स्वमत तथा परपक्ष की समुचित, उदारतापूर्ण उत्तर प्रणाली स्वीकार करनी ही पड़ी—यह देन आचार्य अभयदेव की है।

धनेश्वर सूरि

(विक्रमीय ११ वीं शताब्दी)

धनेश्वर सूरि आचार्य अभयदेव सूरि के शिष्य थे। आप त्रिभुवनगिरि के अधिपति कर्दम भूपति थे। धारानगरी के महा-राजाधिराज मुंज पर इनका अभिमत प्रभाव था। इसलिये इनके

सम्प्रदाय का नाम "चन्द्र गच्छ" से बदल कर "राज गच्छ" रखा गया।

वि० सं० १०५० या १०५४ में राजा मुंज की मृत्यु हुई है, उस समय धनेश्वर सूरि विद्यमान थे।

इनके जीवन का विस्तृत विवरण प्रभाचंद्र के प्रभावक चरित्र से उपलब्ध हो सकता है।

धनपाल कवि

(वि० ११ वीं शताब्दी)

धनपाल एक जैनाचार्य न होकर धाराधीश मुंजके माननीय राज सभा के प्रधान पंडित थे। राजा मुंज के मन में इनका अतिशय सम्मान था। राजा भोज के निवेदन पर इन्होंने "तिलक-मंजरी" नामक संस्कृत आख्यायिका लिखी थी। जैन सिद्धान्तों में आने वाले विचारों, तथ्यों तथा आदर्शों का अनुसरण करके, यह कवि की कृति अपूर्व एवं अद्वितीय रही है।

ऋषभपंचाशिका, श्री महावीर स्तुति और महावीर उत्साह नाम की कृतियां भी उपलब्ध होती हैं। किन्तु तिलक मंजरी इनकी विशिष्ट कलाकृति है और संस्कृत कथा-साहित्य की मूल्य-मयी मणि है।

शोभन

(वि० ११ वीं शताब्दी)

श्री आचार्य धनपाल के भ्राता थे शोभन। इन्होंने महेन्द्र-

सूरि से दीक्षा प्राप्त की थी। संस्कृत भाषा में आपने यमकयुक्त, चौबीस तीर्थंकरों की स्तुतियां लिखी हैं।

शांतिसूरि

(वि० ११ वीं शताब्दी)

सात सौ श्रीमाली कुटुम्बों को जैनधर्म की दीक्षा देने का गौरव इन्हीं आचार्य को प्राप्त है। कवि धनपाल की प्रार्थना मानकर ये धारा में आकर रहने लगे थे। महाराजाधिराज मुंज की विद्वन्मण्डलीमें इसका पर्याप्त सम्मान था। "उत्तराध्ययन सूत्र" पर "पाइम टीका" नामक रुचिर टीका की इन्होंने रचना की थी।

वि० सं० १०९६ वें में इनका देहावसान हो गया। "वादी बेताल" उपनाम देकर महाराजा भोज ने इनका बहुत सन्मान किया था।

वर्द्धमान सूरि

(वि० सं० १०४५)

वि० सं० १०४५ में चन्द्रगच्छीय वर्द्धमान सूरि ने हरिभद्र सूरि कृत उपदेश-पद पर टीका रची। इसके अतिरिक्त "उप-मिति भव प्रपंच कथानां समुच्चय" और उपदेशमाला वृहद्वृत्ति नाम की टीका रचने का भी पता मिलता है।

जिनचंद्रप्रभ सूरि

वि० सं० १०७३ में कक्करसूरि के शिष्य जिनचंद्रगणी जो

माड़ में देवगुप्त नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, पत्तन में नवपद लघुवृत्ति के रचयिता हैं। आपने ही नवतत्व प्रकरण की भी रचना की। सं० १०७८ में "वीर" नामक आचार्य ने आराधना पताका रची।

जिनेश्वर सूरि

पाटण के राजा दुर्लभराज के समय में एक घटना घटी। वनराज के समय से पाटन में चैत्यवासी मुनि ही रहते आए थ। वर्द्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर ने पुस्तक भंडार में से दशवैकालिक सूत्र मंगाकर सिद्ध कर दिया कि वे जिस प्रकारका आचार पालन करते हैं वह शास्त्र-सम्मत नहीं है। वरन् वे स्वयं जिस आचार का पालन करते हैं, वही शास्त्रानुकूल है। इस हेतु से स्थानीय राजा ने उन्हें खरतर उपनाम दिया। इसी आधार पर इनका शिष्य समुदाय खरतर गच्छीय कहलाया। खरतर-गच्छ की पट्टावलि में ऐसा विधान पाया जाता है। जिनेश्वर सूरि ने हरिभद्र के अष्टकों पर टीका (सं० १०८०) में रची और पंचलिंगी प्रकरण, वीर-चरित्र, निर्वाण, लीलावती कथा, कथाकोष, प्रमाण लक्षण आदि ग्रंथों का आशापल्ली में सं० १०८२ और १०८५ में निर्माण किया।

बुद्धिसागर सूरि

बुद्धिसागरजी जिनेश्वर सूरि के सहोदर और सहदीक्षित थे। संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित और जैन-सिद्धान्तों के प्रतिभा-

वान मर्मज्ञ थे। संस्कृत शब्दों की सिद्धि के लिए ७००० श्लोक परिमित एक पंचग्रंथी व्याकरण की भी इन्होंने वि० सं० १०८० में जावालिपुर नगर में रचना की थी। बुद्धिसागर सूरि जैन समाज के आद्य वैयाकरण कहे जा सकते हैं।

धनेश्वर सूरि

यह जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे। इन्होंने वि० सं० १०६५ में सुरसुन्दरी-कथा प्राकृत में रची। वि० सं० १०८८ के आसपास आबू के राजा भीमदेव के समय में, उनके मामा द्रोणाचार्य जैनाचार्य थे। उन्होंने पिण्ड निर्युक्ति पर टीका रची और ओघ निर्युक्ति पर भी। जिनेश्वर सूरि के शिष्य अभयदेव सूरि ने जो नवांगों पर टीकाएं लिखी हैं, उनमें भी इन्होंने सहायता की थी। राजा भीमदेव के मंत्री विमल भी इन्हींके समय में हुए हैं, जिन्होंने आबू पर विमलवसहि नामका कलात्मक मन्दिर बनवाया है।

आबू का मन्दिर १०८८ में बनवाया गया था। कला की दृष्टि से यह मंदिर भारतवर्ष में सर्वोत्तम है। कर्नल टॉड का कहना है कि आबू मन्दिर सजीवता का मुकाबला ताजमहल के सिवा अन्य कोई इमारत नहीं कर सकती।

नवांगी टीकाकार–

अभयदेव सूरि

अभयदेव जैन-समाज में शास्त्रों के सफल टीकाकार के रूप में विख्यात हैं। आपकी ये सरस व सफल टीकाएं संस्कृत में हैं।

श्री शीलांगाचार्य ने ११ अंगों पर ही संस्कृत में टीकाएं लिखी थीं। किन्तु समय की विचित्रता के कारण नौ अंगों की टीकाएं लुप्त हो गई। आचार्य अभयदेव ने इसकी पूर्ति की और नौ अंगों पर सुन्दर टीकाएं लिखीं।

आपका जन्मस्थल मेदपाटमें बड़सल्ल नगर है। बाल्यावस्था का नाम इनका सांगदेव था। इनके माता-पिता का नाम उपलब्ध नहीं है। फिर भी, इतना तो मालूम होता है कि ये राजा के लाड़ले पुत्र थे। आचार्य जिनेश्वर सूरि का बड़सल्लमें पदार्पण हुआ। तभी राजकुमार सांगदेव को भी उपदेश सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

धीरे २ सांगदेव की श्रद्धा जैनधर्म में बढ़ती गई। अन्तमें उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। आचार्य देव ने इनका शुभ नाम अभयदेव रखा।

शिष्येणाऽभयादेवास्य सूरिणा निवृत्तिः कृता
ज्ञाताधर्म कथांगस्य श्रुतभत्या समासतः।
—ज्ञाताधर्म कथांगस्य टीका।

आचार्य अभयदेव संयमी, तपस्वी तथा रस-परित्यागी थे। इनका शरीर बहुत ही सुकुमार और सुन्दर था, तथापि इन्होंने भवबाधापहारिणी तपस्या का ही आश्रय लिया था।

एक बार एक भयंकर रोग से इनका सामना हो गया। रोग की वृद्धि तथा उत्ताप इतना बढ़ गया कि जीवित रहने की कोई आशा नहीं रही। किन्तु मृत्युंजयी आचार्य अभयदेव हर समय भगवान् की प्रार्थना, जैन-शासन की अभिवृद्धि की कामना में तल्लीन रहते थे। एक रात उन्हें स्वप्न आया कि किसी अज्ञात-शक्ति से प्रेरणा मिल रही है कि अभी उनका जीवन बहुत है और उन्हें नौ अंगों पर संस्कृत में टीका लिखनी पड़ेगी।

रोग समाप्त हो गया, स्वस्थता के आते ही आचार्य अभय-देव ने नवांगों पर टोका लिखने का कार्यारम्भ किया। पाटण-नगर में यह शुभ कार्य पूरा किया गया।

४७ हजार श्लोकों में नवांग पर टीका लिखी गई।

नवांगों के नाम

१. श्री स्थानांग
२. श्री समवायांग
३. श्री भगवती

४. श्री ज्ञाताधम कथा
५. श्री उपासक दशांग
६. श्री अनूतकृत दशा
७. श्री अनुत्तरौपपातिक
८. श्री प्रश्नव्याकरण
९. श्री विपाक

इनके अतिरिक्त पंचाशत् टीकादि।

टीका की भाषा संस्कृत है। टीका बहुत भावपूर्ण है। अर्थाभिव्यंजक है एवं मनोरंजक भाषा में लिखी गई है।

इस असीम ज्ञानदान द्वारा आचार्य अभयदेव ने असीम उपकार किया है। आपकी दीक्षा १०८८ में हुई थी, इसी साल आबू का मंदिर बना है। आपका स्वर्गवास ११४५ में हुआ था।

४७ वर्ष का अखण्ड संयम, निर्मल चारित्र्य एवं जैन-शासन सेवा, समाज के लिए आदर्श है।

आचार्य अभयदेव में ज्ञान और चारित्र्य का अपूर्व सामञ्जस्य था। उनकी श्रद्धा इससे भी अगाध थी।

जैन-शासन के प्रभावक आचार्यों में आचार्य अभयदेव का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

वे आर्हती संस्कृति के महान् एवं दिव्य नक्षत्र थे।

अभयदेवके पश्चात्वर्ती आचार्य

चन्द्रप्रभ महत्तर

अभयदेव सूरि के शिष्य चन्द्रप्रभ महत्तर ने संवत् ११५७ से ११३७ के बीच में विजयचंद्र चरित्र प्राकृतभाषा में लिखा है। इसके अतिरिक्त अनेक ग्रंथों को ताड़पत्रों पर लिखा है। इनके गुरुभाई जिनचंद्र सूरि ने संवेगरंगशाला नामक ग्रंथ का सं० ११२५ में निर्माण किया। इसका संशोधन नवांगवृत्तिकार अभयदेव सूरि के शिष्य प्रसन्नचंद्र, गुणचंद्र और जिनवल्लभ गणि ने किया था।

वर्द्धमानाचार्य

आप अभयदेव सूरि के शिष्य थे। आपने 'मनोरमा-चरित्र' प्राकृत में लिखा। इस ग्रंथ निर्माण का समय वि० सं० ११४० है। इसके अतिरिक्त सं० ११६० में प्राकृत-भाषा में आदिनाथ चरित्र तथा धर्मरत्न करण्ड वृत्तिः का सं० ११७२ में निर्माण हुआ।

इसी काल में काश्मीरी राजा कर्ण के राज्य में कल्हण नामक प्रसिद्ध कवि हुआ है। उसने विक्रमांक देव चरित्र की रचना की थी।

मल्लधारी—अभयदेव सूरि

यह हर्षपुरीय गच्छ के जयसिंह सूरि के शिष्य थे। सिद्धराज ने इन्हें मल्लधारी का उपनाम दिया था। इन्हीं के उपदेशामृत से प्रभावित होकर सिद्धराज ने अपने समस्त राज्य में "अमारि" की उद्‌घोषणा करवाई थी और पर्यूषण के दिनों में पशुवध बन्दी की थी।

मल्लधारी-अभयदेव सूरि ओजस्वी वक्ता थे। इन्हीं के उपदेशों से अनेक अजैनों ने जैनधर्म स्वीकार किया था।

जब इन्होंने मेड़ता में ४७ दिन का अनशन किया था, तब स्वयं सिद्धराज इनके दर्शनार्थ आया। वि० सं० ११६८ में इनका स्वर्गवास हुआ था। रणथम्भौर में तथा शांकभरी पृथ्वीराज प्रथम पर भी इनका बड़ा प्रभाव था। यह बहुत बड़े ग्रंथकार भी थे।

जिनवल्लभ सूरि

इनकी प्रसिद्धि कर्ण के समय में गणी के रूप में और सिद्ध राजा के समय में ग्रंथकर्त्ता और आचार्य के रूप में अत्यधिक थी।

अभ्यासकाल में इन्हें प्रतीत हुआ कि चैत्यवास शास्त्र के विरुद्ध है। अतएव, इन्होंने चैत्य का वास त्याग कर नवांग-वृत्तिकार अभयदेव सूरि से पुनः दीक्षा धारण की।

वाग्नड़ अर्थात् "वागड़" की जनता को इन्होंने प्रतिबोधित

किया और धारानगरी के राजा नरवर्मा को धर्मलाभ-प्रदान कर प्रभावित किया।

सं० ११६७ में, सूरिपद प्राप्त होने के छः मास पश्चात् इनका देहान्त हो गया।

इन्होंने 'सूक्ष्मार्थ सिद्धान्त विचार-सार', 'आगमिक वस्तु विचार-सार', पिण्ड विशुद्धि-प्रकरण, पौषध विधि-प्रकरण, प्रश्नशष्टि शतक तथा संघपट्टक के सिवाय अष्टक और शृंगार शतक का भी निर्माण किया। ये बहुत आगमज्ञ व प्रकाण्ड विद्वान् थे।

जिनदत्त सूरि

यह जिनवल्लभ सूरि के शिष्य और पट्टधर थे। इन्होंने अनेक राजपूतों को प्रतिबोध देकर जैनधर्म का विस्तार किया था।

खरतर गच्छीय और महानतम प्रभावक पुरुष के रूप में इनकी ख्याति हुई है।

आज भी ये आचार्य प्रवर जनलोक में दिव्य शक्तिधर, चमत्कारिक सिद्ध के रूप में "दादा" के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सं० ११६४ में इन्हें "सूरिपद" प्रदान किया गया था।

इनके निम्नलिखित प्राकृत-ग्रंथ प्रसिद्ध हैं:—

१. गणधर सार्थ शतक
२. संदेह दोहावली
३. गणधर सप्तति

रामदेव गणि

जिनवल्लभ सूरि के शिष्य रामदेव गणि हुए। उन्होंने वि० सं० ११७३ में अपने गुरु द्वारा रचित "षड्नीति" और 'सत्तरी' पर टिप्पणियां लिखीं। जिनवल्लभ सूरि के शिष्य धनदेव के पुत्र पद्मानंद हुए। इन्होंने वैराग्य शतक का निर्माण किया था।

उसी समय, सिद्धराज का एक बालमित्र कवि श्रीपाल हो गया है। उसने ऋषभ और नेमिनाथ दोनों को लागू होने वाला महाकाव्य बनाया। उसके सिवाय सिद्धराज के सहस्रलिंग सरोवर, रुद्रमाल तथा दुर्लभ सरोवर की प्रशस्तियां लिखी हैं।

यह जाति से पोरवाड़ जैन वैश्य थे।

वीराचार्य

वि० सं० ११६० में चन्द्रगच्छीय विजयसिंह सूरि के शिष्य वीराचार्य हुए। उनके साथ सिद्धराज की मित्रता थी। एक बार सिद्धराज ने साभिमान कहा कि—"राजा के आश्रय से ही आपका तेज है।"

सूरिजी ने उत्तर दिया—"नहीं, स्वप्रज्ञा से ही यश और तेज का विस्तार होता है।"

राजाने कहा—"यदि आप मेरी सभा छोड़ दें तो दर-दर की धूल छाननी पड़े।"

इस पर आचार्यवर ने विहार का कार्यक्रम बनाया और विहार कर दिया। जयसिंह ने उस दिन नगर के फाटक बन्द

रखने की आज्ञा दे दी। तथापि सूरिजी अपनी विद्या के बल से द्वार पार होकर वल्लभीपुर जा पहुंचे।

तदनन्तर नागौर आदि प्रदेशों में विचर कर उन्होंने जैन-धर्म की अच्छी प्रभावना की।

इस बीच सिद्धराज का अभिमान—गर्व-खर्व हो गया था। "घमण्डी का सिर नीचा", कहावत—सिद्धराज के सिर पर जा पड़ी।

तदुपरान्त सिद्धराज ने अपने अभिमान पर अत्यन्त लज्जा-पूर्वक खेद प्रकट किया।

देवभद्र सूरि

नवांग वृत्तिकार अभयदेव सूरि के प्रशिष्य और प्रसन्नचंद्र सूरि के शिष्य देवचन्द्र सूरि हुए। उन्होंने 'आराधना शास्त्र', 'वीर-चरित्र', 'कथारत्न कोष' आदि ग्रंथ प्राकृत में रचे।

वि० सं० ११६५ में उन्होंने प्राकृत में पार्श्वनाथ चरित्र की रचना की।

वीरगणि

चन्द्र गच्छीय ईश्वर गणी के शिष्य वीर गणी ने दधिपद (दाहोद) में वि० सं० ११६६ में पिण्डनियुक्ति पर टीका लिखी। वि० सं० ११६० में प्रख्यात हेमचंद्र सूरि के गुरु देवचंद सूरि ने खम्भात में शांतिनाथ चरित्र, गद्य-पद्यमय प्राकृत भाषा में लिखा। वि० सं० ११६२ में वीर चन्द्र सूरि के शिष्य देवसूरि ने

प्राकृत गाथाओं में जीवानुशासन की तथा उस पर स्वोपज्ञ टीका लिखी।

मुनिचन्द्र सूरि

(४० वें पाट पर)

यह बृहद् गच्छ के सर्वदेव सूरि के शिष्य यशोभद्र और नेमिचंद्र के शिष्य थे। बहुत संभव है कि इनके दीक्षा-गुरु यशोभद्र सूरि हों। बाल्यावस्था में ही दीक्षा धारण करके इन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया था। ये विद्वान् और वादी होते हुए भी बहुत तपस्वी थे।

इन्होंने बहुत से ग्रंथों पर वृत्तियां और चूर्णियां रचने का भी महान् कार्य किया था। छोटे २ कई ग्रंथ भी लिखे। किन्तु अभी तक इनका ऐतिहासिक और प्रामाणिक जीवन अंधकार-ग्रस्त है।

इनका देहान्त वि० सं० ११७८ में हुआ था।

मलधारी हेमचंद्र सूरि

यह मलधारी अभयदेव सूरि के शिष्य थे और प्रख्यात आचार्य हेमचंद्र से भिन्न थे। पहले यह सचिव के पद पर आसीन थे। उस समय इनका नाम महामात्य प्रद्युम्न था। वैराग्य भाव से प्रेरित होकर अपनी चार स्त्रियों का त्याग करके अभयदेव सूरि के उपदेश से दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

साहित्योपासना में इनकी विशेष रुचि थी।

इन आचार्य के तीन पट्टधर थे:—

१. विजयसिंह सूरि

२. श्रीचंद्र सूरि

३. विबुधचंद्र सूरि

इनमें से पहले विजयसिंह सूरिने वि० सं० ११६१ में धर्मोपदेशमाला की रचना की।

अपनी पूर्वावस्था में चंद्रसूरि लाट देश के मंत्री थे और फिर उन्होंने दीक्षा अंगीकार की।

उन्होंने वि० सं० ११६३ में मुनिसुव्रत चरित्र तथा प्राकृत भाषा में संग्रहणी तत्त्व नामक ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ पर इनके शिष्य देवभद्र सूरि ने एक वृत्ति लिखी थी। ऐसा उल्लेख मिलता है। वि० सं० ११६७ में गोविन्द सूरि के शिष्य वर्द्धमान सूरि ने भी ज्ञान-रत्न महोदधि नामक व्याकरण ग्रंथ रचा और उसपर स्वयं टीका भी लिखी।

श्रीचंद्र सूरि

आप चन्द्र गच्छीय सर्वदेव सूरि के प्रशिष्य देवेन्द्र सूरि के शिष्य थे। सं० १२१४ में इन्होंने प्राकृत में सनत्कुमार चरित्र लिखा जो १२ हजार श्लोक में निबद्ध किया गया था।

श्री हरिभद्र सूरि

यह हरिभद्र याकिनी सूनु हरिभद्र से भिन्न हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं। यह श्रीचन्द्र सूरि के शिष्य थे।

गुजरात की राजधानी पाटन में बहुत समय तक रहे थे। सिद्धराज और कुमारपाल दोनों के महामात्य पृथ्वीपाल की अभ्यर्थना से इन सूरि ने चौबीसों तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र प्राकृत-अपभ्रंश भाषा में लिखे। जिनका समय वि० सं० १२४० के बाद का है।

मुनिरत्न सूरि

चन्द्रगच्छीय समुद्रघोष सूरि के यह शिष्य थे। उज्जयिनी के महाकाल नामक देवालय में नरवर्मा नामक राजा की सभा में विद्याशिव नामक जैनेतरवादी को उन्होंने परास्त किया था। वि० सं० १२३५ में अभय स्वामी नामक आगामी तीर्थंकर का चरित्र इन्होंने लिखा। ऐसा प्रमाण प्राप्त होता है।

सोमप्रभ सूरि

ये सूरि तपागच्छ के ४३ वें पाट पर हुए हैं। ये गृहस्थावस्था में थे। प्राग्वाट-पोरवाड़ जाति के वणिक् थे। पिता का नाम सर्वदेव और पितामह का नाम जिनदेव था। जिनदेव किसी राजा के मंत्री थे। बाल्यावस्था में ही वैराग्य भाव से प्रभावित होकर इन्होंने दीक्षा अंगीकार की थी। कुशाग्रबुद्धि के कारण ये स्वल्पकाल में ही सब शास्त्रों का अभ्यास, चिन्तन, मनन और विध्यासन कर गए। इसलिए इन्हें शीघ्र ही आचार्य की पदवी प्राप्त हुई।

इनकी चार रचनाएं अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त हुई हैं:—

१. सुमतिनाथ चरित्र
२. सुक्ति मुक्तावलि
३. शतार्थ काव्य
४. कुमारपाल प्रतिबोध

पहली तीन रचनाएं प्रौढ़ तथा प्रांजल संस्कृत भाषामें लिखी गई हैं। चौथा ग्रंथ कुमार पाल के अवसान के करीब नौ वर्ष बाद ही लिखा गया है। अतएव उसमें बहुत-सी ऐसी घटनाएं दृष्टिगोचर होती हैं, जिन पर विश्वास किया जा सकता है।

तीसरा ग्रंथ वि० सं० १२३३ में और चौथा ग्रंथ वि० सं० १२४१ में लिखा गया है।

हेमचंद्राचार्य

बारह वर्षीय दुष्काल के समाप्त हो जाने के बाद तीसरी चौथी शताब्दी में जैन श्रमणों ने सर्वत्र विद्या और संयम के वातावरण का निर्माण कर दिया। ज्ञान और आचरण के साथ-साथ आत्म-विश्वास के बल पर जैन श्रमणों ने राज्य संस्थाओं पर भी नैतिक नियंत्रण किया। उन्होंने राजाओं को यह जचा दिया कि सांस्कृतिक सजीवता के बिना राज्य-रक्षण सरलता से नहीं हो सकता। सचमुच जनता का या प्रजा का प्रतिनिधि वही हो सकता है जिसका जीवन, धर्म और संस्कृति से अनुप्राणित हो।

अपना राज्य तभी स्थायी होता है जब अंतर में संस्कृति की जड़ें गहरी पहुंचा दी जायं, अन्यथा राज्य केवल प्रादेशिक सीमाओं की दृष्टि से स्थापित किया जायगा तो उससे सत्ता की भूख ही जागृत हो सकती है, प्रत्युत् यदि राज्य सांस्कृतिक आचार-विचारों के आधार से स्थापित हो तो बाह्य दृष्टि से स्वीकृत पर सत्ता को समाप्त करनेमें देर नहीं लगती।

गुजरात की तत्कालीन स्थिति पर दृष्टि क्षेप करने से यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि निष्प्राण गुर्जर भूमि के मन और बुद्धि को सुसंस्कृत करके परम स्फूर्तिदायक आध्यात्मिक चेतना

जागृत करने वाले एक पवित्र सत्पुरुष के रूप में महामहिम हेमचंद्राचार्य का प्रादुर्भाव हुआ।

हेमचंद्राचार्य का जन्म धंधूका गांव में वि० सं० ११४५ में हुआ था। माता का नाम पाहिनी, पिता का नाम चार्चिग और आपका नाम था चंग।

पाहिनी माता अपने इस चांग कुमार को आचार्य देवचंद्र के चरणों में दर्शनार्थ लेकर गई। आचार्यदेव ने इस अद्भुत बालक के ज्योतिष्मान मुखमण्डल, वात्सल्य जनक मुस्कान और प्रसादपूर्ण बालसुलभ चेष्टाओं को देखकर परम संतोष प्रकट किया। आचार्यवर को ज्योतिष और सामुद्रिक का भी पर्याप्त ज्ञान था। इसलिए बच्चे के लक्षणों का अध्ययन करके आपने मन ही मन ऐसा निश्चय किया कि इस बालकसे संघ-प्रभावना और शासन-सेवा का विस्तृत कार्य लिया जा सकता है। आचार्य श्री ने अपनी समस्त पवित्र आशाएं इस बालक के जीवन के साथ केन्द्रित कर दीं। इतना ही नहीं समस्त संघ की अनुमति लेकर आचार्य श्रीने माता पाहिनी से इस उत्तम भिक्षा की याचना की। कुछ देर माता के हृदय में वात्सल्य और श्रद्धा का संग्राम चला, परंतु जैन समाज के सद्भाग्य से अन्त में श्रद्धा की ही विजय हुई और माता जी ने आचार्य श्री के चरणों में उत्तम से उत्तम, प्रिय से प्रिय अपने जीवन का दुलारा नन्दन समर्पित करके अपने आपको धन्य बनाया।

कुमार चांग को साथ लेकर आचार्य प्रवर ने खंभात की

ओर विहार किया। उस समय वहां मंत्री उदयन का वर्चस्व था। उदयन के हृदय में आचार्य देव और सूरि के लिए भक्ति के पावन भाव थे।

इधर चांग के पिता को जब यह घटना मालूम हुई तो वे आवेश में भर आये और अपने पुत्र को वापस लौटाने के उद्देश्य से खंभात की तरफ दौड़े। परन्तु आचार्य श्री के सत्संग और शुद्ध हृदय के वातावरण को देख कर उनका आवेश आनंद के रूप में परिवर्तित हो गया और दीक्षा की आज्ञा देने में ही अपने को कृतार्थ समझा।

बड़े धूमधाम से इस बाल-वैरागी का दीक्षोत्सव मनाया गया। हमारे इन नूतन मुनिवर्य का नाम सोमचन्द्र रखा गया। मुनि सोमचन्द्र विद्याभ्यास में आशातीत प्रगति करने लगे। धीरे-धीरे इन्हें व्याकरण, साहित्य, अलंकार, कोष, न्याय, दर्शन, ज्योतिष, धर्मशास्त्र और राजनीति आदि सभी विषयों पर अद्भुत अधिकार प्राप्त हो गया। फलस्वरूप २१ वर्ष की उम्र में इन्हें आचार्य पद पर स्थापित कर दिया गया। उसी समय आप सोमचन्द्र मुनि के स्थान पर हेमचन्द्र सूरि कहलाने लगे।

वि० सं० ११६६ की वैशाख शुक्ला को आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने पाटने की ओर विहार किया। उस समय यह पाटन नगरी विद्या, कला, राजनीति और धर्म का केन्द्र बन गया था। पाटन पति सिद्धराज सम्राट् विक्रम के समान ही वीरता और विद्वत्ता का अनुपम रसिक था।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि का सत्संग मिलने से सोने में सुगंध का संचार हो गया। धीरे-धीरे सिद्धराज और हेमचन्द्राचार्य का सम्पर्क सरस्वती उपासना का साधन बन गया। सर्वप्रथम "सिद्ध हेम शब्दानुशासन" के नाम से एक असाधारण प्रतिभा-पूर्ण नवीन व्याकरण का निर्माण किया गया, जिससे आचार्य हेमचन्द्र सूरि का नाम सर्वत्र अद्वितीय पंडित के रूप में विस्तृत हो गया। आचार्य हेमचन्द्र सूरि पंडित तो थे ही परन्तु सिद्ध-राज के शासन में भी निर्मल चारित्र्य का रंग भर रहे थे, जिनके प्रताप से सिद्धराज साधारण कपड़ों को धारण कर प्रजा के सुख दुःख की स्वतः खबर लेता था। भेष बदल कर रात्रि में दुखियोंकी पीड़ाएं जान कर उन्हें दूर करने का निश्चय करता था। इन सब प्रवृत्तियों से आचार्य हेमचन्द्र सूरि के प्रति राजा और प्रजा दोनों क्षेत्रों में पर्याप्त श्रद्धा फैल गई थी। आचार्यश्री की राज्य-भक्ति और लोक-भक्ति के कारण अनेक जीवन प्रसंगों के साथ समरस होने का अवसर आता था, जिनके प्रत्यक्ष अनुभव से आपके काव्यों में मानवता की गहराइयों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

कुमार पाल और हेमचंद्राचार्य

एक दिगम्बर जैन कथाकार की भाषा में लिखना हो तो चन्द्रगुप्त राजा के एक स्वप्न का फलादेश यह था कि कुमार पाल राजा जैनधर्म का अनन्य अनुरागी होगा।

कथाकार की यह कल्पना हो या सत्य, इतना तो निश्चित

ही है कि कुमार पाल राजा जैनधर्म का महान् प्रचारक और आचार्य हेमचन्द्र सूरि का परम भक्त बन गया। राजा कुमार पाल को स्थान-स्थान पर परमार्हत् के विशेषण से संबोधित किया गया है।

सिद्धराज को हेमचन्द्राचार्य ने अपनी योग-विद्या के बल पर पहले ही बतला दिया था कि उसका राज्याधिकारी कुमार पाल होगा। सिद्धराज कुमार पाल को नापसंद करता था—इतना ही नहीं सिद्धराज ने उसे मरवा डालने का भी प्रयत्न किया, परन्तु हेमचन्द्राचार्य ने उसे अभय दिला दिया। फल-स्वरूप मिले हुए राज्य को कुमार पाल ने आचार्य श्री के चरणों में चढ़ा दिया। परन्तु आचार्य श्री स्वयं तो परम त्यागी थे—उन्हें राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। फिर भी कुमार पाल से उन्होंने अपने राज्य में सदा के लिए "अमारि" की उद्घोषणा करवा ही ली और यह वचन लिया कि मैं जैनधर्म के पवित्र व्रतों का दृढ़ता के साथ आचरण करूंगा और जीवन-भर जैनधर्म के प्रचार में सहायक बनूंगा। गुजरात में जैनधर्म के विस्तार का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

आचार्य श्री के कतिपय जीवन प्रसंग

साम्प्रदायिक का मोह व व्यक्तिगत ईर्ष्याके आवेश में कति-पय पंडितों ने सिद्धराज की प्रजा में ऐसा शोर मचाना शुरू किया कि देवी बलि मांग रही है इसलिए राजा को "अमारि"

घोषणा में सुधार करना चाहिए, नहीं तो हमारे प्रदेश पर विपत्ति आ जायेगी। देवी का क्रोध भयंकर होता है।

राजा कुमार पाल ने आचार्य हेमचन्द्र सूरि के समक्ष इस विचित्र वातावरण की चर्चा की। आचार्य तो बड़े कुशल अवसर को जानने वाले चतुर महापुरुष थे। उन्होंने कहा—देवी के चरणों में आप अवश्य बलि के बकरे भेज दें। यदि देवी की इच्छा होगी तो वे उन्हें अवश्य भक्षण कर लेंगी अन्यथा बकरे अमर ही हैं।

ऐसा कहकर रातभर देवी के मंदिर में बकरों को रहने दिया। चारों ओर विश्वासपात्र द्वारपाल नियुक्त किये गये। प्रातःकाल मंदिर का द्वार खुलते ही ज्यों के त्यों बकरों को देखकर प्रतिपक्षी अपने किये पर पछताने लगे, और आचार्यदेव के चरणों पर गिर पड़े।

एक बार कतिपय प्रतिस्पर्द्धी विद्वानों ने आचार्य श्री से प्रश्न किया कि—"आप समभाव की बातें करते हैं और कभी महादेव के मंदिर में पैर भी नहीं रखते—यह कथनी-करनी में भेद क्यों ?" आचार्य श्री महादेव के मंदिर में पधारे और प्रार्थना की कि:—

"भव बीजांकुर जनना रागाद्याः क्षय मुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो वा जिनो वा नमस्तस्मै॥

अर्थात्—संसार रूपी बीज के अंकुर को उत्पन्न करने वाले

रागादि दोष जिनके नष्ट हो गये हों उसको मेरा नमस्कार है। चाहे उसका नाम ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो या जिन हो।

इस प्रकार वस्तुस्थिति को समझ कर व्यवहार को अपने निश्चय के अनुकूल बना लेने की पवित्र जीवन-कला आपको सध गई थी।

विलक्षण प्रतिभा

आचार्य श्री विद्याओं के अनुपम भण्डार थे, उस समय में आपकी प्रसिद्धि ऐसी थी मानो एक जंगम विश्वविद्यालय हो। वास्तव में प्रत्यक्ष शिक्षण-क्षेत्र में आपने अपनी अजोड़ प्रतिभा संपन्नता का परिचय दिया है।

मुख्य २ ग्रन्थ

आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभा साहित्य के सभी क्षेत्रों में सर्वांगीण रूप से अभिव्यक्त हुई है। आपने शब्दानुशासन छन्दानुशासन, काव्यानुशासन और लिंगानुशासन इन चारों अनुशासनोंकी साथ साथ रचना की है।

व्याकरण के क्षेत्रमें सिद्ध-हेमानुशासन एक विशिष्ट सम्मान का स्थान रखता है। इसके अंत में दो अध्याय प्राकृत-व्याकरण के भी लिखे गये हैं।

कुमारपाल चरित्त नामक प्राकृत काव्य और द्वाश्रय महा-काव्य संस्कृत भाषा में लिखकर आपने राजकीय व्यवहारों का साहित्य क्षेत्र में अवतरण किया है।

अभिधानचिंतामणि, हेम अनेकार्थ संग्रह, देशी नाममाला तथा निघण्ड कोष भी आपकी ही रचना है।

संस्कृत भाषा में "त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र" लिखकर जैन महापुरुषों के इतिहास को सुललित भाषा में उपस्थित करते हुए एक महान् आवश्यकता की पूर्ति की है।

प्रमाण-मीमांसा, अन्य योग व्यवच्छेद तथा अयोगव्यवच्छेद नामक ग्रंथों की रचना करके दर्शन शास्त्र के भण्डार को ये अनुपम रत्न प्रदान किये हैं। इनमें से पहली बत्तीसी के आधार पर श्री मल्लिषेण ने स्याद्वाद-मंजरी टीका लिखकर जैन न्याय की अपूर्व सेवा की है।

योग और धर्मशास्त्रमें आपने योगशास्त्र और अध्यात्मोपनिषद् की महत्त्वपूर्ण रचना की है। वीतरागस्तोत्र, सप्त संधान और परिशिष्ट पर्व आदि काव्यग्रन्थ भी आपकी ही अद्वितीय कृतियां हैं।

गुजरात के साहित्य सर्जकों में आचार्य हेमचंद्र सरीखा बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व ढूंढ़ने से भी नहीं मिलेगा। आचार्य पीटसन नामक जैनेतर विद्वद्रत्न की उक्ति उद्धृत करना ही पर्याप्त होगी, जो आचार्य श्री की महान् योग्यता और अगाध-साहित्य सृजन शक्ति से प्रभावित होकर लिखता है कि: -Acharya Hem Chondra is the ocean of knowledge.

आचार्य हेमचंद्र ज्ञान के महासमुद्र हैं।

संक्षेप में यह लिखते हुए तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं कि आचार्य हेमचंद्र इस बारहवीं शदीके अकेले ही अभिनायक थे।

आपके द्वारा प्रसारित की हुई जैन-संस्कृति और मांस-निषेध--

जैन संस्कृति और मांस-निषेध की विशुद्ध प्रवृति का गुजरात, मेवाड़, कच्छ और काठियावाड़ आदि प्रदेशों में इतना गहरा असर हुआ कि आज भी इन क्षेत्रों में निरामिष भोजी जनता समस्त भारतीय क्षेत्रकी अपेक्षा अधिक संख्या में पाई जाती है।

एक महिलाकी दयार्द्र अश्रुमय प्रार्थना को सुन कर समस्त राज्यभर में निर्वंश का धन न लेने और पशुवध विरोध की "अमारि" घोषणा करवा देना आचार्य हेमचंद्र का ही दिव्य कार्य था। सचमुच राजा कुमार पाल की विशाल हृदयता और आचार्य श्री का सांस्कृतिक प्रभाव गुजरात की अस्मिता और भारतवर्ष के इतिहास में अमिट अलंकार के रूप में प्रसिद्ध रहेगी।

आचार्य श्री का शिष्य समुदाय

आचार्य श्री को शिष्य वृद्धि का तनिक भी लोभ न था, परन्तु आपकी दिव्य साहित्यिक प्रतिभा देखकर गुणग्राहक जिज्ञासु ज्ञान-पिपासु समुदाय अपने आप एकत्र होने लगा।

आपके शिष्य समुदाय में रामचंद्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्हें आचार्य श्री स्वयं अपना उत्तराधिकारी मानते थे। श्री रामचंद्र ने केलविलास, यदुविलास, सत्य हरिश्चन्द्र आदि अनेक नाटकों और सुभाषित सुधार-कलश नामक उपयोगी कोष की शुभ रचना की है।

आपने अपने गुरु भाई के सहयोग से नाट्यदर्शन (नाट्यशास्त्र का बेजोड़ ग्रन्थ) और द्रव्यालंकार (न्याय ग्रंथ) नामक दो ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लिखे हैं—इतना ही नहीं, इन पर स्वयं टीकायें भी की हैं। कुमार-विहारशतक और युगादिदेव द्वात्रिंशिका नामक दो काव्य ग्रन्थ भी आपकी ही रचनाएं हैं।

श्री महेन्द्र सूरि, वर्धमानगणि देवचंद्र, उदयचंद्र, यशश्चंद्र और बालचंद्र भी आपके साहित्यिक शिष्य थे।

अस्सी वर्ष की परिपक्व अवस्था में अपने ज्ञान-भण्डार की जीवित विरासत रामचंद्र और गुणचंद्र जैसे विद्वान् शिष्यों को सौंपकर वि० सं० १२२९ में आचार्य हेमचंद्र सूरि स्वर्ग पधार गये।

आचार्यश्री की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों में स्वभाव की दुर्बलता के कारण साहित्यिक प्रतिभा होते हुए भी शासन प्रभावना का सामर्थ्य नहीं रहा। श्री रामचन्द्र के ज्ञानगर्व और श्री बालचन्द्र की असूया भावना ने राजा कुमारपाल को उद्विग्न कर दिया। आचार्य हेमचंद्र की मृत्यु के बाद वे अधिक न जीए और जब राज सिंहासन पर अजयपाल आसीन हुए तो

श्री बालचंद्र ने ईर्ष्या से अभिभूत होकर अपने विद्वान् गुरुभाई रामचंद्र सूरिका अत्यन्त करुणापूर्ण प्राणान्त करवा दिया। इस तरह धीरे-धीरे सभी शिष्य आपसी मत्सर भाव के शिकार हो गये और आचार्य हेमचंद्र के बाद जैन समाज की अस्मिता निस्तेज हो गई।

लिखते हुए दुःख होता है कि आचार्य हेमचंद्रके बाद समाज में सर्वतोमुखी प्रतिभासंपन्न महान व्यक्तित्व फिर उत्पन्न नहीं हुआ।

कहा जाता है कि उन्होंने तीन कोटि श्लोक प्रमाण साहित्य का निर्माण किया था। यह किंवदंती अतिशयोक्ति अलंकार कहा जा सकता है, परन्तु इससे इतना तो पता लगता ही है कि आचार्य हेमचंद्र की रचनाएं अगाध पांडित्य और विशाल ज्ञान का अद्वितीय भण्डार अवश्य थीं।

वस्तुपाल के समय की विभूतियां

श्री रामचन्द्र

इसी समय देवसूरि सन्तानीय जयप्रभ सूरि के शिष्य रामचंद्र ने प्रबुद्ध रोहिणये नामक छह अंकी नाटक की रचना की थी। इसी रचना ने साहित्य जगत् में श्री रामचंद्र को अमर कर दिया है।

जिनदत्त सूरि

गुजरात के वापड़ ग्राम में आचार्य जिनदत्त सूरि का वि० सं० १२६५ में प्रादुर्भाव हुआ। इनके उपदेश का प्रभाव इतना गहरा था कि हजारों सद्गृहस्थों ने जैनधर्म की दीक्षा ली जो वापड़ा ग्राम के कारण ही वापड़ा ब्राह्मण और वापड़ा वणिक कहलाते हैं। आचार्य जिनदत्त सूरि ने "विवेक-विलास" नामक बहुत सुन्दर निमित्त ग्रन्थ की रचना की है। चमत्कारी योग-सिद्ध महात्मा जिनदेव सूरि इन्हीं आचार्य के महान् शिष्य थे।

वर्द्धमान सूरि

आप विजय सिंह सूरि के शिष्य हुए हैं। वि० सं० १२६६ में आपने "वासुपूज्य चरित्र" ग्रन्थ की ४८६४ श्लोकों में एक महान रचना की है।

वस्तुपाल का विद्या-मण्डल—

आचार्य जिनविजय

राजा कुमारपाल के बाद गुजरात में वीर धवल सम्राट् का बोलबाला हुआ। उनके सर्वश्रेष्ठ परम कुशल महामात्य वस्तुपाल और तेजपाल थे। वे जैनधर्म के आदर्श को मान कर सम्पूर्ण जनता की समानतापूर्वक सेवा करते थे। ऐसा इतिहास में कहीं दृष्टांत नहीं मिलता है कि उनके बराबर जन-सेवा में द्रव्य व्यय करने वाला अन्य कोई महापुरुष उत्पन्न हुआ हो। वास्तव में जैन-समाज ने गुजरात प्रांत को एक अनुपम दानवीर और अद्वितीय प्रजा-पालन-कुशल महामंत्री का पुरस्कार दिया है।

हमारे वस्तुपाल महामंत्री केवल वीर-योद्धा और नीति, निपुण महापुरुष ही नहीं थे, एक कला-प्रेमी साहित्य-रसिक महान् कवि भी थे। नर-नारायणानन्द महाकाव्य आपकी ही सुन्दर रचना है। आपने अनेक साहित्यिकों का भक्तिपूर्वक सन्मान किया है। इससे आपकी साहित्य-प्रेमी वृत्ति का उत्तम परिचय मिलता है। यही कारण है कि उनकी छत्रछाया में विद्वानों की एक महामण्डली एकत्र हो गई थी, तेरहवीं शताब्दी के जैन-पंडितों का संगम हमें महामान्य वस्तुपाल के पास ही उपलब्ध होगा।

अमरचंद्र सूरि, विजयसेन सूरि, उदयप्रभ सूरि, नरचंद्र सूरि, नरेन्द्र प्रभ सूरि, बालचंद्र सूरि, जयसिंह सूरि और माणकचंद

सूरि, सरीखे लब्ध-प्रतिष्ठ महामुनियों का सत्संग हमें इन्हीं वस्तुपाल के आसपास ही मिलता है।

आचार्य श्री अमरचंद सूरि संस्कृत भाषा के प्रकांड पंडित थे। उनके बालभारत और काव्य-कल्प-लता ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। श्री अमरचंद सूरि "विवेक विलास" के कर्ता वायड़ गच्छीय सुप्रसिद्ध शासन-प्रभावक आचार्य जिनदत्त सूरि के शिष्य थे। आप बड़े भावनाशील सरस सिद्ध कवि थे। समस्या पूर्ति के विषय में तो आपकी प्रतिभा अनुपम थी। एक बार आपने कहा कि—

"अस्मिन्नसारे संसारे सारं सारंगलोचना"

यह सुनते ही वस्तुपाल का मन अपने अधिकार के बाहर होने लगा तो उसे आचार्य बोले:—

"यत्कुक्षि प्रभवा एते वस्तुपाल भवादृशाः"

आपने छन्द, अलंकार, व्याकरण और काव्य आदि अनेक विषयों में उत्तम से उत्तम साहित्य की रचना की है।

विजयसेन सूरि

सं० १२८८ में आचार्य विजयसेन सूरि विद्यमान थे जिन्होंने "एवंता मुनि रासु" यह प्राचीनतम गुजराती भाषा का रासक बनाया था। यह प्राचीन अपभ्रंश गुजराती की उत्तम रचना है।

उदयप्रभ सूरि

आचार्य उदयप्रभ सूरि वस्तुपाल महामात्य के गुरु विजय-

सेन सूरि के शिष्य थे। आपकी रचनाओं में धर्माभ्युदय और "संघपति-चरित्र" नामक महाकाव्य अधिक प्रसिद्ध है। सुकृत-कीर्ति कल्लोलिनी नामक महाकाव्य सं० १२६० की रचना है। इस प्रशंसनीय काव्य की नकल खंभात भण्डार में विद्यमान है।

आचार्य नरचंद्र सूरि

आचार्य नरचंद्रसूरि हर्षपुरीय गच्छ के आचार्य देवप्रभ सूरि के शिष्य थे। आपने "कथा रत्नाकर" नामक महान उपयोगी ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें अनेक धर्म-कथाओं का संग्रह है। "नारचंद ज्योतिष" नामक पुस्तक ज्योतिष के जगत् में बहुत प्रसिद्ध है।

आचार्य नरेन्द्रप्रभ सूरि

जब महामात्य वस्तुपाल ने भक्तिपूर्वक प्रार्थना की तो आपने "अलंकार महोदधि" नामक अलंकार ग्रंथ की महत्त्वपूर्ण रचना की थी।

बालचन्द्र

श्री बालचंद्र चन्द्रगच्छीय हरिभद्र सूरि के शिष्य हैं।

"वसंत विलास" महाकाव्य आपकी प्रसिद्ध रचना है। वस्तुपाल को वसंतपाल भी कहा जाता है। उक्त काव्य महामात्य के नाम से ही बनाया गया है। "करुणा व्रजायुध" नामक पचांकी नाटक भी आपकी ही रचना है।

आचार्य जयसिंह सूरि

जयसिंह सूरि आचार्य वीर सूरि के शिष्य थे और वस्तु-पाल के प्रगाढ़ स्नेही थे। आपका जन्म भड़ौंच में हुआ था। आपने "हम्मीरमर्दन" नामक नाटक की रचना की है। यह यह नाटक अपनी कोमल कांत पदावलि के लिए सुप्रसिद्ध है।

आचार्य माणिक्य चन्द्र सूरि

आप राजगच्छाचार्य श्री सागरचंद्र सूरि के शिष्य थे। मम्मट के सुप्रसिद्ध काव्यप्रकाश पर आपने संकेत नामक सर्व-प्रथम टीका लिखी है।

जैनश्रमण होते हुए भी आपने वैदिक साहित्य का गहरा अभ्यास किया था, असामान्य बुद्धि वैभव और व्युत्पन्न विद्वता द्वारा आपने समाज की उल्लेखनीय साहित्य-सेवा की थी—शांतिनाथ चरित्र और पार्श्वनाथ चरित्र महाकाव्य आपकी ही रचना कौशल्य के ज्वलंत प्रमाण हैं।

महामान्य वस्तुपालके राज्य कार्य-भार का काल ही ऐसा था कि साहित्य की विशाल समृद्धि के लिए इतिहास में वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

जगडूशाह की उदारता और जैनाचार्यों की साहित्य सेवा

(विक्रम के १३१२ से १३१५ तक)

गुजरात में जैनधर्म का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। दुष्काल

के कारण जैनोंको मगध से गुजरात और गुजरात से राजस्थान में प्रव्रजन करना पड़ा। वस्तुपाल के कारण जैनधर्म की जितनी प्रभावना हुई थी उतनी ही दुष्काल के कारण भाव-भिन्नता बढ़ गई थी। परन्तु कच्छदेशीय भद्रेश्वर का श्रीमाली वैश्य सेठ जगडूशाह ने दुष्कालग्रस्त प्रदेशों में इतना अन्न वितरण किया कि जनता की सेवा के लिए उस महापुरुष का आदर्श अमर हो गया। सेठ जगडूशाह की दानवीरता, हिम्मत और उदारता जैन इतिहास में सदा चमकती रहेगी।

संवत् १३१२ में उपाध्याय चंद्रतिलकजी ने ९०३६ श्लोक प्रमाण अभयकुमार चरित्र महाकाव्य ग्रन्थ का निर्माण किया।

वि० सं० १३१३ में जिनेश्वर सूरि, १३२१ में प्रबोधचंद्रगणि, १३२२ में जिनेश्वर सूरि, १३२५ में मुनि चंद्र सूरि और १३२७ में देवेन्द्र सूरि ने संस्कृत साहित्य की अच्छी सेवा की। सं० १३३१ में क्षेमकीर्ति सूरि और मानतुंगाचार्यने श्रेयांसचरित्रादि ग्रन्थ लिखकर महत्त्वपूर्ण साहित्य सेवा की। सं० १३२७ में श्री भालचंद्र सूरि ने विषय-वितिग्रह पर वृत्ति लिखी। १३४९ में उदयप्रभ सूरि के शिष्य मल्लिषेण सूरि ने अन्ययोग व्यवच्छेदिका द्वात्रिंशिका पर "स्याद्वाद मंजरी" नामक विद्वतापूर्ण सरस टीका लिखो जिससे अनेकान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन सहज हो गया है।

१४ वीं शताब्दी जैनाचार्यों के लिए साहित्य-सेवा के लिए उत्तम ऋतु सिद्ध हुई। किन्तु सामूहिक उन्नति और सामाजिक

संगठन की ओर ध्यान नहीं दिया गया, इसलिए हम आचार्यों की साहित्य-सेवा का ही इतिहास में उल्लेख कर सके हैं।

राजशेखर

इस १४ वीं शती का साहित्य प्रवर्तक हम राजशेखर को ही कह सकते हैं। आपने स्याद्वादकलिका, रत्नाकरावतारिका, पंजिका, षट्दर्शन समुच्चय, प्रबंधकोष और "कौतुक कथा" आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया।

श्री जिनेश्वर सूरि

आचार्य श्री जिनेश्वर सूरि के शिष्य सोमकीर्ति ने गतन्त्र पंजिका तथा १४२२ में कृष्णर्षि गच्छ के जयसिंह सूरि ने १३०७ श्लोक प्रमाण "कुमारपाल चरित्र" लिखा।

संवत् १४२७ में महेन्द्रप्रभ सूरि ने "यंत्रराज" नाम से एक "यंत्र ग्रंथ लिखा।

सं० १४६८ में वृहद्गच्छ के रत्नशेखर सूरि ने साहित्य का विपुल सर्जन किया। गुणस्थान क्रमारोह, संबोध सत्तरि सिद्धयंत्र-चक्रोद्धार आदि २ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की।

सं० १४६६ में आचार्य जयशेखर सूरि ने साहित्य में एक नया युग शुरू किया आपने न्यायमंजरी, जैनकुमारसंभव और उपदेशमाला आदि ग्रंथ लिखकर जैन साहित्य को एक खास दिशा की तरफ बढ़ाया।

वि० सं० १४४६ में आचार्य मेरुतुंग ने अपनी सुकुमार कला द्वारा साहित्यिक क्षेत्र में आगमों के सिद्धान्तों का अवतरण

किया। सप्ततिभाष्य, षट्दर्शन निर्णय सटीक, मेघदूत और धातु-परायण सरीखी कृतियों ने उन्हें अमर बना दिया।

वि० सं० १४४३ में कुलमण्डनने जैन साहित्य को पल्लवित किया। प्रज्ञापनासूत्र (अवचूरी) विचारामृतसार और जयानंद चरित्र आदि आपकी अनेक श्रेष्ठतम कृतियां हैं।

आचार्य गुणरत्न सूरि ने भी जैन साहित्य को बहुत प्रभाव बढ़ाया। आचार्य सोमचंद्र सूरि के शिष्य रत्नशेखर सूरि और जयचंद्र सूरि का साहित्य सम्पादन असाधारण सुन्दर है। श्री जयचंद्र सूरि की "सम्यक्त्व कौमुदी" और जयशेखर सूरि की "प्रबोध चंद्रोदय" जैन साहित्य के गगन में चमकते हुए दो पवित्र नक्षत्र हैं।

सं० १४६३ में आचार्य मेरुतुंग के शिष्य माणिकसुन्दर और माणिक शेखर नामक शिष्यों की सैद्धांतिक साहित्य की रचना अत्यन्त सरस है। आचारांग, उत्तराध्ययन, आवश्यक तथा कल्पसूत्र पर आपने महत्त्वपूर्ण निर्युक्तियां लिखी हैं।

पन्द्रवीं शती के उत्तरार्द्ध में मण्डन मंत्री और धनराज के साहित्य का बोलबाला था। इस काल में जैन समाज पठन-पाठन और शास्त्र-स्वाध्याय में पूरा रस ले रही थी। इन दो वर्षों में आचार्य सोमचंद्र सूरि का संघ पर अच्छा प्रभाव रहा। साधुवर्ग ही नहीं श्रावक वर्गों के भी साहित्य सर्जन का उल्लेख मिलता है। इस काल को हम साहित्य-सर्जन काल कह दें तो भी कोई अत्युक्ति न होगी।

अपभ्रंश-साहित्य

विक्रम की पांचवीं शताब्दी से लगाकर १५ शताब्दी तक यह अपभ्रंश भाषा ही लोकभाषा के पद पर अधिष्ठित थी। इसके पहले आत्म-द्रष्टा श्रमणों और लोकोत्तर महापुरुषों द्वारा लोक-सेवा के कार्यक्षेत्र की भाषा करीब ५०० वर्ष पूर्वतक प्राकृत ही थी। वैदिक ब्राह्मणों के द्वारा संस्कृत में रचनाएं होती थीं और वेदों से ऊँचे उठे हुए सत्पुरुषों द्वारा विशेषतः अर्धमागधी और पाली आदि लोक भाषाओं में ही प्रचार चलता था।

इन भाषाओं से ही अपभ्रंश का प्रादुर्भाव हुआ। जनता के वाक्प्रवाह ने प्राकृत भाषार्थ भी नये नये शब्दों और शब्द क्रमों का सर्जन किया, फल यह हुआ कि प्राकृत ही अपभ्रंश बन गई। जनता के विकास के साथ साथ भाषाका भी स्वाभाविक विकास होता गया। इसी अपभ्रंश भाषा में भारतीय जनता का लोक मानस बहुत अंशों में ठीक ठीक अभिव्यक्त हुआ है। राजस्थानी, गुजराती, महाराष्ट्री तथा शौरसेनी आदि भाषाओं का प्राचीन साहित्य देखेंगे तो प्रतीत होगा कि जनता ने अपनी भाषा को सहज रूप में कितना संपन्न बना लिया है।

आजकी अधिकांश प्रांतीय लोक भाषाएं इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं की संतानें हैं।

जैनधर्म के चरम तीर्थंकर भगवान् वर्द्धमान ही संस्कृत के

स्थान पर प्राकृत भाषा को प्रतिष्ठित करने में अग्रगण्य सिद्ध हुए। जैनाचार्यों ने भारत की लोक भाषाओं को जीवन दिया, कारण कि उन्हें जनता में अपने विचारों को उन्हीं की बोली में पहुंचाना पड़ता था।

अपभ्रंश, कन्नड़ी, तामिल, गुजराती और हिन्दी भाषा के प्रधान साहित्य-निर्माता जैनाचार्य ही हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी भाषा की उत्पत्ति वि० सं० ६६३ के देवसेन कृत श्रावकाचार, मेरुतुंग सूरि की प्रबन्ध-चिंतामणि और आचार्य हेमचंद्र के द्वयाश्रय काव्य से ही मानी जाती है।

जैनाचार्यों को तो धर्म-विचारों का प्रभाव फैलाना था इसीलिए उन्होंने प्राचीन क्लिष्ट भाषा का मोह छोड़ दिया और प्रचलित भाषाओं में ही अपना प्रवचन संनिबद्ध किया।

कविराज, स्वयंभू ने हरिवंश पुराण और पद्मचरित्र, लोक भाषा में ही बनाया।

जैनाचार्यों की लोकभाषा-सेवा का विस्तार से वर्णन करने के लिए तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है।

सामाजिक अवस्था

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर विक्रम की पहली शताब्दी से ही जो विचार स्वातंत्र्य के बीज बो गये वे धीरे-धीरे संघ में पल्लवित होने लगे। स्थितिपालक और सुधारक दो दल प्रत्येक परंपरा में बन ही जाते हैं यही कारण है कि आचार्य हरिभद्र

सूरि के युग में भी विचारों की दो धाराएं बह रही थीं। यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर नाम के दो किनारे वीर सं० ६०६ के करीब ही बन चुके थे परन्तु वीर सं० ८२२ में एकऔर सम्प्रदाय खड़ी हो गई जो निवृत्ति मूलक चैतन्योपासक जैन श्वेताम्बर परंपरा से भिन्न रहने लगी, जिसे हम चैत्योपासक सम्प्रदाय कह सकते हैं। चैत्य और चैतन्य का यह विवाद केवल विचार विमर्श के रूप में संघ में ही चालू रहता तो गनीमत थी, परन्तु इस विवाद ने दिलों को फाड़ दिया और छोटी-छोटी बातों को लेकर संघ के टुकड़े-टुकड़े होने लगे। गच्छभेद दिन प्रतिदिन बढ़ने लगे, वीर निर्वाण की बीसवीं शताब्दी में यह गच्छक्लेश और अहंकार-वृद्धि का प्रमुख कारण हो गया और मूल जैन परम्परा क्या थी ? यह समझना भी मुश्किल हो गया। यहां हमें गोस्वामी तुलसीदास का वर्षावर्णन याद आ जाता है।

हरित भूमि तृण संकुलित समुझि परे नहि पंथ।
जिमि पाखंड विवाद तें लुप्त होई सद्ग्रंथ॥

ईर्ष्या द्वेष के तृण कट्टरवादियों के हृदयों में ऐसे उगने लगे कि भगवान् की परम्परा का रास्ता समझना ही कठिन हो गया। वर्षाकाल में जब चारों तरफ घास उग आती है तो पगडंडी ढूंढ़ना भी कठिन हो जाता है। यही दशा जैनगच्छों की हो गई, करीब ८४ गच्छ हो गये मानों ८४ खड्डे हो गये हों, और जिसके संकुचित दायरे में बैठकर जैन सिद्धांत के नाम पर गच्छागत आचरणों का पोषण होने लगा। जैन परम्परा की

पवित्र श्रमण-धारा छोटे छोटे खण्डों में बंट गई। जड़वाद, रूढ़िवाद और आचार-शैथिल्य इतना बढ़ गया कि जिनेन्द्र भगवान् के शासन की शांत, गंभीर अवस्था से हटकर समाज सम्प्रदाय-गच्छ के गर्त में चक्कर खाने लगा।

आचार्य श्री हरिभद्र सूरि अपने संबोध प्रकरण में इन साम्प्रदायिक आवर्तों से दूर रहने का संकेत कर चुके थे पर परिस्थितियां किसी महान नेता की मांग कर रही थीं जो इन पंथों को गर्त में से निकाल कर पुनः सुरक्षित स्थान पर स्थापित कर सके।

चैत्यवासियों की परिग्रह-प्रवृत्तियां, जड़वादियों की आडंबर युक्त कार्यवाहियां और स्थितिपालकों की रूढ़ि परायणता ने नई सन्तति में घृणा के बीज बो दिये थे। यतिवर्ग समाज का हितैषी अवश्य था उसोने अपनी तांत्रिक, आयुर्वेदिक और नैतिक शक्ति से आम जनता की सेवा करके जैन समाज की प्रतिष्ठा बढ़ाई किन्तु आध्यात्मिक क्रियाओं में बढ़ती हुई शिथिलता से यह वर्ग भोगवाद का शिकार बन गया। तब उत्तम क्रियाओं का उद्धार करने के लिये कोई सत्पुरुष खड़ा हुआ कि नया गच्छ बनता गया। पर दुःख है कि सामूहिक क्रांति कोई नहीं कर सका। राज्य-क्रांतियों की अपेक्षा धार्मिक क्रांति करने के लिए संयम, ज्ञान और संगठन शक्ति की पवित्र कला में पूर्ण दाक्षिण्य आवश्यक है।

आचार्य हरिभद्र सूरि की विचारधारा में सुधारकता थी, परन्तु उनका अधिक समय साहित्य साधना में ही बीता।

आचार्य हेमचंद्र के जमाने में राज्याश्रय होने से जैनधर्म की प्रभावना तो हुई पर जैन-समाज की मूल आचारनिष्ठ भूमिका पुष्ट न होने से संघिक विकास न हो सका। आचार्य प्रवर के शिष्यों की परस्पर असूया के भयंकर परिणामों का उल्लेख हम पीछे कर ही आए हैं कि किस प्रकार बालचंद्र ने आचार्य रामचंद्र का करुण प्राणांत करवाया। राज्याश्रय से जहां धर्म-प्रभावना बढ़ती है वहां आचार शिथिल शिष्यों की द्वेष-दर्प की वृत्तियां भी उद्दिप्त होकर समाज को विपरीत मार्ग पर ले जाने में निमित्त बन जाती हैं।

ऐसी हालत में कोई सर्वतोमुखी शक्तिको धारण करने वाला वीर पुरुष पैदा होता है तभी समाज का सुधार हो सकता है और परिस्थितयां ऐसा योग उपस्थित कर ही देती हैं। १५ वीं शताब्दी के प्रारंभ में ही अकबर के जमाने में एक सार्वत्रिक विस्फोट की अवस्था उत्पन्न हुई, जिससे भारतीय हिन्दू समाज में प्रत्येक सम्प्रदाय और जाति ने प्रत्येक प्रांत और प्रदेश ने एक एक महान् क्रांतिकारी युग पुरुष को जन्म दिया। जैन परम्परा में भी यही हुआ। धर्मप्राण वीर लोंकाशाह इसी शताब्दी में हुआ जिसने धर्म के नाम पर हिंसात्मक प्रवृत्तियों की जड़ खोद कर रूढ़िवाद और जड़वाद के वृक्ष को निर्मूल कर दिया। इधर कबीर सरीखे निर्भय संत की वाणी समाज की बुराइयों पर

व्यापक प्रभाव डालकर उन्हें खोद-खोद कर नष्ट कर रही थीं। इधर संत नानक भी अपने समाज में निर्भयता पूर्वक धर्म के मूल तत्वों का उपदेश फैला रहे थे। इधर सूरदास, तुलसीदास और वल्लभाचार्य वगैरह अनेक संत अपनी संस्कृति के रसीले तत्वों से समाज के जीवन में आशा और सौन्दर्य निर्माण कर रहे थे। हिन्दू समाज को कुरान और तलवार के शिकार होने से इन संतों की वाणियों ने रोक लिया। शस्त्र और शास्त्र के मूल उद्देश्य का भान करा देने से हिन्दू समाज निर्भय, निर्वैर और शुद्ध होने लगा और अपने सच्चे स्वरूप पर अधिष्ठित होकर विरोधियों के अंतःबहिर प्रभाव से उन्मुक्त होने में समर्थ बन सका।

जैन यतियों में ज्ञान यति बहुत प्रतिष्ठित माने जाते थे। अधिकांश शास्त्र-भण्डारों की देख-रेख उनके हाथों में थी। एक दिन लोंकाशाह के हस्ताक्षरों को देखकर यतिवर्य की इच्छा हुई कि जैन आगमों को इस नवयुवक के हाथ से पुनः लिपिबद्ध कराना चाहिए। जब उन्होंने लोंकाशाह को इस कार्य के लिए आमंत्रित किया तो वे सहर्ष तैयार हो गये। यह एक विधि का पवित्र विधान सिद्ध हुआ और ज्यों-ज्यों लोंकाशाह की दृष्टि में शास्त्र के विधानों से विपरीत आचरण नजर आने लगे त्यों-त्यों उनके हृदय में क्रियोद्धार का जबर्दस्त संकल्प उठने लगा।

जिसे हम आज स्थानकवासी सम्प्रदाय कहते हैं उसका बीज धर्मप्राण लोंकाशाह के हृदय की वही चिनगारी है जो

रूढ़िवाद से पैदा होनेवाली बुराइयों को भस्म करने के लिए उत्पन्न हुई थी।

धर्मप्राण लोंकाशाह की इच्छा किसी सम्प्रदाय को स्थापित करने की नहीं थी, वह तो यही चाहता था कि मूल आगमों की शुद्ध आज्ञाओं का प्रामाणिकता के साथ पालन किया जाय। परन्तु आगे जाकर इस महान् शुद्धि की पवित्र प्रेरणा ने भी सम्प्रदाय का रूप कैसे ले लिया इसका विश्लेषण लोंकाशाह-युग के वर्णन में किया जायगा। यहां तो हम संकेत मात्र कर रहे हैं कि १६ वीं शताब्दी में हिन्दू-समाज के अंदर विचारों का खूब आलोडन हुआ और प्रत्येक वर्ग में आत्म-निरीक्षण करके अपने अपने शुद्ध संस्कारों की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले धर्मवीर पैदा हुए।

धार्मिक क्रांति का उदय

योरप और एशिया महाद्वीपों के इतिहास में पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियां बहुत महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं। यह महत्त्व दो प्रकार के दृष्टिकोणों द्वारा दिया गया है।

(क)—राजनीतिक परिवर्त्तन, अराजकता, स्वर्णयुग।

(ख)—धार्मिक उथल-पुथल, असहिष्णुता-शांति।

इतिहास, राजनीति और दर्शन की विविध प्रवृत्तियों के अध्ययनोपरान्त हम इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि धर्म-क्रांति का प्लावन, क्रियाकाण्डों का बवंडर, सन्तों की पवित्र परम्परा,

सुधारकों का समुदाय, सर्वसमभाव की छाप, अहिंसा की प्रतिष्ठा और प्रेमवाद की पूजा-अर्थना इसी कालावधि की देन है। इसके पूर्व १४ वीं शताब्दी के उत्तरकाल से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक सारी दुनिया में अराजकता और धार्मिक असहिष्णुता का बोलबाला रहा।

योरप में धर्म के नाम पर क्या-क्या अत्याचार नहीं हुए। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ड सम्प्रदायों ने खुदा के नाम पर परस्पर भयंकर घृणा और विद्वेष का विष फैलाया। परन्तु इतिहास और मनुष्य की अज्ञान और अन्याय से लड़ने की परम्परा साक्षी है कि जब २ मृत्यु आती है, उसीके मंथन में से जीवन का रत्न प्रकट होता है। जब हलाहल विष होता है, तब उसको पीने वाला कोई नीलकंठ मिल ही जाता है। जहां जहर है, वहां उसे हंसते-हंसते पीने वाला परोपकारी सज्जन भी सहज सुलभ है।

एक ओर योरप में मार्टिन लूथर (जर्मनी) और देवीजौन आफ आर्क (फ्रान्स) के बलिदानों से नवीन जागरण आया और उनकी शहादत ने योरपीय जनता पर इतना गहरा असर डाला कि उनके बादका काल रेनसां पिरीयड (पुनरुत्थान काल) कहलाया। धर्म इतना कोमल प्राण है और उसका कलेवर इतना कमनीय है कि असहिष्णुता अथवा द्वेषकी जरा-सी लू या प्रतप्त पवन से ही वह झुलस जाता है। लेकिन, कर्मकाण्ड के प्रचारक और कट्टरता के प्रसारक इस तथ्य को नहीं समझ पाते और

केवल बाहरी लीक पर प्राण लेने-देने को उतारू रहते हैं। एक बात और, धर्म यदि बाह्याचार में निमित्त होता तो उसमें और जीवन के अन्य व्यवहार में अन्तर ही क्या रह जाता? जहां व्यवहार शरीर का बाह्य कर्त्तव्य है, वहां धर्मानुसरण आत्मा का भूषण है।

इस संक्रमण काल में योरप के समान, भारत में भी अनेक परिवर्तन हुए और अन्य धर्मों के साथ जैनधर्म में भी परिवर्तन आए और उनका प्रभाव अधिक गहरा पड़ा। क्योंकि जैनधर्म इतना पैनसेटीव है कि जिस प्रकार ऊपर ईथर में प्रत्येक हलचल के फलस्वरूप लहरें उठती हैं और दूर तक बहती हैं, उसी प्रकार जैनधर्म जिसका विकास अत्यन्त वैज्ञानिक प्रणाली पर अतीव सुकोमल एवं अहिंसक भावनाओं के मध्य में हुआ है, बाह्य परिवर्तनों के अध्ययन और चिन्तन में अत्यन्त पटु है।

तो, धार्मिक अव्यवस्था एवं परिवर्तन के इस कालमें सुधार-वादी और शांतिकामी शक्तियां भी अपना काम बराबर करती रहीं और अन्ततः उन्हींकी जीत हुई, क्योंकि तूफान के बाद जिस प्रकार सागर सोये शिशु के समान अचल-निश्चल पड़ा रहता है, उस प्रकार धार्मिक और जातीय अशांति अंधकार दूर हुआ और भारतीय समाज ने अकबर, आंग्ल-समाज ने रानी एलिजाबेथ और योरपीय समाज ने विविध सामन्तों के स्वर्णयुग में सामाजिक स्वस्थता एवं सुरक्षा की सांस ली।

काव्य, कला, विज्ञान और विविध वृत्तियों के विकास का

यह विचित्र काल था। तुलसीदास, शेक्स-पीयर, सूरदास, कबीरदास, चासर, योरप के अनेकानेक उपन्यासकार और भारत के विभिन्न कलामनीषी इस काल और युग में प्रकट हुए और अपनी प्रभापुंज से दिग्दिगन्तों को प्रकाशित कर अमर हुए।

भारत में इसका सबसे बड़ा प्रभाव जातीय संकुचितता के विरुद्ध पड़ा। पहली बार एक मुगल शासक अकबर—देवानां-प्रिय कहलाया। उसकी राज सभा सभी धर्मों के समन्वय का स्थल बन गई। हिन्दू-मुस्लिम कट्टता का अन्त हुआ। राजा मानसिंह जैसे प्रधान सेनापतिके कारण, राणा प्रतापके आदर्श, त्याग और वीरता के कारण, मुसलमानों पर भी अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा और प्रथम बार जातीय एकता और धार्मिक सहिष्णुता का सामाजिक रूप में संगठित सूत्रपात हुआ।

जहां अनेक वीरवरों ने राजसभा में राजपुरुषों कोप्रभावित कर धर्म और समाज की सुरक्षा का प्रयत्न किया, वहां सन्त, महन्त, साधु, सन्यासी, औलिया और पीर, फकीर भी किसीसे पीछे न रहे।

"अल्लाह एक है—ईश्वर एक है और वह प्रेम में निवास करता है" के नारे उठे। सूफी कवियों, सन्तों और मस्तानों ने आध्यात्मिक प्रेम के पुष्प को मानवीय जीवन सूत्र में गूंथ कर, उसके स्वरूप को इतना सहज सुगंधित बना दिया कि धार्मिक सहिष्णुता से समाज प्रभावित हुए बिना न रह सका।

वास्तवमें धर्म और राजनीतिके एकीकरण का श्रेय गांधीको दिया जाता है, किन्तु उसका बीजा-रोपण, कबीर, नानक और सूफी सन्तों के समय में हो चुका था। शेष केवल एक बात थी कि वे संत केवल विचारक ही रहे और गांधी संत, विचारक, सुधारक और सत्याग्रही राजनीतिज्ञ भी रहे। जो भी हो, इस काल योरप और भारत में मानवीय सद्भावना और ज्ञान का विकास इस सीमा पर अवश्य पहुंच गया कि मनुष्य ने शांति ली और इसके जीवन में से सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक कटुता का विष एक हद तक निकल गया।

जहां योरप के देश देश में स्वर्णयुग की स्थापनाएं हो रही थीं, वहां भारत में भी पिछले ४०० से ५०० वर्षों के रक्त-रंजित काल ने संग्राम से मुक्ति पाई और १५ वीं शताब्दी में मुगल शासन ने अपने स्वर्ण काल में प्रवेश पाया।

पिछले पांच सौ वर्षों से अधिक समय तक निरंतर संग्राम करने से हिन्दू जाति एक सीमा पर निर्बल पड़ गई थी और वह अधिक लड़ने में असमर्थ, कुछ विश्राम चाहती थी। इसका अर्थ यह तो नहीं हुआ कि उसने पराजय स्वीकार कर ली थी परन्तु उसकी शक्ति का ह्रास अवश्य हो चुका था। फिर भी, उसमें पर्याप्त रूप से स्वदेशाभिमान शेष था, आजादी की अखंड लू में अब भी जल रही थी। (उदाहरण रूप में राणा प्रताप)

संगीत और अन्य ललित कलाओं ने भी पर्याप्त उन्नति पाई।

तानसेन और बैजू बावरा के शब्द २ पर प्रकृति के मध्य प्राण झूम उठे।

सामाजिक समुत्थान और परिवर्तन के इस पुण्यकाल ने जैन सन्तों और आचार्यों को भी प्रबल प्रेरणा दी और विकास के पुनीत कार्य में उनका अनुदान किसीसे कम न रहा। परिवर्तन के प्रभंजन ने जैन आचार्यों और समाज को भी क्रांति की भावनाएं और प्रेरणा दी। उसका परिणाम धर्मप्राण लोंकाशाह के रूप में साकार प्रकट हुआ।

धर्म-क्रांति के प्रबल प्रणेताओं में लोंकाशाह का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जितना महत्त्व क्रांति की विपुलता का होता है, उतना ही उसके प्रणेताओं का भी होना चाहिए। इस दृष्टिसे क्रांति के उन्नायकों में से एक वीर लोंकाशाह का न केवल धार्मिक वरन् सामाजिक और राजनैतिक महत्त्व पाठक पहचान सकते हैं।

स्थानकवासी समाज वीरवर लोंकाशाह के ही पुण्य प्रयत्नों का पवित्र परिणाम है। लोंकाशाह ने जैसा समाज की रूढ़िवादिता और जड़ता को समाप्त करने के लिए अपने प्राणों के प्रदीप को प्रज्वलित कर दिया और जड़-पूजा की जगह गुण-पूजा की प्रतिष्ठा की। जड़ता केवल स्वरूप को जानती थी। गुण ने स्वरूप को छोड़कर, आकार और प्रकार को छोड़कर उपयोगिता, कल्याणकारिता पर जोर दिया और इस प्रकार सहज ही मानवमात्र को महत्त्व मिला।

लोंकाशाह-युग

लोंकाशाह से पूर्वकालीन जैन-संघ

विगत शताब्दियों के इतिहास ने हमें बतलाया है कि प्रारम्भ से ही अर्थात् आर्य स्थूलिभद्र तथा आर्य सुहस्ति के अनन्तर, जैन समाज में सुधारक और स्थितिपालक के रूप में आचार्यों की परम्परा चली आई है। यह तो इतिहास भी स्वीकार करेगा कि सिद्धसेन दिवाकर सुधारवादी परम्परा के जन्मदाता थे।

जैन-समाज में दो परम्पराएं—आगम प्रधान और युग प्रधान—प्राचीनकाल से ही चलती आई हैं। ये दोनों परम्पराएं जबतक निःश्रेयस् के लिए प्रगतिवान् रहती हैं, तबतक ये दोनों ही संघहित में शुभावह रहती हैं। किन्तु जब उनका आग्रह और मान्यता के नाम पर पारस्परिक विवाद आरम्भ होता है तो वह बड़ा घातक प्रवाह लिए होता है। ऐसे समय में, ऐसे काल में जैन समाज में, संघों में, एक सम्प्रदाय के दो सम्प्रदाय, एक समूह के दो समूह बनते बिगड़ते दृष्टिगोचर होते हैं।

जिन विषयों को लेकर जैन समाज में अधिकाधिक विवाद और मतभेद बढ़ा है—उनमें मान्यता, क्रिया और वस्त्र हैं। इसके अतिरिक्त, सदाचारी और आचार्यपद के लिए भी विवाद उठे हैं।

परिणाम स्वरूप कई सम्प्रदाय उत्पन्न हुए और जैनसंघ को सम्प्रदायों का प्राबल्य मिला।

१५ वीं शताब्दी में तो जैन-परम्परा में इतने सम्प्रदाय, गच्छ, टोलावाद तथा चैत्यवासी पंथों का बोलबाला था कि समूचे समाज में एकता और संगठन को कहीं कोई स्थान न रह गया था।

आचार्य हीरविजय, स्वामी जिनचंद्र सूरिजी की सम्प्रदाय सम्राट् अकबर का आश्रय प्राप्त कर शासन पर धर्म की छाप लगा रही थी, चैत्यवासी और यतिवर्ग, वैद्य, औषधि, मंत्र, यंत्र तथा तंत्र द्वारा लोक-संग्रह की भावना के पीछे पड़े हुए थे। समाज में संघ श्रृंखला की सब कड़ियां एक एक करके बिखर गई थीं।

शास्त्रों के पठन-पाठन का अधिकार

यह एक विचित्र बात है कि धर्म को वर्ग विशेष और वर्ण विशेष की निजी सम्पत्ति बना लेने का जो प्रयास भारत में था, वह योरप में भी मिलता है। प्रत्येक देश और काल में ऐसे प्रयत्न हुए हैं, जिनके बल पर समाज के अमुक सदस्यों को धर्म के सर्वोच्च अधिकारों से सदैव वंचित रखा गया।

व्यक्ति ने अपने भौतिक सुख, अधिकार और उसके उपभोग के लिए जिन चीजों और भावनाओं को अपने स्वार्थ का साधन बनाया, उनमें उसकी गति इतनी संकुचित और स्वार्थरत

हो गई कि उसने ईश्वर, धर्म और शास्त्र को भी अपना माध्यम बनाया।

कलकी ही बात है कि योरोप में ईसाई पादरी कुछ पैसा लेकर लोगोंको स्वर्ग के अधिकारियों के नाम सिफारिशी चिट्ठी लिख देते थे कि अमुक साहब आपके यहां आ रहे हैं, इनका पूरा २ खयाल रखा जाये। "काशी करवत" लेने जैसा ही अंध-विश्वास रहा होगा यह।

योरप और एशिया के सभी देशों और उन देशों के सभी धर्मों ने अपने २ समाज के सम्पन्न और अधिकार प्राप्त लोगोंके लिए, सामाजिक प्रतिष्ठा के स्थान सुरक्षित रख लिए और कालान्तर में उसे एक परम्परा बना दिया। हमारे देश में ब्राह्मणों ने वेदों के पठन-पाठन को लेकर कम बवाल नहीं मचाया। वेदों को छोड़िए, संस्कृत पढ़ने और बोलने के अधिकार से अनेक वर्गों और स्त्रियों को वंचित कर दिया। ब्राह्मण, वैष्णव, बौद्ध, पारसी, ईसाई, कन्फ्यूशियस और अन्यान्य धर्मों ने व्यक्तिमात्र के उद्धार को भूल कर, अपने संरक्षकों के हित-साधन में विशेष रूप से भाग लिया।

जब किसी वर्ग विशेष का एक जाति या समाज पर अक्षुण्ण अधिकार स्थापित हो जाता है या स्थापित किये जाने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह निहित स्वार्थ वर्ग-विशेष शेष व्यक्तियों के मूलभूत अधिकारों में उचित-अनुचित परिवर्तन कर, शेष जनता को धार्मिक विधायक अधिकारों से वंचित कर

देता है। जिस प्रकार हिन्दू-समाज पर ब्राह्मण जाति का आधि-पत्य जमते ही ब्राह्मण समाज ने अपने वेदों के समस्त अधिकार सुरक्षित रख लिए और कहा ये तो स्वयं प्रभु की वाणी है, "अपौरुषेय है। विज्ञान के इस युग में जहां व्यक्ति अपनी छाया से भी शंकित है और अपने आपको प्रकाश का प्रथम पुत्र समझता है, यह कौन मानेगा कि वेद, कुरान और बाइबिल अथवा अन्य कोई पवित्र ग्रंथ "अपौरुषेय" हैं। हमारा आशय इन धर्मग्रंथों का तनिक भी अपमान करना नहीं है। वरन्, उस ओर ध्यान दिलाना है, जिस ओर ब्राह्मणों या पादरियों ने अपने स्वार्थ पोषण के लिए धर्म और शास्त्रों को शस्त्र बना लिया है। ब्राह्मणों के सिवाय वेदों के अध्ययन-अध्यापन का कार्य अन्य किसी वर्ण को नहीं दिया गया। स्त्री और शूद्रों का तो पढ़ने का भी अधिकार छीन लिया गया। इसके मूलकारण में ब्राह्मणीय-सुरक्षा-लोभ के सिवाय और कुछ न था। धर्मग्रंथ पढ़ने पढ़ाने, न पढ़ने के अधिकार को लेकर शताब्दियों तक सिर फुटौवल होती रही है। जातियोंने जातियों और व्यक्तियों ने व्यक्तियों के मध्य दीवारें खड़ी की हैं, विष फैलाया है और उद्धार के स्थान पर मनुष्य को पतन का पंथ दिखलाया है। योरप में रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय ने चंद पादरियों और उच्च-वर्गीय सामन्तों को छोड़कर शेष समाज से बाइबल पढ़ने का अधिकार छीन लिया। बादमें, जब विरोधी और अन्य सुधारक

के रूप में प्रोटेस्टेन्ट धर्म अधिक प्रज्वल हुआ तो उसने अपने अनुयायियों को बाइबिल पढ़ने का सम्पूर्ण अधिकार दिया।

इसी प्रकार भारतवर्ष में १५ वीं शताब्दी में यति और चैत्यवासी सम्प्रदाय ने जैन-शास्त्रों पर अधिकार जमाया था। साधु और यति के अतिरिक्त अन्य किसीको शास्त्र पढ़ने का हक नहीं था। इसका उद्देश्य यही था कि जैन-शास्त्रों पर श्रद्धा रखने वाली जनता हमारे स्वामित्व को स्वीकार करे और हमारे प्रभुत्व की पूजा करे।

धर्मप्राण लोंकाशाह के समय में भी यह प्रवृत्ति बड़े जोरोंसे गतिवंत थी। किसी गृहस्थ को जैनागम पढ़ने का अधिकार न था।

यदि केवल आचार-विचार की शुद्धता और परिपालन को लेकर यह बात थी तो दुःखपूर्वक कहना पड़ेगा कि उस काल में यतियों और जैन साधु-परम्परा में काफी शिथिलता घुस गई थी और उनके आचार-विचारों की विगति निम्न गृहस्थियों के कर्मों से भी कुटिल कही जा सकती है। किन्तु चारों ओर यही हाल था कि मंदिरों में, मठों में, उपाश्रयोंमें—सब ओर सामंतों, राजाओं और यतियों का प्रभाव परिलक्षित होता था। ऐसी शिथिलता और जैनाचार विरोधी वृत्ति देख लेने पर भी किसी सद्‌गृहस्थ में यह साहस न था कि खड़ा होकर कदाचार का विरोध करता और अपने धर्म तथा शास्त्र की सच्ची, समुचित सेवा करता।

उस समय, एक सम्प्रदाय का साधु दूसरे सम्प्रदाय के साधु से परस्पर मंत्रणा अथवा विचार-विनिमय नहीं करता था। ऐसी विकट और विषम अवस्थाओं में श्री लोंकाशाह का आविर्भाव हुआ।

संसार परिवर्तनशील है। परिवर्तन के प्रबल प्रवाह में व्यक्ति, समाज़, जातियां और वर्ग तिनके से बहते जाते हैं। बड़े २ साम्राज्य और उनके संवाहक सम्राट् कागज के पतंग की तरह, उड़ते हुए पतनगत होते हैं—वहां सम्प्रदाय और जमात कबतक टिक सकती है? यदि समाज के शरीर पर लगा सामन्तवाद, राज्यवाद, वर्गवाद, एकसत्तावाद समाप्त हो सकता है तो यतियों और चैत्यवासी सम्प्रदाय की समाप्ति की अवधि ही कितनी?

धीरे २ समय और उसका प्रवाह बदलता गया। परिस्थिति की ताल पर, अपनी चाल को बदलने में काल से अधिक कुशल कौन?

इस परिवर्तित घड़ी में धर्मप्राण लोंकाशाह ने जन्म लिया।

महापुरुषों का जीवन अपने समय के सभी विषयों को प्रभावित किए बिना नहीं रहता। लोंकाशाह ने समाज की समस्त शिथिलताओं और कुमान्यताओं को जड़मूल से उखाड़ दिया और सच्ची गुणपूजा की प्रतिष्ठा की और समाज की सबल शक्तियों का ध्यान आकर्षित किया।

महापुरुषों का प्रथम और प्रधान लक्षण यह है कि वे अपने

काल के सभी प्राणियों और पदार्थों पर पूर्ण प्रभाव डालते हैं। धर्मवीर लोंकाशाह के आदर्श चरित्र के अध्ययन से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

लोंकाशाह के विषयमें भविष्यवाणी

अवनितल पर फैले हुए निविड़ अंधकार का अपहरण करने के लिए युग-युग में ज्योतिर्धर पुरुषों का पुण्यमय प्रादुर्भाव होता है।

रूढ़ियों के रोड़ों को उखाड़ने के लिए, कुरीतियों के कंटकों को नष्ट करने के लिए और मानव जीवन में फैले असात्विक तथा रुग्ण अंश को निकाल देने के लिए युग पुरुष पैदा होते हैं।

१५ वीं शताब्दी में अज्ञान, शैथिल्य और जड़-पूजा के कुटिल मेघ समस्त संसार में घहरा रहे थे। इन कष्टकर बादलों के यूथों को उदात्त चेताओं ने अपनी अपराजेय शक्ति से छिन्न-भिन्न किया और आदर्श के पुनीत प्रदीप के प्रकाश द्वारा समस्त पूजा के प्राणों को शांति का सुधारस प्रदान किया।

लोंकाशाह का युग इसी प्रकार का युग था। इस समय सभ्यता का जुलूस अन्धकार के गहनगर्त्त की ओर बढ़ रहा था। धर्म का जलयान चट्टानों के बीच थपेड़े खा रहा था।

भगवान् महावीर की भविष्यवाणी के सत्य के चरितार्थ होने की मंगल वेला आ गई।

जब शकेन्द्र ने पूछा—"भगवान् आपके जन्म-नक्षत्र पर महाभस्म नाम का ग्रह बैठा है, इसका फल क्या होगा ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"इन्द्र ! यह भस्मग्रह २००० वर्षों तक सच्चे श्रमणों और साध्वियों की पूजा मन्द होने देगा। ठीक २००० वर्षों के उपरान्त यह ग्रह उतरेगा और फिर जैन-धर्म में नव चेतना जागृत होगी। उस समय योग्य पुरुषों और सन्तों को सत्कार मिलेगा।

यह कथन अक्षरशः सत्य उतरा। महावीर निर्वाण के ४७० वर्ष उपरान्त विक्रम संवत् का प्रचलन हुआ और विक्रम के १५३१ वें वर्ष में ही लोंकाशाह ने जैनधर्म के मूलतत्व की खोज की और ठीक वीर संवत २००१ से लोंकाशाह का गुणपूजक धर्म विस्तार प्राप्त करने लगा।

क्रांति के अग्रदूत

लोंकाशाह का जीवन साक्षात क्रांति का साकार रूप था। वे जीवन की असद् वृत्तियों के उच्छेदक थे। इतना ही नहीं आलंकरिक स्वरूप में कह सकते हैं कि उनका जीवन रोमन कैथोलिकों की कुरीतियों के विरोध में उठने वाले मार्टिन लूथर के समान त्याग, तप, बलिदान और प्रभाव के प्रकाश से ज्वाज्वल्यमान् था और उनका हृदय था कबीर की तरह प्रचण्ड। सारा जमाना एक तरफ रहा और कबीर एक तरफ। यही बात श्री लोंकाशाह के विषय में भी थी।

जिस समय समूचे संसार की लगभग ५०० वर्षों से छाई हुई मुर्दनी और अधार्मिकता के विरुद्ध सर्वत्र विद्रोह का स्वर

तीव्रतर होता जा रहा था, उस समय क्रांति का अग्रदूत जैनधर्म और जैन समाज कैसे पीछे रह सकता था ?

समाज के सौभाग्य ने लोंकाशाह के रूप में जन्म लिया और लोंकाशाह ने कांति का बिगुल बजा दिया।

लोंकाशाह का जन्म-काल

लोंकाशाह के जन्म सम्वत् के विषय में विद्वानों में बहुत विवाद है। हमारे पास ऐसा एक भी प्रबल प्रमाण नहीं, जिससे हम समय को निश्चित रूप से निर्धारित कर सकें।

फिर भी उनके जन्म-समय के विषय में पंडितों और इतिहासज्ञों के मत इस प्रकार हैं:—

(क) मुनिश्री बीका के कथनानुसार:—

वीर जिनेसर मुक्ति गया, सइ ओगणीस वरस जब थया।
पणयालीस अधिक माजनई, प्रागवाट पट्टिल ईसा जनई।

(उत्सूत्र निराकरण बत्तीसी)

आपका मत है कि लोंकाशाह का जन्म वीरात् १९४५ अर्थात वि० सं० १४७५ में लघु पोरवाल कुल में हुआ।

(ख) लोंकायति भानुचन्द (वि० सं० १५७८)

"चौदसया व्यासी वहसाखई, वद चौदस नाम लुंको राखई।"

—[दयाधर्म चौपाई]

अर्थात्—सं० १४८२ में आपका जन्म हुआ।

(ग) लोंकागच्छीय यति केशव जी

पुनम गच्छइ गुरु सेवन थी, शैयद ना आशिषवचन थी,
पुत्र सगुण थयो लखु हरीष, शत चउद सत सित्तर वर्षि।
—(२४ कड़ी का सिलोको)

आपका मत है कि लोंकाशाह का जन्म वि० सं० १४७७ में हुआ था। इसके अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक सन्तों का खयाल है कि—

(अ) उनका जन्म समय १४८२ (वि० सं०) है।

(ब) दूसरे १४७२ में मानते हैं।

(स) आचार्य क्षितीशमोहन सेनका कहना है कि लोंकाशाह सम्वत् १४८६ के बाद हुए हैं।

(द) "दि हर्ट आफ दी जैनीज्म" के लेखक ई० सन् १४५२ में उनके मत का प्रचार हुआ मानते हैं।

(इ) तपागच्छीय यति कांतिविजय (वि० सं० १६३६) में लिखते हैं—

"आ महात्मा नो जन्म अरहट्टवाड़ा नी ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटकना शेठ हेमाभाई नी पतिव्रतपरायण भार्या गंगा बाई नी कुक्षिनो हतो। सं० १४८२ ना कार्तिक शुद पूनम ने दिवसे थयो।"

(लोंकाशाह नुंजीवन प्रभुवीर पट्टावती पृ० १६१)

इन सब प्रमाणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लोंकाशाह का जन्म १४७२ से पहले नहीं और १४८२ के बाद

नहीं हुआ होगा। इन दोनों संवतों में से एक को ठीक मानना पड़ेगा।

और इन दोनों की अपेक्षा '२४ कड़ी का सिलोकों' का प्रमाण भी कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है, जिसमें सम्वत् १४७७ में इनका जन्म होना लिखा है।

जन्म-तिथि—

लोंकाशाह की जन्म-तिथि के निर्णय में किसीको भी संदेह नहीं है। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को उनका जन्म हुआ था।

पितृकुल—

उनके पिता क्षत्रिय ओसवाल थे। उनका नाम हेमाशाह था। उनकी प्रसिद्ध अटक-उपजाति 'दफ्तरी मेहता' थी। गोत्रमें भी पोरवाल दशा श्रीमाली तथा ओसवाल बताया गया है। किन्तु ओसवाल कुल अधिक प्रामाणिक लगता है।

धर्मप्राण लोंकाशाह के पिता हेमाशाह की जो स्थिति एवं प्रतिष्ठा अपने समाज में थी, वह अपनी प्रामाणिकता के कारण पराकाष्ठा पर पहुंच गई थी। वे स्वतंत्र रूप से जवाहरात का व्यापार करते थे। लोंकाशाह की माता का नाम केशरबाई था। वे भी अत्यन्त धर्म परायण और पतिपरायणा सती थीं।

ग्राम नाम—

लोंकाशाह का जन्म राजस्थानान्तर्गत सिरोही से ८ मील दूर 'अरहट्टवाड़ा' ग्राम में हुआ था।

इस विषयक विविध विचार इस प्रकार हैं:—

(क) "लोंकायति भानुचंद्र" (वि० सं० १५७८)

सोरठ देश लींबड़ी ग्रामेइ, दशा श्रीमाली डूँगर नामेइ।
धरणी चूड़ा ही चित्त उदारी, दीकरो जायो हरख अपारी॥

(दयाधर्म चौपाई)

आपका कहना है कि सौराष्ट्र देशान्तर्गत लिम्बड़ी ग्राम में दशा श्रीमाली के घर लोंकाशाह का जन्म हुआ था।

(ख) दिगम्बर रत्ननन्दी विक्रम की १६ वीं शताब्दी में, पाटण के दशा पोरवाल कुल में श्री लोंकाशाह का जन्म हुआ बतलाते हैं। —भद्रबाहु चरित्र पृ० ६०

(ग) लोंका यति केशवजी "२४ कड़ी सिलोकों" में लिखते हैं कि—

"इणकालइं सौराष्ट्र धरामइँ, नागवेश तटिनी तट ग्राम हूँ,
हरिचंद श्रेष्ठि तिहां वसइँ, मउँघी बाई धरिणी शील लसइँ।"

(१०)

आपने लोंकाशाह का जन्म सौराष्ट्र की नदी किनारे पर बसा हुआ नागवेश ग्राम में हरिश्चन्द्र सेठ की मँउघी बाई नामक भार्या से माना है।

(घ) नागचंद्र जी मुनिजी की पट्टावली में और रूपचन्द्रजी कृत चौपाई में लोंकाशाह का जन्म जालोर में होना लिखा है।

उपरोक्त प्रमाण परस्पर विरोधी हैं। अरहट्टवाड़ा, लिम्बड़ी, पाटण, नागवेश तथा जालोर आदि स्थानों को लोंकाशाह की

जन्मभूमि बतलाया गया है। जन्म तो इनका एक ही स्थान पर हुआ होगा। किन्तु इन सारी विचित्रताओं का समन्वय कैसे साधा जाए। न केवल ग्रामों का भेद है, वरन् प्रान्तों का भेद भी वर्तमान है। सौराष्ट्र, गुजरात और मारवाड़—तीन प्रान्तों में जन्म दिखाया गया है और इन तीनों में परस्पर कितना अन्तर है। इन सब स्थानों में से किसे उनका जन्म स्थान माना जाय? यह प्रश्न विचारणीय है।

जहांतक आजके इतिहासज्ञों का मत है वे सिरोही के पास अरहट्टवाड़ा को ही सही स्थान मानते हैं।

ज्योतिषियों और सामुद्रिक शास्त्रवेत्ताओं ने बचपन में ही उद्घोषणा कर दी थी कि आगे चलकर बालक लोंकाशाह धर्मोद्धारक और क्रियोद्धारक अवश्य बनेगा।

ज्ञान-दीक्षा—

छः वर्ष के अन्त में लोंकाशाह को विद्यालय में प्रविष्ट कराया गया। स्मरण शक्ति और विवेचन शक्ति लोंकाशाह को विरासत में ही प्राप्त हुई थी। उनकी विलक्षण बुद्धि देखकर अध्यापक चकित हो जाते थे। उनके ज्ञान पर गुरुओं को गर्व था।

कुछ ही वर्षों में लोंकाशाह प्रचलित भारतीय भाषाओं में पारंगत हो गए। उनकी भाषा बचपन से ही मधुर, प्रसादगुण-युक्त, गंभीर और प्रभावोत्पादक थी। इससे भी सुन्दर और सरस तो उनके वे अक्षर थे, जो मोतियों जैसे प्रतीत होते थे।

लोंकाशाह की युवावस्था

शीघ्र ही वह समय आया जब कि लोंकाशाहकी दिव्य देह पर तारुण्य की ललित-लालिमा ललकने लगी। उनके माता-पिता, अब उनका विवाह कर देना चाहते थे। कई सुन्दरी कन्याओं के पिता भी लोंकाशाह के पिता के पास संदेशे पर संदेशे भिजवा रहे थे।

लोंकाशाह के मानस में सहज वैराग्य तो विद्यमान था ही परन्तु माता-पिता के आग्रह पर उन्हें विवाह-बंधन स्वीकार करना पड़ा।

संवत् १४६७ के वर्ष अथवा १४८७ के वर्ष शिरोही के सुप्रसिद्ध शाह ओधवजी जी की विलक्षण विदुषी पुत्री सुदर्शना के साथ लोंकाशाह का विवाह संस्कार संपन्न हुआ। परन्तु १४८७ का विवाह यह प्रकट करता है कि उनका जन्म १४७२ में हुआ होगा।

इस शुभ विवाह के तीन वर्ष उपरान्त, लोंकाशाह के भव्य-भवन में पूर्णचन्द्र नामक पुत्ररत्न का प्रकाश प्रसृत हुआ।

युवा लोंकाशाह और उनकी पतिव्रता पत्नी सुदर्शना देवीको पुत्र-प्राप्ति पर मानो प्रत्यक्ष परमानंद की प्राप्ति हुई।

गृहस्थ जीवन

लोंकाशाह का गृहस्थ जीवन पूर्णरूपेण आनन्दमय था,

सुख, संपदा, वैभव, विलास और अन्यान्य शारीरिक एवं सांसारिक सुख उनके द्वार पर हाथ बांधे खड़े थे।

व्यवसाय में उनकी पैढ़ी इतनी प्रामाणिक मानी जाती थी कि सभी व्यापारी उनपर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखते थे।

उनका बुद्धि-चातुर्य, नीति-निपुणता, नैतिकता, सहिष्णुता, निष्पक्षता तथा सबके लिए कल्याण कामना आदि गुण ऐसे थे जिनसे वे न केवल अपने समाज में, अपितु पूरे प्रान्त में सम्मान की दृष्टिसे देखे जाते थे।

आदर्श और व्यवहार का संमिश्रण उनके जीवन में गंगा-यमुना के संगम के समान समुपस्थित था। माता-पिता ने विवाह के उपरान्त व्यवसाय का सारा दायित्व लोंकाशाह के कंधों पर ही डाल दिया था। उन्होंने अपनी दक्षता, सुलक्षता, नम्रता और सरलता से व्यवसाय को खूब चमकाया।

अपनी आयु के तेईसवें वर्ष में माता का और चौबीसवें वर्ष में पिता का विरह दुःख लोंकाशाह को देखना पड़ा। किन्तु मूलतया धार्मिक वृत्ति के व्यक्त होने के कारण माता-पिता की मृत्यु से उनका मन अवसन्न न हुआ।

इसी समय बाह्य समाज में कुछ ऐसी घटनाएं जल्दी-जल्दी घटने लगीं कि लोंकाशाह के मन-मस्तिष्क पर उनका प्रभाव पूर्णतया परिलक्षित हुआ।

शिरोही के राजा और चंद्रावलि के राजा में पारस्परिक संघर्ष उठ खड़ा हुआ। काल की चाल विचित्र है। एक इसी

आपदा से ही देश और समाज की शान्ति भंग न हुई, वरन् अकाल का भैरव भी अकांड तांडव नाचने लगा।

इस विषम अवस्था में श्रमिक और किसानों की दुःखपूर्ण दशा अत्यन्त दयनीय हो गई। व्यापारी भी संकट में पड़ गए। व्याज और बटाव का धंधा मंद पड़कर मर गया। लोंकाशाह ने अकाल पीड़ित जनता के उद्धार के लिए अपना तन-मन-धन लगा दिया।

राज्य की अराजकता और व्यवसाय की दुरवस्था के कारण लोंकाशाह शिरोही से चलकर अहमदाबाद आए और वहीं रहने लगे। आपने अहमदाबाद में जवाहरात का धंधा शुरू किया। कुछ ही दिनों में इनकी प्रामाणिकता को इनके हीरों की प्रामाणिकता ने और भी चमका दिया। उस समय अहमदाबाद के सुसंपन्न प्रान्त पर मुहम्मदशाह बादशाह राज्य करता था। वह हीरे-जवाहरात का बहुत शौकीन था। उसकी रत्न-प्रियता के विषय में अनेकों कथाएं प्रचलित हैं।

एक बार सूरत का एक जौहरी बादशाह के पास दो बड़े और मूल्यवान् मोती लेकर आया। बादशाह मोती देखकर प्रसन्न हुआ और उसने उनका मोल पूछा। मूल्य इतना अधिक अधिक था कि बादशाह ने शहर के सभी जौहरियों को बुलवाया और एक-एक कर उन्हें मोती के परीक्षा का आदेश दिया।

जौहरियों ने दोनों मोतियों को सच्चा बताया किन्तु लोंका-

शाह ने उनमें से एकको सच्चा और एकको नकली बताया। इसके पश्चात् उन्होंने उस नकली मोती को एरन पर रखकर हथौड़े से ज्योंही पीटा कि वह टुकड़े-टुकड़े हो गया।

बस, प्रमाण मिल गया कि मोती नकली है।

इस दृश्य को देखकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ। उसपर लोंकाशाह की बुद्धि और चातुर्य का गहरा प्रभाव पड़ा और उसने लोंकाशाह को अपना कोषाध्यक्ष बना दिया।

मरुधर के मिश्रीमलजी म० का कहना है कि बादशाह ने लोंकाशाह को पाटन का सूबेदार बनाकर भेजा था, जहां वे काफी लोकप्रिय हुए। इससे खुश होकर बादशाह ने उन्हें फिरसे अपने पास बुला लिया और मंत्रीपद देकर इनका मान बढ़ाया। लोंकाशाह निरन्तर दस वर्षों तक मंत्री पद पर आसीन रहते हुए समाज की सेवा करते रहे।

एक बार चंपानेर के रावल ने बादशाह मुहम्मदशाह पर आक्रमण कर दिया। उस समय कहते हैं कि मुहम्मदशाह ने शत्रु के प्रति कुछ शिथिलता दिखलाई। बादशाह का पुत्र कुतुबशाह अपने पिता की इस शिथिलता पर इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने अपने पिता को अपने ही हाथों से जहर देकर मार डाला।

असार संसार की इस क्रूर घटना ने संत हृदय लोंकाशाहके जीवन के पुष्प को मल-सा दिया। वे संसार से विरक्त हो गए।

बादशाह कुतुबशाह हर कीमत पर उन्हें अपने पास रखना चाहता था, किन्तु वे न माने।

मनुष्य का मन जब एक बार खटाई पड़े दूध की तरह फट जाता है तो उसका पुनः एक रंग हो जुड़ जाना त्रिकाल में भी असंभव है और भग्न और अशांत हृदय को कहीं शान्ति नहीं मिलती, फिर भी यह संसार एक विचित्र स्थल है और यहां समस्त अभावों की पूर्ति और रोगों का निदान विद्यमान है। इस विषम अवस्थामें लोंकाशाह के संतप्त हृदय को सत्य साधना और वैराग्य का वारि ही पूर्ण शान्ति दे सकता था।

धर्मवीर लोंकाशाह ने कुतुबशाह की बात नहीं मानी। जनता उन्हें अपना सरदार, न्यायाधीश, दाता, स्वामी और पिता मानती थी। फिर भी राजा और प्रजा दोनों मिलकर उन्हें नहीं रोक सके।

किन्तु वास्तव में, लोंकाशाह के सच्चे सार्वजनिक जीवन का स्वर्ण परिच्छेद तो अभी खुलना शेष था। अभीतक तो वे अपने उद्देश्य तक पहुंचने के लिए सीढ़ियों की ऊंचाई नाप रहे थे।

लोंकाशाह—संयम

अपने सगे सम्बन्धियों और स्वजनों से अनुमति लेकर पाटन के यति श्री सुमति विजयजी के पास श्रीसंघ की आज्ञा से लोंकाशाह ने संयमी जीवन स्वीकार कर लिया।

उनकी दीक्षा के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी मत पाये जाते हैं।

श्री संतबालजी और समाज के प्रखर तत्वचिन्तक श्री लोंकाशाह को आदर्श गृहस्थ मानते हैं। वे उनकी दीक्षा को अप्रामाणिक ठहराते हैं। उनका खयाल है कि गृहस्थी में ही रहकर उन्होंने धर्म-प्रेरणा द्वारा इतर जनों को दीक्षा दी। उन्होंने स्वयं दीक्षा धारण नहीं की।

उनके संयमी जीवन के सम्बन्ध में बहुत विप्रतिपत्तिएं हैं।

लोंकाशाह दीक्षित थे या नहीं ?

लोंकाशाह दीक्षित थे—

मरुधर केशरी श्री मिश्रीमलजी महाराज का कहना है कि राज्य के प्रति ग्लानि उत्पन्न हो जानेपर धर्मात्मा श्री लोंकाशाह ने राज्यकर्म छोड़ दिया परन्तु दीक्षा नहीं ली। कई वर्ष बाद दीक्षा ली।

वे जन्म से तत्वशोधक थे ही। उन्होंने एक लेखन-मण्डल स्थापित कर लिया। वे बहुत से लेखक रखकर प्राचीन शास्त्रों की प्रतिलिपियां करवाते और अपना सुधार्मिक जीवन व्यतीत करते। हस्ताक्षर तो श्री लोंकाशाह के भी बहुत सुन्दर थे, परन्तु आजतक तो उनके हाथों का लिखा एक भी सूत्र प्राप्त नहीं हुआ है।

संघ के आग्रह से उन्होंने यति ज्ञानसुन्दरजी के शास्त्रों की

प्रतिलिपियां करवानो आरम्भ कर दीं। अधिकतर समाज की यह मान्यता है कि वे स्वयं ही शास्त्र लिखा करते थे।

एक बार उनके घर गोचरी गए हुए यतिजी ने उनके सुन्दर अक्षरों को देखा, तो वे अपने शास्त्रों की प्रतिलिपि करवाने का लोभ संवरण न कर सके। किन्तु, बड़ौदा और बम्बई के लोका-गच्छीय उपाश्रयोंमें खोज करने पर भी हम उनके हाथोंका लिखा हुआ एक भी पेज प्राप्त नहीं कर सके। इससे यही अनुमान लगता है कि उन्होंने लेखक मण्डल स्थापित किया हुआ था। भले, वे स्वयं लहियापन का काम न करते हों। किन्तु यह बात भी तत्कालीन मुनि-कवियों की कविता से खंडित हो जाती है, जब कि खरतर गच्छीय संत लोंका को 'लेहउ' के नाम से पुकारते हैं।

कमलसंयम उपाध्याय अपनी सं० १५४४ की ग्रंथ रचना में लिखते हैं—"संवत् पनर अठोतर उजाणि, लुंकु लेहउ मूलि निसाणी। सं० १५०८ वर्षे अहमदाबाद नगरे, लुंकु लेहु भण्डार लिखतु।"

तपागच्छ पट्टावली वि० सं० १५०२ में आचार्य रत्नशेखर सूरि का वर्णन करते हुए लिखा है:—

"तदानीं च लूंकाख्याल्लेखकात्—१५०८ वर्षे जिन प्रति-मोत्थापन पर लुंकामतं प्रवृत्तं,"

यहां स्पष्ट लुंका को लेखक बताया गया है।

खैर इतना तो मानना पड़ेगा कि उन्हें उस समय लहिया

(लेखक) नामसे सब जानते थे। यह भी प्रतीत होता है कि वीर प्राण लोंकाशाह अपने कर-कमलों से भी अवश्य लिखते होंगे। चाहे उनकी हस्ताक्षर-प्रतिलिपि अप्राप्य ही रही हो।

जहांतक उनकी दीक्षा का प्रश्न है, उस काल के प्रमाण "नहीं" के पक्ष में नहीं हैं। जैसे कि वि० सं० १५४३ के 'लावण्य समय" कवि ने अपनी चौपाई में कहा है:—

"सुणि भवियण जिणवीर जिण पामेउ शिवपुर ठाऊ
त्यार पछी लुंकु हुउ असमंजस्स तिणइ किछ
लुंकइ बात प्रकासी इसी, तेहनु सीस हुए लखमसी
पोसह पडिकमण नु पच्च खाण, नविमानेए इस्या
जिन पूजा करिवा मति टली, अष्टापट बहुतीर्थ वली
नविमाने प्रतिमा प्रसाद।"

अर्थात्:—"भव्य जनो! सुनो, सुनकर शिवपुर को प्राप्त करो। उसके पीछे लोंका हुआ। उसने तो सर्वत्र असमंजस पैदा कर दिया। बनी बनाई परम्पराएं हिल गई। पौषध, प्रतिक्रमण पच्चखाण वह नहीं करता था। जिन पूजा, अष्टापद तीर्थ और प्रतिमा प्रसाद का वह निषेध करता था।"

यदि लोंकाशाह साधु होते तो पौषध, प्रतिक्रमण के पच्चखान का आक्षेप उनपर नहीं लग सकता था। पौषध का विधान श्रावक के लिए होता है और साधु के लिए प्रतिक्रमण का अनिवार्य नियम। इससे यही लगता है कि वह आदर्श गृहस्थ बनकर ही धर्म प्रचार करते थे।

प्रश्न यह उठता है कि क्रांति की आग लोंकाशाह में कैसे उत्पन्न हुई ?

रूढ़िपोषकों, स्थितिपालकों और और कुपरम्परावादियों के विरुद्ध उनके मन में कैसे भयंकर प्रतिक्रियां जागृत हुई।

उसका कोई मूल कारण तो होना ही चाहिए।

लगभग सभी इतिहासकारों का मत है कि उन्हें विशुद्ध शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त होनेपर ही सामाजिक अंध परम्परा के प्रति ग्लानि पैदा हुई किन्तु उस शास्त्रीय ज्ञान को प्राप्त करने में वे किस प्रकार सफल हुए जब कि श्रावकों को शास्त्र पढ़ने तकका अधिकार नहीं था। यहां आकार लोंकाशाह-विषयक इतिहास की दो धाराएं अलग २ बहने लग जाती हैं। एक मत (मणिलालजी महाराज—"जैनधर्म नो प्राचीन सं० इतिहास") यह कहता है कि उन्होंने शास्त्रीय ज्ञान पाटन के यति सुमति विजयजी के साहचर्य से प्राप्त किया। दूसरा मत (श्री केशरीजी) यह है कि ज्ञानसुन्दर यतिजी ने दशवैकालिक सूत्र की प्रतिलिपि करवाने को दी। इन्होंने संघ के आग्रह से प्रतिलिपि करना स्वीकार किया। मनोयोगपूर्वक प्रतिलिपि करने लगे। प्रतिलिपि करते समय शास्त्र का अपूर्व ज्ञान, संयम की तितिक्षा, भगवान् की आज्ञा तथा सच्चे धर्म का स्वरूप जानने को मिला तो इनके अन्तर्चक्षु खुलने लगे। उनकी आंखों के सामने वर्तमान का रूढ़िग्रस्त श्रमण समाज और भूत का निर्ग्रन्थ संघ साक्षात् दीखने लगे। वे कभी २ शास्त्रों की पगडंडियों पर वर्तमान के

श्रमण यतियों और श्रावकों को राही के रूप में चलाकर देखते तो उन्हें ऐसा लगता जैसे दोनों एक दूसरे के विरोधी हों, अथवा भूत से वर्तमान जैसे पथ-भ्रष्ट होकर दिग्भ्रान्त हो गया है।

श्री लोंकाशाह चैत्यवासियों के शिथिलाचार और अपरिग्रही निर्ग्रन्थों के असिधारवत् प्रखर संयम की तुलना करते तो उनके मन में क्षोभ जागृत हो जाता।

वह मंदिरों, मठों, प्रतिमागृहों के आगम की कसौटी पर कसकर देखते तो उन्हें कहीं भी मोक्षोपाय में प्रतिमा की प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती।

उनके मन में समाज की अंधपरम्परा के विरुद्ध जैनागम पर श्रद्धा अडिग होती गई। उनका पूर्ण विश्वास होता गया कि निर्ग्रन्थ धर्म आज के सुखाभिलाषियों और सम्प्रदायों पर पोषकों के कलुषित हाथों में जाकर लांछित, विकृत हो गया है। मोक्ष की सिद्धि में हमें मंदिरोपासना की कोई आवश्यकता नहीं। धर्म के लिए मठों और कुरीतियों के पोषण की कोई जरूरत नहीं। निर्ग्रन्थ धर्म के पालन के लिए मठाधीशों, सत्ताधीशों तथा भौतिकवादी सन्तों की दासता में रहना आवश्यक शर्त नहीं बन सकती। बस, यही थे उनके अन्तःस्फुटित क्रांतिकारी विचार—जिन्होंने उनको सम्बल प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप वे क्रांति की पगडंडी पर अकेले ही, सफलता और निर्भयतापूर्वक निरंतर बिजयावलियां प्राप्त करते हुए चले गए।

दो प्रतिलिपियां करना

शास्त्रों के प्रति लोंकाशाह का आकर्षण सहज स्वाभाविक रूप में प्रवाहित था। अतएव, वे दिन में यतिजी के लिए प्रतिलिपि तैयार करते और रात्रि में अपने लिए प्रत्येक शास्त्र की दो प्रतिलिपियां बनाते। संकल्प और श्रद्धा के सामने संसार में कुछ भी असंभव नहीं है। लोंकायति केशवजी "२४ कड़ी का सिलोंकी" में इसका समर्थन करते हुए लिखते हैं:—

ज्ञान समुद्र बी सेवा करता मणीं गुणीं लहिउं बन्यो तव स्यां।
द्रम्भ कमाणी, श्रुतनी भक्ति, आगम लिखहुं मन मां शंकइ।

श्रुत ज्ञान-निधिजी की सेवा करते, द्रव्योपार्जन करते और श्रुत की भक्ति करते हुए इनके मन में एक दिन आशंकाएं पैदा हो गईं।

रहस्योद्‌घाटन

शास्त्रों की दो प्रतिलिपियां करने की बात यतियों से अधिक दिन और ज्यादा देर छिपी न रह सकी। एक दिन गोचरी जाते समय उन्होंने उनके घर शास्त्रों की दोनों प्रतिलिपियां देख लीं। बस—अब क्या था ? शास्त्र प्रतिलिपि का कार्य बन्द कर दिया गया। अब लोंकाशाह भी अपनी प्रतिक्रिया को अधिक देर तक छिपा न सके। उन्होंने तत्कालीन यति परम्परा के सामने निर्ग्रन्थ-धर्म का सच्चा स्वरूप रखना प्रारम्भ कर दिया।

क्रांति का उदय

एक ओर महावीर प्रभु का हार्द समझ कर उनके सच्चे प्रतिनिधि बनकर ज्ञानदिवाकर लोंकाशाह, अपनी समस्त शक्ति लगाकर मिथ्यात्व और आडम्बर के अंधकार के विरुद्ध सिंह-गर्जना करते हुए उठ खड़े हुए और दूसरी ओर अधिकारों के लोलुप साधु-वर्ग ने इस आशय के समाचार फैलाने आरम्भ कर दिए कि अहमदाबाद में लोंकाशाह नामका एक लहिया-शासन द्रोह कर रहा है।

उपाध्याय धर्मसागरजी ने लोंकाशाह की क्रांति को सं० १६४६ में तपागच्छ की पट्टावली लिखते हुए एक उत्पात बताया है। उनके कथनानुसार सं० १५०८ में क्रांति की और सं० १५३३ में उसके अनुयायी साधु बने।

जब अज्ञान के विरुद्ध ज्ञान की निर्मल आत्मा हुंकार करती है, जब २ न्याय का सिंह अन्याय के प्राणलोभी गीदड़ों के सम्मुख दहाड़ता है, तो वे सब सत्य-धर्म की रक्षा के नाम पर सिंह को अधर्मी कहते हैं। यही वीरमना श्री लोंकाशाह के विषय में भी होना था। शासन-द्रोही तो उन्हें कहा ही जा चुका था—अब यह भी प्रचार होने लगा कि वह उत्सूत्र प्ररूपण करता है। उसकी श्रद्धा भ्रष्ट हो गई है और उसका विश्वास विशृंखलित हो विचलित हो गया है। वह शास्त्र-सिद्ध मूर्त्ति पूजा को नष्ट कर देना चाहता है।

यह बातें लखमशी भाई अणहिलपुर पाटणवाले ने सं० १५२८ में सुनी। लखमशी भाई उस समय समाज में प्रतिष्ठित और अधिकार सम्पन्न श्रावक थे। उन्होंने लोंकाशाह को सुधारने के लिए अहमदाबाद की ओर प्रयाण किया और समय पर वे लोंकाशाह के पास पहुंच गए।

लोंकाशाह का तेज, प्रतिभा, कांति तथा उनके पियदर्शी पुण्यानन की दिव्य आभा देखकर लखमशी भाई जरा प्रतिहत तो हुए परन्तु साहस करके बोले कि—

"लोंकाशाह! मैंने सुना है कि तू लोगों को उल्टा उपदेश देकर एक नया पंथ चलाना चाहता है?

(श्री सन्तबाल—"धर्मप्राण लोंकाशाह")

इस प्रश्न पर, लोंकाशाह ने अत्यन्त गंभीरता, धीरता एवं वीरतापूर्वक उत्तर दिया—"न मैं बड़ा उपदेशक हूं और न कोई नया पंथ खड़ा करने की मेरी इच्छा है। सत्य की शोध करना मेरा कर्त्तव्य है। युक्ति की साधना मेरा ध्येय है। मेरा विश्वास है कि भगवान् महावीर ने कोई नया पंथ नहीं खड़ा किया और न कोई सम्प्रदाय ही बनाया था। उन्होंने तो हमें सत्य-शोधन करने की दिव्य प्रेरणा दी और मिथ्यात्व से संघर्ष करने के लिए हमें ललकारा है।"

इसपर लखमशी बोले—"तो तुम्हारे नाम पर यह सब झगड़ा-वखेड़ा क्यों खड़ा हुआ है? सुना है कि तुम मूर्त्ति-पूजा का विरोध कर रहे हो?"

मूर्तिपूजा पर लोंकाशाह

तब लोंकाशाह ने सविस्तार उत्तर दिया कि जैनागमों में मूर्त्तिपूजा का कहीं विधान नहीं है। ग्रंथों और टीकाओं से अधिक हम आगमों पर विश्वास करते हैं। किसी भी मूल आगम में प्रतिमा की प्रतिष्ठा या पूजा का उल्लेख नहीं और न मोक्ष के चार उपायों – दान, शील, तप और भावना में कहीं उसका उल्लेख है।

पांच महाव्रत, श्रावक के १२ व्रत, १२ भावना तथा साधु की दैनिक चर्या—सभी का शास्त्र में वर्णन है। किन्तु प्रतिमा की पूजा का किसी भी जगह वर्णन नहीं आया है।

"ज्ञातासूत्र और रायप्रसेणी आदि सूत्रों में चैत्यों के वन्दन का वर्णन अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु किसी जैन-साधु अथवा किसी जैन श्रावकने प्रतिमा का नित्य क्रम की तरह पूजन किया हो, ऐसा कहीं भी देखने को नहीं मिलता है।"

लखमशी—"तो क्या मूर्तिपूजा शास्त्र-सम्मत नहीं है?"

लोंकाशाह—"हां, शास्त्र सम्मत नहीं है।"

लखमशी—"अपनी परम्परा से आचार्य, साधु तथा श्रावक प्रतिमा-पूजन करते आ रहे हैं और अनेक स्थलों पर अपने पवित्र तीर्थ भी हैं, तो क्या प्रतिमापूजन और तीर्थयात्रा धर्म के विरुद्ध है।"

लोंकाशाह—"धर्म के विरुद्ध नहीं, अपितु, धर्म का अंग

नहीं। तीर्थयात्रा से मोक्ष प्राप्ति हो जायेगी, ऐसी मान्यता शास्त्रों से सर्वथा विपरीत है।"

लखमशी—"यदि प्रतिमा-पूजन का शास्त्र में उल्लेख नहीं तो इसका जन्म कैसे हुआ ?"

लोंकाशाह—इसपर विद्वानों के मत भिन्न हैं।

व्यवहारसूत्र की चूलिका के अनुसार भद्रबाहु स्वामी के स्वर्गवास के अनन्तर मूर्तिपूजा की परम्परा चली।

"लोभेण माला रोहेण, देवल, उवहाण उज्जमण जिणबिम्ब,
पइट्ठावण विहिं पगासि स्संति अविहे पंथे।
पडिस्सइ, तत्थ जे केइ साहु साहुणि सावय सावियाओ,
विहिमग्गे वुहिस्सं ति तेसिं बहुणं हिलणाणं,
निंदणाणं खिसणाणं भरहियाणं भविस्सइ।"

—आवश्यकसूत्र की चूलिका

भद्रबाहु स्वामी ने अपने प्रिय शिष्य चन्द्रगुप्त को पांचवें स्वप्न का फल बताते हुए कहा था कि—"बस, कुछ समय के बाद जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा हो जाएगी और श्रावकगण अविधि पंथ पर चल पड़ेगा और जो कोई विधि पंथ का वर्णन करेगा, उसकी निन्दा की जाएगी।"

जिनदास महत्तर ने अपनी आवश्यक चूर्णी में पूजा का विवेचन करते हुए लिखा है:—

"इदाणिं पूयाकर्म्मं पुरस्तात् पुज्जा-पूजा, दव्व पूया
णिण्हगा दीणं, भाव पूया पर लोगाट्ठिताणं।"

—आवश्यक चूर्णी, पृष्ठ १८

अर्थात्—"पूजा दो भांति की—एक द्रव्य पूजा और दूसरी भाव-पूजा।"

निन्हवों की पूजा द्रव्य-पूजा होती है और परलोक के श्रेयस्करों की पूजा तो भाव-पूजा होती है।

हरिभद्र सूरिजी ने इस विषय को बहुत ही सूक्ष्मता और विस्तृत रूप में लिखा है। उन्होंने बताया है कि एक द्रव्यपूजा तथा दूसरी भाव-पूजा। इससे हम सावद्य और निवद्य के नाम से भी पुकारते हैं। सावद्य (सपाप) और निरवद्य (निष्पाप)।

—हरिभद्र सूरिजी सावद्य-पूजा को मोक्षसाधिका नहीं मानते।

"अष्ट पुष्पी समाख्याता स्वर्ग मोक्ष प्रसाधनी।
अशुद्धेतर भेदेन द्विधा तत्वार्थदर्शिभिः
शुद्धागमैर्यथालाभं, प्रत्यग्रैः शुचि भाजनैः
स्तोकैर्वाबहुभिर्वापि, पुष्पैर्जात्यादि संभवे
अष्टाप्राप विनिमुर्क्त-स्तदुत्थ गुणभूतये
दीतये देव देवाय वासा शुद्धेत्युदाहृता
या पुनर्भवजैः पुष्पैः शास्त्रोक्ति गुण संगतैः
परिपूर्णत्वतोऽम्लानैः अतएव सुगंधिभिः।"

—अष्ट पुष्प का कथनः—"अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यम-संगता गुरुभक्ति स्तपो ज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते।"

श्री हरिभद्र सूरिजो का विश्वास है कि अष्टकर्म रहित वीत-राग भगवान् पर पुष्प चढ़ाना कोई सच्ची पूजा नहीं कही जा

सकती। सचित्त पुष्प भगवान् पर चढ़ाना पाप है. अतः वह पूजा अशुद्ध है।

"शास्त्र-वचन रूपी डोरे में गूंथे हुए शाश्वत और नित्य सुगंधिमय अष्टभावनामय पुष्पों से भगवान की पूजा करो।"

इसके अतिरिक्तः—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, गुरुभक्ति, ज्ञानार्जन तथा तपोऽनुष्ठान ही शाश्वत अष्ट-पुष्प हैं।

लोंकाशाह ने इससे आगे बढ़कर कहा कि—"क्या आप उत्तर देंगे कि आप मूर्ति की पूजा करते हो अथवा भगवान् की? भगवान् और मूर्ति दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं अथवा एक? भगवान् की मूर्ति—यह तो सत्य बात है, किन्तु मूर्ति भगवान है—यह हमारी समझ में नहीं आता।

मेरा चित्र हो सकता है क्योंकि मैंने औदारिक शरीर धारण किया है, किन्तु क्या चित्र भी कभी "मैं" हो सकता है?

हिन्दुस्तान का मानचित्र हो सकता है। किन्तु क्या मानचित्र ही वास्तविक हिन्दुस्तान हो सकता है?

तुम्हारे पिता का चित्र हो सकता है, परन्तु क्या चित्र भी तुम्हारा पिता हो सकता है?

यदि नहीं, तो बताओ—मूर्ति भगवान् कैसे हो सकती है?

दूसरी बात—"हम अर्हन्त भगवान् की राज्य-दशा की पूजा करते हैं अथवा वीतराग दशा की?"

लखमशी—"वीतराग दशा की।"

लोंकाशाह—ठीक, तो अर्हन्त की प्रतिमा पर राजसी शृंगार करने की क्या आवश्यकता है ?"

"मैं स्वीकार करता हूं कि हममें एक रूढ़ परम्परा चल पड़ी है कि प्रतिमा की पूजा अनिवार्य रूप से करनी चाहिए। खैर, वह तो आपकी इच्छा पर निर्भर है। किन्तु, मेरे विश्वास में हम चैतन्य के उपासक हैं। जड़ के उपासक नहीं हैं। मूर्ति की पूजा हमारे ध्येय की प्राप्ति में कोई आवश्यक विधान नहीं है।"

लखमशी भाई "मैं मूर्ति का विरोधी नहीं हूं। मूर्ति एक कला है। पुरातत्व की ऋद्धि है। कलाकार के भावों का साकार रूप है। मूर्ति है उसके चातुर्य भरे हाथों का चमत्कार। यही नहीं, मैं तो यह भी कहता हूं कि मूर्ति के आधार पर सामान्य-जन टिके रहते हैं और अगर कोई चाहे तो अपने नेत्रों को जुड़ा कर मन को भी केन्द्रित कर सकते हैं। फिर भी, मूर्ति धर्म के क्षेत्र में आवश्यक नहीं मानी जा सकेगी। वह तो मात्र कला की वस्तु है। धर्म में तो आत्मा की और संयम की ही कला चाहिए। वस्तुकला की उसमें आवश्यकता नहीं है।"

लखमशी—"ठीक, मैं समझ गया कि मूर्ति के साथ हमारा कोई विरोध नहीं और नहीं मोक्ष सिद्धि में उसकी कोई उपयोगिता ही है। यह तो किसी काल में परिस्थितिवश इस प्रकार परम्परा चल पड़ी है और मूल आगम में भी इसका कहीं स्पष्ट विधान ही है।"

लोंकाशाह—"लखमशी, मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि

हम आज सागार तथा अनगार धर्म की बातें छोड़कर, तप-संयम की प्रवृत्ति त्याग कर, सूत्र सिद्धान्त की चर्चा से अलग होकर स्याद्वाद, अनेकान्तवाद—जैसी दार्शनिक पद्धति को भूलकर मूर्ति और आडम्बरों के पीछे क्यों लगे हुए हैं? इनसे ऊपर उठो। त्याग की भावना जागृत करो, भाव-पूजा की ओर अपने मनको लगाओ। अहिंसा, संयम तथा तपरूप ही धर्म है। उसीसे हमारा कल्याण संभव है।"

लखमशी तो लोंकाशाह को समझाने आए थे, किन्तु स्वयं ही उनसे समझकर गए और सदाके लिए उनके शिष्य हो गए। बस, लखमशी का शिष्य होना एक बहुत भयंकर महत्त्वपूर्ण घटना थी, समूचा यतिवर्ग और साधुवर्ग उससे घबड़ा गया और धीरे २ लोंकाशाह का प्रभाव बढ़ने लगा।

चार यात्री संघों का मिलन

एक बार सिरोही, अरहट्टवाड़ा, पाटण तथा सूरत के चार संघ यात्रा के लिए निकले और अहमदाबाद आए। वर्षा का जोर था, अतः उन्हें वहां ही रुकना पड़ा और लोंकाशाह के साथ चर्चा करने का और उनकी वाणी सुनने का खूब अवसर प्राप्त हुआ। चार संघों के चार संघपति—नागजी, दलीचंद, मोतीचंद और शंभुजी लोंकाशाह के प्रभाव में आबद्ध हो गए। लोंकाशाह के उपदेश का, उनके जीवन का, भगवान् की सच्ची भक्ति और आगमिक परम्परा का उन चारों संघों पर इतना

जबर्दस्त प्रभाव पड़ा कि उसी समय ४५ भाई लोंकाशाह की प्ररूपणा के अनुसार साधु बनने के लिए तैयार हो गए।

लोंकाशाह की क्रांति साकार होने जा रही थी। धर्म के ढोंग और मिथ्यात्व के बादल भागने लगे थे। यतिवर्ग बौखला उठा, किन्तु क्रांति जब उभर उठती है तब उसके वेग को दुनिया की कोई ताकत नहीं रोक सकती। बस, उसके पीछे शुद्ध संकल्प का आध्यात्मिक बल और प्रबल नैतिक पक्ष होना चाहिए।

४५ श्रीमन्तों ने शाह की विमल वाणी सुनकर भगवती दीक्षा ग्रहण की और वे शुद्ध अहिंसा की साधना में तत्पर हो गए। उन ४५ जनों ने अपने उपदेशक के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए अपने संघ का नाम लोंकागच्छ रखा और अपने नियमादि लोंकागच्छ के उपदेश के अनुसार निर्माण किए—लोंकाशाह की दीक्षा का उल्लेख कल्याणजी भंसाली, जैसलमेर वालों की संस्कृत पद्यबंध पट्टावलि से लिया गया है। दूसरा प्रमाण जयतारण के गुजराती लोंकागच्छ के उपाश्रय जयतारण के भण्डार के प्राचीन पत्रोंमें से प्राप्त हुआ है।

तीसरा उल्लेख ज्ञानयति द्वारा रचित "धर्म परीक्षा नाटक" में मिलता है।

वे लिखते हैं—उस समय २१ ठाणों से ज्ञानजी मुनि हैदराबाद की तरफ विचरण कर रहे थे। शाहजी ने उनको बुलाया और सं० १५२७ वैसाख शुक्ला अक्षय तृतीया को ४५ जनों को दीक्षा दे दी। और सं० १५३६ में लोंकाशाह स्वयं मार्गशीर्ष शु०

५ मी को ज्ञानजी मुनि के शिष्य सोहनजी के पास दीक्षित हो गए। प्रतिलिपि सं० १६५७ में श्रावण शु० पूनम के दिन श्री दौलतरामजी म० के अमरचन्द्रजी म० ने की है।

जैसलमेर भण्डार से प्राप्त ताड़पत्रों के आधार पर विस्तृत पट्टावली—जिसकी प्रतिलिपि श्री आनन्द ऋषिजी म० के पास है उसमें एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य मिलता है कि:—

"समत पनरेने अड़तीसरी साल मिगसर सुद पाचम ने दिन अहमदाबाद वाला लूंकाजी दफ्तरी जिन दीक्षा ली थी। ज्ञान रिखजी ना चेला सुमति सेनजी रे पासे लूंका जी दीक्षा ली थी। पाश्व चेला लूंका जी ना हुआ। लूंका नाम थापियों, लूंका जी दीक्षा लीनी तिणसे परिवार घणों बधियो। लूंका जी गुजरात मारवाड़ और दिल्ली तक पधारिया और दिल्ली माहे पातसाहे आगल चर्चा थई। श्री पूज्यजी से चर्चा हुई, चर्चा करी ने घणों मिथ्यात्व हाटाइ ने घणा श्रावक ने प्रतिबोध दीवो। ऐसी शास्त्र सूरत ना सेठजी कल्याण जी भंसाली ना भण्डार मां, पट्टावली मां संस्कृत मां छे। तेमा लूंकांजी नी दीक्षानी हकीकत छे तथा ज्ञानसागर जती नी जोड़ को ग्रन्थ नाटक ते मां पण लूंकाजीए दीक्षा लीधा नो लिख्युंछे। दयाधर्म नो उद्योत घणो थयो।"

लोंकाशाह के स्वल्प दीक्षित काल में ही उनके ४०० शिष्य बन गए और लाखों श्रावक उनके प्रति श्रद्धावान् हो गए। यही उनकी क्रांति की उपयोगिता थी।

लोंकाशाह का अंतिम समय

लोंकाशाह ने दिल्ली तक धर्म का जयघोष निनादित किया और आगम विहित संयम का पालन किया। किन्तु समाज के दुर्भाग्य से विरोधी, शिथिलाचारी और ईर्ष्यालु उन्हें देख नहीं सके। लोंकाशाह मुनि दिल्ली से वापस आ रहे थे। अलवर में उनका तीन दिन के उपवास का पारणा था, अलवर में पारणा के समय आहार की अनुकलता के अभाव में उनका शरीर समाप्त हो गया।

जब २ समाज के कलुष और विष को दूर करने के लिए त्यागी, ज्ञानी, तीर्थंकर, पैगम्बर, अवतार और पुरुषोत्तम आते हैं. समाज पापमार्गी पतित इसी प्रकार शूलों, कांटों, विष के प्यालों और अपमानों से उनका स्वागत करते हैं। क्या भगवान् के भक्तों को सदैव परीक्षा देनी ही पड़ती है? क्या पाप अपने आपमें इतना प्रबल है कि वह सत्य को जहर पिलाकर, उसका अन्त कर सकेगा। यदि जहर, ज्वाला, कांटों और पत्थरों से सत्य और ज्योति के तेजवंत पुत्र हार गए होते तो आज इस धरती पर मनुष्य समाज की परम्परा का यह अनन्त प्रवाह कदापि दृष्टिगोचर नहीं होता। यह प्रवाह इस बात का प्रमाण है कि जहां इसके किनारे काटने वाले कलंकित कायधारी हैं, वहां उसके प्रवाह को शांति अहिंसा और न्याय की छाया में अक्षुण्ण रखने वाले महामानव भी अवतीर्ण होते आये हैं—

यतिवर भानुचन्द्रजी ने (सं० १५७८) धर्मदेह लोंकाशाह का स्वर्गवास सम्वत् १५३२ बतलाया है—"पनरासो बत्तीस प्रमाण, सालुंको पाम्यो निर्वाण।"

मणिलालजी महाराज ने लोंकाशाह का देहान्त सं० १५४१ में होना लिखा है। —प्रभुवीर पट्टावली—पृष्ठ १७८

लोंकायति श्री केशवजी का कहना है—"लोंकाशाह का स्वर्गवास ५६ वर्ष की आयु में सं० १५३३ में हुआ था।"

(२४ कड़ी का सिलोको)

वीर वंशावली (१८०६) में लोंकाशाह का देहान्त समय सं० १५३५ लिखा है।

इन उल्लेखों की परस्पर की विरुद्धता हमें किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंचने देती, तो भी सं० १५३२ से सं० १५४१ तक ही उनका मृत्यु समय निश्चित है। इन नौ वर्षों के अन्तर को किस प्रकार सुलझाया जाय, इसके लिए उनका पिछला समग्र जीवन सागर छान लेना पड़ेगा। किन्तु उनकी दीक्षा यदि १५३६ में अवश्यमेव हुई थी तो उनका स्वर्गवास भी १५४१ में ही हुआ होगा।

कुछ भी हो, ऐसा ज्ञानी, स्वाभिमानी, महामेधावी पंडित मुनि इतने स्वल्पकाल में अपनी ज्योति प्रकाशित कर अदृश्य हो गए और अपने असमायिक समाज की अवस्था पर इतना अदम्य प्रभाव छोड़ गया कि उसे देखते हुए, उसके तेज और ज्ञान की दीपशिखासे प्रभावित होना पड़ता है।

फिर, मृत्यु भी आई तो 'शहादत' बन कर। क्या लाभ था यदि वे बिस्तर पर पड़े २ अंतिम श्वास ले लेते ? अपने जीवन की पूर्णाहुति देकर लोंकाशाह ने अपने विश्वासों की अटलता का परिचय दिया। सुकरात, अरस्तू, मन्सूर, लूथर और अनेकानेक सत्पथमार्गी सन्तों और पैगम्बरों की तरह ही लोंका-शाह ने इस संसार से प्रयाण किया। वास्तव में, महापुरुषों के जीवन की तरह उनकी मृत्यु भी उनका परीक्षण होती है। फांसी और जहर के प्याले उनकी मृत्यु नहीं, उल्टे मृत्यु का उपहास है। मनुष्य इतना क्रूर और नासमझ है कि अपने ही हाथों मान-वता के अनमोल मुक्ताओं को खोकर रोया है। विश्व-इतिहास में इस विडम्बना की परछाइयां, स्पष्ट परिलक्षित होती हैं।

लोंकाशाह की समाचारी

लोंकाशाह साधुजीवन और धर्म-पालन में निम्नलिखित नियमों को सर्वोत्कृष्ट मानते थे।

१. उपधान तप के किये बिना भी शास्त्र अभ्यास कराया जा सकता है।

२. जिन प्रतिमा की धर्म-दृष्टि से पूजा करना ४५ आगमों में नहीं है।

३. मूलसूत्र, ४५ आगम और मूल-शास्त्र समस्त टीकाओं के अतिरिक्त आगम और टीका सर्वथा मान्य नहीं की जायगी।

४, विद्या का प्रयोग निषिद्ध है।

५. पौषध प्रतिक्रमण स्वतंत्र रीति से करना।
६. चातुर्मास के अतिरिक्त पाट का व्यवहार किया जा सकता है।
७. दण्ड नहीं रखा जाना चाहिए।
८. पुस्तकें रखी जा सकती हैं।
९. प्रत्येक कुल में गोचरी की जा सकती है, सात्विक और शुद्धि का ध्यान रखते हुए।
१०. श्रावक भी भिक्षा कर सकता है।
११. श्रावक दान नहीं ले सकता।
१२. उपवास प्रत्याख्यान में छाछ-पानी के प्रासुक पानी ले सकते हैं।
१३. बिना उपवास के पौषध किया जा सकता है।
१४. पर्व-तिथि के बिना भी उपवास किया जा सकता है।
१५. इकट्ठे उपवास पचखे जा सकते हैं।
१६. कल्याणकों को तिथि में नहीं गिनना चाहिए।
१७. जिस दिन गोरस लिया जाय उस दिन द्विदल का प्रयोग नहीं होना चाहिए।
१८. स्थापनाचार्य की स्थापना अनावश्यक है।
१९. धोवनपानी में दो घड़ी के अनन्तर जीवोत्पत्ति संभव है।
२०. अपात्र को धर्मबुद्धि से दान देने से हिंसा होती है, (अनुकम्पा बुद्धि से गरीब को दान देना एकान्त पाप का कारण नहीं है)

लोंकाशाह का प्रभाव

मृत्यु ने श्री लोंकाशाह को इस संसार से अवश्य उठा लिया था, किन्तु उनका अमिट प्रभाव अमर क्रांति और नवचेतना फूंक देनेवाला उपदेश आज भी अमर है। वे मर कर जीवित हैं। वास्तव में उनका प्रभाव आज नहीं, उसी समय इतना व्याप्त हो गया था कि तत्कालीन काव्य-रचना में भी इस बात का प्रमाण मिलता है। मुनिवर्ग की चौपाइयों और गद्यपंक्तियों से इस बातका स्पष्ट संकेत मिलता है कि लोंकाशाह का काल संक्रांति काल था। यतिवर्ग उनके विरोधमें तूफानी आक्षेप बरसाया करते थे। किन्तु, लोंकाशाह तो शान्ति-चित्तसे अपना आह्लादकारी मंथन, चिन्तन और मनन किया करते थे।

वे विरोध को विनोद मानते थे और आक्षेपों को मार्ग-दर्शन की सामग्री। उनके विरोध में अनेक चौपाइयां, रासो और ढालों का निर्माण हुआ। गद्यग्रंथ लिखे गए। विरोधी दल संयुक्त किए गए। किन्तु वे तो समुद्र की भांति गम्भीर, पर्वत की तरह निश्चल हृदय बनकर सदैव आगे और आगे ही बढ़ते गए। उनके विरोध में कही गई चौपाइयां वास्तव में उनके विलक्षण प्रभाव का संसूचन देती हैं— जैसे:—

संवत् पनर अठोतरउ जाणि, लुकु लेहउ मूलि निसाणि,
तेहने शिष्य मिलिउ लखमशी, टालेर जिन-प्रतिमा न इ मान।
दया, दया करी टालइ दान, टालइ विनय विवेक विचार,

टालइ सामयिक उच्चार, पडिकमणा न, टालइ नाम,
भामइ पडिया घणा तिनिगाम, संवत् पनर नु त्रीस इ कालि,
पगट्यां वेसधार समकालि, दया दया पोकारइ धर्म, प्रतिम निंदी
एह वइहुए पिरोज जिखान, तेह नइ पातशाह दिइ मान।
पाड़इ देहरा नइ पोसाल, जिन मत पीड़इ दुखमा काल।
लुकानइ ते मिलिउ संयोग, डगमग पडिउ सघलउ लोक,
पोसालइ आवइ पणि फोक॥

और आगे चलकर यही मुनि गद्य में भी लिखते हैं:—

सं० १५०८ वर्षे अहमदाबाद नगरे लुकु लेहु भण्डार लिखतु। तेहनइ लखमशी शिष्य मिउ। ते लखमशी ना प्रतिबोध थकी सं० १५३० वर्षे शिक्षाचार व्रत ना उच्चार पाखइ। न महात्मा माहि, न महासती माहि, न श्रावक माहि, न श्राविका माहि। एतला कारण भणी संघ बाल कहि वराइ। हवइ जिन प्रतिमा उत्थापवानइ काजितेणे लुकु एवहउ बोल लीधउ। जे मूल सूत्र व्यतिरेक बीजा शास्त्र न मानउ। ते कहइ मूलसूत्र माहि प्रतिमा पूजा नथी कहिया। तु लुकुउ लेहउ संवत् १५०८ हुउ। अनइ जिन प्रतिमा लखमशी संवत् १५३० उत्थापी-तपगच्छीय मुनि लावण्यसमय ने सं० १५४३ में यह चौपाई लिखी थी।

उपरोक्त निंदात्मक पद्यांश का आशय इस प्रकार है:—

संवत १५०८ में लुका-लोहिया ने जैन-शासन की अवहेलना शुरू कर दी और फिर उसको लखमशी नामका शिष्य मिल गया। जिन प्रतिमा की पूजा उसने बन्द करवा दी और दया

दया करके दान का रास्ता उसने बन्द करवा दिया। (इससे यह ध्वनित होता है कि लोंकाशाह की क्रांतिके फलस्वरूप यति-वर्ग की दान-दक्षिणा बन्द हो गई होगी)

लोंकाशाह की परिस्थिति का वर्णन करते हुए तपागच्छ पट्टावली में लिखा है कि:—

"जिन प्रतिमा प्रतिषेध-साधु जनाभाव प्रमुखो-सूत्र प्ररूपण प्रबल जल प्लाव्यमानं जननिकरमवलोक्य,"

अर्थात्—तत्कालीन तपागच्छी साधु ने देखा कि मूर्तिपूजा का विरोध उग्र हो गया है, और सारी जनता मूर्तिपूजा के विरुद्ध उत्सूत्र प्ररूपण रूपी जल प्रलय में डूब गई है, यह लोंकाशाह के बढ़ते हुए प्रभाव का ज्वलन्त प्रमाण है।

"विनय, विवेक, विचार तथा सामयिक को उसने सदाके लिए भुला दिया है। प्रतिक्रमण का नाम लेना भी उसने छोड़ दिया है। ग्राम २ के लोगों को वह भ्रमा रहा है। सं० १५३० में उसने भेष धारण कर लिया और दया दया की पुकार करने लगा है। प्रतिमा की निन्दा करता है। फिरोज खाँ बादशाह ने भी उसको सम्मान दिया है। वह देहरा और पोषधशाला का निषेध करता है। अरे, यह कैसा युग आया है कि जिनमत को दुख काल द्वारा इस प्रकार पीड़ित किया जा रहा है। लोंकाशाह को ऐसे संयोग प्राप्त होते जा रहे हैं कि (उसके संयम के प्रभाव से) वह सभी लोगों का केन्द्र स्थल और श्रद्धास्पद बन गया है। पौषधशालाओं में तो आजकल कोई नहीं फटकता।"

इन मुनिजी ने पद्यांश के नीचे जो गद्य लिखा है, उसमें भी इसी बातको दुहराया है। यहां दो बातें विशेष रूप से दी हैं— मूल आगम के सिवाय दूसरे ग्रंथों का आगम बाह्य कहकर प्रमाणित नहीं मानता और जिनप्रतिमा की पूजा आगम बाह्य कहता है।

संवत् १६०५ के बाद श्री पार्श्वचंद्रजी के शिय ब्रह्ममुनि हुए हैं। उन्होंने लोंकाशाह के विषय में बताया है—

"संवत् १५०५ के आसपास एक क्रियोद्धारक वैराग्यवंत महर्षि हुआ। जिसके विषय में लोग कहते हैं कि उसने गुरु लोप दिया था।"

संवत् पंदर पंचाशीए, क्रियातमणी मति आगि हिए।
क्षमा ऋषीसर किरियावंत, वैरागी देखीता संत।
गुरु लोपी-सहु कहे, तो को छाड़ि अलगा रहे।
सहु नु माथा शिरू पोषाल, ते छांड़ि कॉं पडया जंजाल।
वलि प्रतिष्ठा प्रतिमा जागण, नविमाने आदेश प्रमाण।

(सं० १६०२—लेखक—पार्श्वचन्द्र शिष्य ब्रह्ममुनि)

इसी पद्यांश का यह अर्थ होता है:—"किन्तु मैं पूछता हूं कि वह गुरु को लोप कर अलग कहां गया था ? अर्थात् उनका यह कहना सत्य के विपरीत है। वह सच्चे गुरु की उपासना करता था और मिथ्यात्व का विरोध करता था क्योंकि उस महर्षि का ऐसा विश्वास था कि पोषधशाला अपनी आत्मा ही है इसे त्याग कर भौतिक पोषधशालाओं के जंजाल में क्योंकर

पढ़ना चाहिए। प्रतिमा की प्रतिष्ठा भगवान् के आदेश के अनुसार नहीं है। यदि तुम्हें पूजा करनी ही है तो भावपूजा करो और अपनी आत्मा का उद्धार करो।"

इन सब प्रमाणों से लोंकाशाह का अतुल प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि उस समय उनके विरोधियों ने ही उनके विषय में ये विरोधात्मक चौपाइयां लिखी हैं, परन्तु उन्हींके शब्दों से स्पष्ट ध्वनित हो रहा है कि समाज में लोंकाशाह की कीर्ति विद्युत गति से फैलती जा रही थीः—

"डगमग पडिउ सघलउ लोक, पोसालइ आवइ पणि फोक।"

ये शब्द विरोधी कवि के हैं, जो लोंकाशाह पर झुंझला उठा है और कह रहा है कि सभी लोंकाशाह की वाणी से डांवाडोल हो उठे हैं, पौषधशाला में तो कोई भी नहीं आता।

लोंकाशाह की वाणी का प्रभाव सौराष्ट्र के अधिपति पर इतना अधिक पड़ा था कि उसने आनन्दविमल सूरि तकको यह कह दिया था कि पहले लोंका-मतानुयायी से शास्त्रार्थ करो यदि जीतोगे तो ठहरने का स्थान मिलेगा। राजा प्रजा पर लोंकाशाह का क्या प्रभाव था कि यह विवरण इसका संकेत है,—तपागच्छ पट्टावली (पट्टावली समुच्चय पृ० ७०)

इन शब्दों से लोंकाशाह का बढ़ता हुआ प्रभाव, फैलती हुई लोकप्रियता, विस्तृत होती हुई यशश्चन्द्रिका और गुंजित होती धर्मध्वनि का स्पष्ट आभास मिलता है।

इतना ही नहीं, उनके प्रभाव को तत्कालीन कवियों ने भी

स्वीकार किया है। लोंकाशाह की मृत्यु के उपरान्त आजतक उनकी कीर्ति तथा धार्मिक शोध-वृत्ति की सभी निष्पक्ष ऐतिहासिक एक स्वर से स्तुति करते हैं। विदेशी इतिहासज्ञोंने तो उन्हें भारत का मार्टिन लूथर कहकर अपना नाम बढ़ाया है।

विदेश की एक प्रसिद्ध लेखिका लोंकाशाह के विषय में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में लिखती है:—

About A.D. 1452 the Lonka sect arose was followed by the Sthanakwasi sect. Dates of which coincide strickingby with the Lutheren puritant in ornament in Europe.

(Heart of Jainism)

"क्रिस्ति धर्म में अर्थहीन परम्पराओं और मानसिक दासत्व से भरी परम्पराओं और कुरीढ़ियों को उखाड़ने का जो प्रयत्न योरप में मार्टिन लूथर ने किया है, आश्चर्य है कि वैसा ही प्रबल प्रयत्न भारतवर्ष में, जैनधर्म में लोंकाशाह ने किया। जिसे हम लोंकागच्छ अथवा स्थानकवासी—सम्प्रदाय के नाम से पुकारते हैं।

यह ठीक है कि योरप और योरप के इतिहास में जितना नाम मार्टिन लूथर का है, उतना भारत के इतिहास में लोंकाशाह का नहीं है। किन्तु नामके प्रसिद्ध न होने पर भी व्यक्ति की अपराजेय अप्रतिहत शक्ति अमहत्त्वपूर्ण नहीं बन जाती। और वैसे तो भारतवर्ष अनेक धर्मों और सम्प्रदायों से परिव्याप्त है। यहां प्रत्येक महापुरुष सम्प्रदायों के घेरों में ही वादी

बना रहता है। फिर चाहे व्यक्ति का व्यक्तित्व कितना ही चौमुखी और सर्वोपयोगी क्यों न हो? एक धर्मावलम्बी अन्य धर्म के महापुरुष को अपने हृदय में स्थान देने से कतराता रहता है।

भारतवर्ष में राष्ट्रीयता को छोड़कर अन्य किसी विषय पर भारतवासी सर्वसम्मत नहीं होता है। यही कारण है कि भारत-वर्ष की अनेक जातियां साम्प्रदायिक घेरों में ही रहकर शान्त हो जाती हैं। संसार उनका उपयोग ले नहीं सकता। फिर भी लोंकाशाह का प्रभाव सभी जातियों और सभी सम्प्रदायों पर पड़ा। इसका मूल कारण था लोंकाशाह की असाम्प्रदायिकता। संकुचित स्वार्थपरता, सम्प्रदायवाद और वैचारिक जड़ता के श्री लोंकाशाह कट्टर विरोधी थे। वे कोई सम्प्रदाय नहीं बनाना चाहते थे। उन्हें न तो अपनी ख्याति की इच्छा थी, न अपने मतकी स्थापना की।

इस आशयको एक योरपीय विद्वान्ने इसप्रकार लिखा है:—

"धर्मप्राण लोंकाशाह श्वेताम्बर समाज में कोई नया मत स्थापित करना नहीं चाहते थे, अपितु, वे एक सुधारक थे, जो पुरानी, सड़ी, गली रूढ़ियों के विरुद्ध डाक्टर बनकर आपरेशन करने आये थे।"

They arose not directly from the Shwetaber but as the reformer of the other reforming Sect.

History of Jain Community.

दिगम्बर तारण स्वामी, आपके समकालीन थे, तरणतारण श्रावकाचार में लिखते हैं कि उस समय अहमदाबादमें श्वेताम्बर जैनियों के अन्दर लोंकाशाह हुए, उन्होंने वि० सं० १५०८ में अपने नए पंथ की स्थापना की, जो मूर्ति की पूजा नहीं करते हैं।

यदि वीर लोंकाशाह का प्रभाव साम्प्रदायिक सीमाओं से घिरा होता तो वे कोई अलग विधान करते, किन्तु उन्होंने न तो विधान-पोथी तैयार की और न कोई पत्र-पत्रिका ही प्रकाशित की, जो उनकी परम्परा की उद्घोषणा से सम्बन्धित होती है। उन्होंने किसी प्रकार की साम्प्रदायिक प्रणाली स्वीकार न की। बस यही हो गया कि उनके साथियों ने मिलकर अपने सम्प्रदाय का नाम लोंकागच्छ रख दिया। यह नाम भी नए सम्प्रदाय चलाने के लिए नहीं था, अपितु मित्रों की कृतज्ञता का ज्ञापन-मात्र था। निष्काम शासन की यही सेवा उन्हें इतना शीघ्र व्यापक तथा श्रेष्ठतम सुधारक बना गई कि उन्होंने अपनी स्वल्प सी आयु में समाज के लाखों लोगों को सुधार का सत्पथ दिखला दिया। आज नहीं तो कल समूचा समाज उनकी आत्मा का अन्तर्नाद सुनेगा और गौरव के साथ उस ज्योतिर्धर का नाम लेगा। इसलिए नहीं कि वह वैभव सम्पन्न श्रीमंत था। इसलिए नहीं कि वह बहुत बड़ा सुधारक था अथवा राज्यभोक्ता आमात्य था अथवा जौहरी, लेखक या प्रभाववान् व्यक्ति था, बल्कि वह एक सत्यशोधक और निष्पक्ष धार्मिक था। वह धर्म को प्रेम का प्रसाद और आत्मा को अमर सुधा मानता

था। वह आत्माको परमात्मा मानता था। मिथ्यात्व को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु मानता था। उसने अर्हन्त भगवान् की मूल शिक्षाओं पर पूर्ण विश्वास किया था। वह अन्त तक सत्य-शोधक रहा और आखिर में सत्य की पूजा-अर्चना के लिए शहीद हो गया।

श्री लोंकाशाह का बलिदान, सत्यखोजियों के लिए प्रेरणा का स्त्रोत रहेगा और धर्म के प्रति उनकी उत्कट भक्ति, धार्मिकों में नवजीवन फूंकती रहेगी। वह अमर था, है और अमर रहेगा।

लोंकाशाह की क्रांति के आधार

लोंकाशाह को आडम्बर से घृणा थी। जड़ उपासना, जड़ क्रिया और जड़ का धर्म चैतन्य के लिए कभी निश्रेयस्कर नहीं हो सकता—ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था। पानी का धर्म ठंडा होना है, तो अग्नि उसे धारण नहीं कर सकती और नहीं पानी में इतनी शक्ति है कि वह अपना स्वभाव किसीको अर्पण कर दे, माना कि वह प्यास बुझाता है परन्तु प्यास तो उसे पीने से ही बुझ सकती है। उसके आगे दो घंटे नमस्कार करनेसे प्यास नहीं बुझ सकती है। लोंकाशाह किसीके सिद्धान्त, मान्यता, परम्परा अथवा विश्वास के विधानों के विरोधी नहीं थे और नहीं किसी मत, सम्प्रदाय, धर्म अथवा मजहब के अनुरागी। वे तो सदैव तटस्थ रहकर सत्य का शोधन करते। प्रत्येक

मान्यता तथा विचारधारा को अनेकान्तात्मक आगमों के प्रमाणों के आधार पर निर्णीत करते। प्रत्येक परम्परा को भगवान् महावीर की अन्तर्वाणी से मिलाकर देखते। यह उनकी सुरुचिपूर्ण शैली थी। लोग उनकी इस सत्यखोजी वृत्ति को अपनी जनपदीय भाषा में ढूंढक वृत्ति कहते और लोंकाशाह को "ढूंढिया लोंकाशाह" के नामसे पुकारते। यह उनका गुण-निष्पन्न विशेषण था।

उनका विश्वास था कि धर्म का प्रतिबिम्ब धार्मिकों से आंका जाता है। धार्मिकों को जब २ धर्म की जगह दम्भ मिलने लग जाय तो धर्म का बाह्य स्वरूप विकृत हो जाता है और संसार इतना अन्तर्मुखी है नहीं, कि वह अन्तरंग स्वरूप साक्षात्कार करने का प्रयत्न करे। इसीलिए आवश्यक होता है कि हर युग में धर्म के प्रभाव से पाखण्ड और दम्भ के बादलों को पलायन करने के लिए मजबूर किया जाय। धर्म अमृत है, किन्तु जब उसे दम्भ ग्रस लेता है तो वह लाभ की अपेक्षा हानि का कारण बन जाता है।

लोंकाशाह का मन "दशवैकालिक सूत्र" की पहली ही गाथा से उत्क्रान्त हो गया था। किन्तु, मुख्यतया उनके सामने तीन बड़ी समस्याएं थीं, जिन्होंने उन्हें क्रांति करने के लिए विवश किया।

धार्मिक क्रांति और उसके तीन मुख्य आधार

विश्व में धर्म, सम्प्रदाय, जाति, परिवार अर्थ, विचार और

व्यक्ति की विविध वृत्तियों के विषय में जब क्रान्तियों में परिवर्तन आते हैं तो उनके मूल में कुछ अवश्य कारण होता है।

श्री लोंकाशाह ने जो धार्मिक क्रान्ति की, उसके मूल में भी तीन कारण विद्यमान रहे हैं।

१. श्रमण-वर्ग का शैथिल्य
२. चैत्यवाद का विकार
३. धर्म-रूढ़िग्रस्त रूप

इनके अतिरिक्त उस काल में कुछ और भी बातें हो सकती हैं। परन्तु वे गौण ही कही जायेंगी। जैसे—जैनधर्म का जैन जाति के रूप में परिवर्तित होना, समाज की सत्ता का विकेन्द्रित होना और परम्परागत सत्ताधारियों का बोलबाला—आदि कितनी ही बातें ऐसी हैं जो क्रान्ति के कारणों में सहज ही सम्मिलित हो जाती हैं। फिर भी उपरोक्त तीन कारण ही प्रधान कहे जायेंगे।

श्रमण-वर्ग की शिथिलता—

भद्रबाहु स्वामी के स्वर्गवास के उपरान्त जैन-संघ में वस्त्र के नाम से स्थूलिभद्र और भद्रबाहु के साधुओं में बड़ी लम्बी चर्चा हुई थी, इस चर्चा का ही प्रतिफल है कि आज हमें श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदाय नजर आते हैं।

जिनकल्प और स्थविर कल्प के नाम से अनगार धर्म में दो भेद हो गये। स्थविर कल्प समाज की उपयोगिता और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की अपेक्षा से आचार्यों ने निर्माण

किया था। किन्तु साधु तो स्थविरकल्प की आड़ में आपत् धर्म का एक नया मार्ग निर्माण करने लगे। यहांतक कि सिद्धसेन दिवाकर के समय तक ऐसी स्थिति आ पहुंची कि भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थ साधु पालकियों में बैठने लगे और राज्यके आन्तरिक बखेड़ों में भी हस्तक्षेप करने लगे।

जिनवल्लभ सूरि ने अपने संघ पट्टक में उस समय के चैत्य-वासी मुनि-वर्ग का नंगा चित्र खींचा है। चित्तौड़ के महावीर मन्दिर के गर्भ-गृह के दोनों किनारों पर ये ४४ श्लोक लिखवाये हुए हैं।

उक्त श्लोकों में से कुछ श्लोक यहां उद्धृत किये जाते हैं:—

चेला मूंडने का लोभ:—

"निर्वाहार्थिन मुज्झितं गुणलवैरज्ञानशीलान्वयं,
तादृग्वंशतद्गुणे न गुरुणा स्वार्थाय मुण्डीकृतम् ॥"

अर्थात्—जाति, वंश, गुण, ज्ञान और किसी भी प्रकार की परीक्षा लिए बिना ही चैत्यवासी धड़ाधड़ चेले मूंडते फिरते हैं।

जिन-प्रतिमा के नाम पर चलाये हुए पाप पंक के विषय में संघपट्टककार लिखता है:—

"आकृष्टं मुग्धमीनान् बडिशपिशितवद्बिम्बमादर्श्य जैनं,
तन्नाम्ना रम्यरूपानपवरकमठान स्वेष्टसिद्ध्यै विधाप्य।
यात्रास्नात्राद्युपायैर्नमसितकनिशाजागराद्यैश्छलैश्च,
श्रद्धालुर्नामजैनैश्छलित इव शठैर्वञ्च्यते हा जनोऽयम्।"

अर्थात्—ये चैत्यवासी श्रद्धा में फंसे हुए जैनों को तीर्थयात्रा,

प्रतिमा-स्नान आदि के नाम ले लेकर इस प्रकार छल से फंसाते हैं जैसे मच्छीमार कांटे में आटा लगाकर मच्छियों को फंसाता है।

आगे चलकर यही ग्रंथकार लिखता है:—

"देवार्थव्ययतो यथारुचिकृते सर्वत्तुरम्ये मठे।
नित्यस्थाः शुचिपट्टतूलिशयनाः सद्गब्दिद् काद्यासनाः॥
सारंभाः सपरिग्रहाः सविषयाः सेर्ष्याः साकांक्षाःसदा।
साधु व्याजविटा अहो सितपटाः कष्टं चरंति व्रतम्॥"

अर्थात्—ये चैत्यवासी साधु-वर्ग श्वेत वस्त्र पहन कर, देव-द्रव्य के नाम से अर्थ संग्रह करके अपनी इच्छानुकूल अपने मठ वनवाते हैं और उनमें सर्वदा आराम से रहते हैं। ये साधु आरामी, सपरिग्रही, लोलुप, ईर्ष्यालु और लोभी हैं और सुख-लंपट भी हैं। फिर कवि लिखता है:—

"सर्वैरुत्कटकालकूटपटलैः सर्वैरपुण्योच्चयैः।
सर्वव्यालकुलैः समस्तविधुराधिव्याधिदुष्टग्रहैः॥
नूनं क्रूरमकारि मानसममुं दुर्मार्गमासेदुषां।
दौरात्म्येन निजघ्नुषां जिनपथं वाचैषसेत्यूचुषां॥"

कवि के मन में चैत्यवासियों की शिथिलता के प्रति कितनी वेदना, घृणा और जुगुप्सा उत्पन्न हो गई है कि वह कहता है:—

जिन मार्ग को भ्रष्ट करने वाले इन चैत्यवासियों का क्रूर मानस का निर्माण सम्भवतः संसार के समस्त विषधरों के गरल से अथवा कालकूट विष से अथवा संसारभर के तमाम दुष्टों

की एकत्रित दुष्टता से किया गया है, क्योंकि इनके कृत्य पाप-कारी हैं और वेष जिन भगवान् का है।

दूसरे मुनिवरों पर चैत्यवासी किस प्रकार के आरोप लगाते हैं उस दुष्टवृत्ति का चित्रण करते हुए ग्रंथकार लिखता है:—

सिद्धान्त ध्वनितस्थुषः शमजुषः सत्पूक्तयां, जग्मुषः।
तत्साधून् विदुषः खला कृत दुषः क्षाम्यंति नोद्यतद्रुषः॥

अर्थात्—"ये दुष्ट, खलसाधु सत्यधर्मरत, पूजनीय मुनियों पर आरोप लगाकर उन्हें अपमानित करते हैं।"

जिनवल्लभ सुरि ने उस स्थिति का बहुत ही विस्तृत और हृदयद्रावक वर्णन किया है, जब संयम ढोंग बन गया था और शिथिलता का सर्वत्र साम्राज्य था।

इसीलिए लोंकाशाह की आवश्यकता पड़ी और क्रांति का बिगुल बजा।

उपरोक्त उद्धरणोंके पूर्व हम यह बता चुके हैं कि किस प्रकार निर्ग्रन्थ साधु पालकियों में बैठते थे और राज्य शासन में भी हस्तक्षेप करने लगे थे। अब हम इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि साधु संघ के स्थायित्व पर श्रावक संघ का नियन्त्रण किस प्रकार उपयोगी रहा:—

यदि श्रावक संघ का नियन्त्रण नहीं रहता तो सम्भव था कि साधु संघ इतना स्थायी नहीं रहता। किन्तु राज्याश्रय ऐसी वस्तु है, जिसके प्राप्त होते ही कोई मनुष्य समाज की परवाह

नहीं करता। ऐसा कौन है जिसे प्रभुता पाने पर राज्य मद नहीं चढ़ा हो और ऐसा कौन है, जिसे राज्यमद चढ़ने पर प्रजा छोटी और क्षुद्र नजर न आई हो। विरले ही त्यागी विरागी शासक, संत, नेता इन अवगुणों से अलिप्त रहे हैं।

तो, श्री हरिभद्र सूरिने और जिनदत्त सूरिने श्रमण-वर्ग का नंगा चित्र खींचा है। उनका संबोधप्रकरण क्रांति के अंगारों से और सत्य की स्याही से लिखा गया है। उसमें उन्होंने बताया है कि:—

भगवान् महावीर के साधु आज सूर्य के उदय होते ही उदर-पोषण करने लगते हैं। स्वादिष्ट मिष्टान्नों का बार २ भक्षण करते हैं। शय्या, जोड़ा, वाहन, शस्त्र और तांबा वगैरह धातु के पात्र अपने पास रखते हैं। इत्र-फुलेल लगाते हैं। तेल-मर्दन करते हैं। ग्राम, कुल तथा शिष्यों पर अपना अधिकार बताते हैं। प्रवचनों के स्थान पर आज निन्दा करते हैं। भिक्षा स्वयं न लाकर अपने उपाश्रय में ही मंगाकर खाते हैं। छोटी २ उम्र के बच्चों को क्रय करके दीक्षित करते हैं। यन्त्र, डोरा, तावीज आदि का आडम्बर रचते हैं। अपने आपको अभिमान में मस्त हुए 'अहमिंद्र' मानते हैं। पैसा, धन तथा परिग्रह पर गृद्ध-दृष्टि रखते हैं।

यह दुर्दशा तो श्री हरिभद्रजी के जमाने में थी और लोंकाशाह के युग में श्रमण-वर्ग की कितनी पतित अवस्था हो गई होगी, इसका तो अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

शिथिलता और उग्रता दोनों बहनें हैं। किन्तु उनका राज्य क्रमशः एक दूसरेके बाद आता है। एक वह युग था कि भगवान् महावीर के संक्रमण काल में संयम और तप की उग्रता बढ़ती जा रही थी। प्रसन्नचंद्र राजर्षि जैसे महात्मा मुनि बनकर अपनी एकान्त साधना करते थे और वे नदी किनारे पर अपना ध्यान लगाते। दूसरा लोंकाशाह के सामने का भी जमाना आया कि वही अपरिग्रही साधु मंदिर-प्रतिमा के पीछे लगकर पैसे आदि का सीधा व्यवहार करने लगे।

वीर लोंकाशाह अहमदाबाद में थे और उन्होंने लखमशी भाई को ही उपदेश द्वारा अपना शिष्य बनाया था। उसी समय चार संघों ने मिलकर तीर्थयात्रा करने की सोची। उसका नेतृत्व यतिवर्ग कर रहा था। वर्षा के कारण उन्हें अहमदाबाद रुकना पड़ा। किन्तु यतियों को वर्षा की और सूक्ष्म जीव-हिंसाकी भी कुछ परवाह नहीं थी, वे तो सब संघोंको तीर्थयात्रा के लिए आगे बढ़ने को प्रेरित करते ही रहे। लोगों के समझाने पर भी न समझे। वे तीर्थयात्रा के लिए सूक्ष्म हिंसा को लक्ष्य बतलाते रहे, जिसका परिणाम यह निकला कि सभी संघ यतियों की ओरसे उपेक्षित हो गए और लोंकाशाह के शिष्य हो गए।

ऐसी ऐतिहासिक घटनासे भी तत्कालीन यतिवर्ग की मनो-वृत्ति का परिचय मिलता है—

शास्त्र-भण्डारों पर आधिपत्य, मंदिर-उपाश्रयों और पोषध-

शालाओं पर स्वामित्व, प्रतिमा-पूजन से प्राप्य सामग्री पर एकाधिपत्य और मंत्रों-तंत्रों का स्वार्थमय व्यवहार आदि ने मिलकर उस समय के साधु-वर्ग को बड़ी दूर पथ-भ्रष्ट कर दिया था।

यतिवर्ग का यह पाखंड और आडम्बर अधिक काल तक टिक नहीं सकता था। लेकिन जब श्रावकों को शास्त्र पढ़ने का अधिकार न था तो ऐसी अवस्था में श्रावक-समाज साधु-वर्ग की कसौटी कैसे करता? लौंकाशाह के हाथ में शास्त्र आए कि वह एकदम उन आडम्बरों और संयम विषयक शिथिलताओं के विरोध में खड़े हो गये।

श्रावकगण का शैथिल्य सम्भवतया किसी न किसी प्रकार क्षम्य माना जा सकता है, लेकिन साधुगण का शैथिल्य किसी प्रकार भी, कदापि, क्षम्य एवं सहन नहीं किया जा सकता। क्योंकि साधु को देखकर ही समाज अपने में नवचेतन का और धर्म-जागरण का संदेश प्राप्त करता है। और वही ढीला हो तो, समाज पर क्या छाप पड़ेगी और संयमी की आत्मा में तेज कैसे जागृत होगा?

श्रमण-वर्ग की यही शिथिलता—पहला कारण कही जाएगी, जिसने लौंकाशाह को क्रान्ति की ओर अग्रसर किया।

२ चैत्यवाद का विकार

दूसरा कारण चैत्यवाद का विकार समाज के शरीर में

विष बनकर व्याप्त होने जा रहा था। यदि समय पर लोंका-शाह उसकी शल्यक्रिया (आपरेशन) न कर देते तो, वह न जाने क्या २ करता और जाति तथा देश को न जाने कौन से गहरे गर्त में ले जाकर गिराता।

धर्म का रूढ़िग्रस्त रूप—

जैनधर्म स्वभाव को "धर्म" मानता है और विभाव को अधर्म। आत्मा के स्वभाव की परिणति में जो क्रियाएं सहायक होती हैं, उन्हें जैनधर्म धार्मिक क्रिया स्वीकार करता है। जैसे आत्मा का स्वभाव सम और संतुलित है और उसका स्वरूप ज्ञान, दर्शन-मय है। बस, इनकी प्राप्ति में जो अनुष्ठान सहायक हैं जैसे—सामयिक, व्रत, प्रत्याख्यान, ध्यान, चिंतन, मनन, कायोत्सर्ग आदि यम नियममय प्रवृत्ति वह सब विवेकपूर्ण रूपसे हों तो धर्ममय हैं। यदि इन्हें भी अविवेकपूर्ण रूप से किया जाए तो ये भी केवल द्रव्य-प्रवृत्तियां बनकर रह जायंगी और इनसे आत्मा को कोई विशेष लाभ नहीं पहुंचेगा।

प्रायः यह होता है कि मनुष्य स्थूल और बाह्य बातों के विषय में सावधान रहता है, किन्तु आभ्यंतर और सूक्ष्म तथ्यों को वह यदा-कदा भूल जाता है। बस, उसका क्षणमात्र का अविवेक और प्रमाद उसे संयम के विवेकमय मार्ग से पथ-भ्रष्ट बना देता है।

लोंकाशाह इतनी विचक्षण बुद्धि के धनी थे कि उन्हें शास्त्र-

सम्मत और साधु-वर्ग द्वारा आचारित कर्म अथवा रूप को पहचानने में कुछ भी देर लगीः—

यतिवर्य भानुचंद्रजी (१५७८) द्वारा विरचित "दयाधर्म-चौपाई" का निम्नांश देखिए। इसमें हमें लौंकाशाह के दया-धर्म का सारांश नजर आ जाता हैः—

लखमशी ते तिहां छइ काय भारी, सा लुंका नो भयो सहचारी।
अपारा राजी मां उपदेश करो, दयाधर्म छइ सहुथी खरो।
दयाधर्मी थयो बहु लोग, एहवि मल्यो भाणानो संयोग।
धरउऊं लुंका नवि दीक्षा लहि, पिण माणो पोते वेष गुहि।
दयाधर्म जहहलती जोत, सा लुंके किधुउ उद्योत।
जयणाइ धर्म ने समताइ धर्म, ते टालेइ किम बांधीउ कर्म।
जे निंदे ते संचइ पाप, समता विण सहु धर्म प्रलाप।

लखमशी और भाणजी के संयोग से लौंकाशाह ने दया-धर्म का प्रचार किया था। वे धर्म को विवेक और समतामय मानते थे। दया को धर्म का मूल समझते थे और यही उनके धर्म का मूल स्वरूप था।

जब लौंकाशाह धर्म के मूल स्वरूप के इतने निकट थे तो भला उन्हें आगमों द्वारा प्रतिपादित धर्म और श्रमण-वर्ग के मुख से सुने हुए निर्ग्रन्थ धर्म का अन्तर क्यों न परिलक्षित हो जाता ?

श्री लौंकाशाह का श्रमण-वर्ग की पोप लीलाओं और उनके

आडम्बरपूर्ण प्रसाधनों में छिपे अनासक्त धर्म की आत्मा का अवलोकन करने में कुछ भी देर नहीं लगी।

श्री लोंकाशाह सहज ही समझ गए कि उन्हें और उनके जैसे सहस्रों निरीहमना प्रजाजनों को चैत्यवाद का बढ़ता हुआ अंधतमस धर्म के अंतरंग रूप से विमुख कर रहा है और वीतराग भगवान् की शृंगार सुसज्जित प्रतिमाओं की ओट ही, इन प्रतिमाओं की यह पथरीली दीवार ही—आडम्बर की माया द्वारा भक्त को भगवान से विलग कर रही है।

लोंकाशाह ने देखा कि आज साधुजन संयम और साधना के सत्पथ से हटकर प्रतिमा पूजन के सरल कार्य की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। इसका प्रधान कारण उनकी मनोवृत्ति में व्याप्त भौतिकता और धर्म को बाह्य स्वरूप की ओर उनका झुकाव है। यदि धर्म इतनी सस्ती चीज है कि कुछ फूल चढ़ा दिए, केसर लगा दी, स्नान किया, स्तुति का अपभ्रंश-अशुद्ध उच्चारण किया, आरती उतारी, शंखनाद किया और घंटियों के शब्दों से मंदिर को गुंजित किया कि बस धर्म हो गया। श्रीमन्त-सम्पन्न व्यक्ति, जिन्होंने बड़े २ मंदिर बनवाने का श्रेय लिया, बहुत जल्दी मोक्ष चले जाते। यदि संयम का मार्ग इतना सरल है कि प्रतिमा के आगे वन्दन किया, तीर्थों की यात्रा की और श्रुत-पूजा के आधार पर धन संग्रह किया, वास क्षेप के नाम से लोगों के सिरों पर कुछ सुगंधि-द्रव्य विक्षेप किया, तो फिर निर्ग्रन्थ धर्म जैसी मौलिकता उसमें न रहेगी।

धर्म के चिह्न—चिह्न हैं, "धर्म" नहीं। (धर्म के उपकरण रजोहरण, मुखपत्ति, दण्ड आदि—सभी उपकरणमात्र हैं धर्म नहीं हैं)। इनको ही धर्म मानना अज्ञानता है। धर्म तो आत्मा की भूख है—और है आत्मा का स्वभाव। उसीमें रमण करना, विषमता का नाश करना, असंगता की उपासना करना अहिंसा और अनेकांत द्वारा आत्मा-परमात्मा के लक्ष्य तक पहुंचना ही धर्म का मार्ग हो सकता है। उपकरणों, चिह्नों, परम्पराओं, रूढ़ियों, मंदिरों तथा प्रतिमाओं से ढंका हुआ धर्म नहीं होता है वह तो अंधविश्वास होता है। मौलिक धर्म नहीं।

लोंकाशाह के मनोमंथन में यही संघर्ष था कि वह धर्म की आत्मा को रूढ़िग्रस्त रूप में देख रहा था। धर्म पर परम्पराओं और उपकरणों का शासन था। अपरिग्रही धर्म वस्तु के नीचे आकर दब गया था। लोंकाशाह की आत्मा धर्म के इस विकृत रूप को सहन न कर सकी। उसके मनमें रह २ कर क्रांति की आग सुलगती थी।

जब रोम रोम और अन्तरतम में अज्ञान के पाखंड के, कुछ आडम्बर के विरुद्ध विद्रोह उठाने की भावना बलवती हो चली तो लोंकाशाह ने देखा कि जनता के सामने सच्ची स्थिति और सच्चे धर्म का स्वरूप रखना ही होगा, चाहे कोई हजार बार विरोध करे और लाख बार अपमान, ताड़ना, तिरस्कार और अपशब्दों की बौछार करे? सांच को आंच नहीं। बस, इसी अन्तर्विश्वास के बल पर वह आडम्बरों और कुरीतियों के

विरुद्ध, अहिंसा और अनेकान्त का आयुध लेकर रणांगण में कूद पड़े।

जिस प्रकार अमावस्या के अंधकार से आच्छादित सागर तल पर कालिमा और तमस का घनघोर घटा-टोप छाया रहता है, उसी प्रकार की अवस्था-आडम्बर और अज्ञान की कारा में बन्दी समाज की थी। और जब सावन की कालिमा को चीर कर तड़ित का त्वरित प्रहार उस महासागर के हृदय पटल को आलोकित कर देता है, उसी प्रकार लोंकाशाह का प्रवेश समाज के लिए नवनवीन दामिनी (क्रांति) की द्युतिमाला का परिचायक बना।

लोंकाशाह का सिंहनाद सुनकर दिशा-दिशा से शिष्य-समूह दौड़े आए, सहस्रों उनकी अहिंसक सेना के सिपाही बने। सहस्रों ने अपना तन, मन, धन, जीवन-अर्पण कर गौरव माना। हजारों धर्म के लिए आत्म-बलिदानी बने और लाखों लोग लोभ-मोह का जीवन छोड़कर क्रांति के कथाकार बने।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब समाज में क्रांति आती है, तो यों आती है और जब विद्रोह का ज्वार उठता है तो रोके नहीं रुकता, वह तो सुधार और परिवर्तन के दोनों छोर छूकर ही मानता है। वह तट की सूखी भूमि को परिवर्तन के वारि से आप्लावित करके ही दम लेता है। क्रांति का नाम ज्वार है, जब चढ़ा है तो चढ़कर ही उतरेगा। जब उठा है तो उठकर ही थमेगा। उसका उतार भी, उसके चढ़ावसे कम और गौरवशाली

नहीं होता। क्रांतिकी दोनों ओर सत्य, शिव है। उसमें कल्याण ही कल्याण है।

कल्याण का यह बिगुल बजाकर लोंकाशाह अमर शहीद और "क्रांतिकारी कहलाए। समाज के अनेक-अनेक नेताओं, स्वामियों और सुधारकोंमें कुछ ही महाभाग्यशाली ऐसे होते हैं, जिन्हें क्रांतिकारी कहलाने का सौभाग्य मिलता है। जिनके चरण-चिह्नों पर चलना—परिवर्तन आता है और जिनके पीछे समाज बदलते हैं, सत्ताएं बदलती हैं और युग अपना चेहरा बदला हुआ पाते हैं, परम्पराएं अपनी पुरातन लीक छोड़कर नवीन पथ पर अग्रसर होती हैं। कितने हैं ऐसे चांद और कितने हैं ऐसे सूरज? सूरज दो नहीं, चांद भी एक ही है।

ज्येष्ठ मास के प्रतप्त तरणि के तुल्य तेजवंत लोंकाशाह बढ़ता चला गया।

उसने अपना विश्वास अर्हन्त पर केंद्रित किया। मूल आगमों को अपने धर्मशास्त्रों के रूप में स्वीकार किया था और पांच महाव्रतधारी गुणों के धारक संयमी साधु को अपना गुरु माना था।

भारतवर्ष ने मुक्ति की प्राप्ति में सहायकत्व की मात्रा को उपयोगिता का आधार स्वीकार किया है। जो तथ्य, सिद्धान्त, मान्यता विचार, ज्ञान-विज्ञान, परम्परा—और विश्वास मुक्ति की प्राप्ति में सहायक हैं, वे ही ग्राह्य हैं, उपयोगी हैं।

लोंकाशाह की मुक्ति को ही अपना अभीष्ट, प्राप्य तथा

लक्ष्य स्वीकार करते थे और सम्यग् ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रको मोक्ष का एकमात्र मंगलमय मार्ग मानते थे। इसीके लिए वे आजन्म साधना करते रहे और इसी मार्ग को जनताके सामने निर्भयतापूर्वक रखते रहे।

उनकी क्रांति के मूल स्तम्भ उनके ये विचार थे कि मुक्ति की प्राप्ति में सम्प्रदाय के बन्धन की कोई आवश्यकता नहीं, अपितु सत्यशोधनवृत्ति और सत्प्रवृत्ति की ही आवश्यकता है। सम्प्रदायवाद-संकुचितता स्वार्थपरता का सूचक है और संकुचित स्वार्थपरायणता कभी मोक्षमार्गी नहीं कही जा सकती। वह तो मोक्ष के मार्ग में बाधक ही है। साधन नहीं।

अहिंसा और अनेकान्त की कसौटी पर खरे उतरने वाले सिद्धान्त ही हमारे सिद्धान्त हैं और अर्हन्त भगवान् द्वारा प्रतिपादित मूल आगम ही हमारे सच्चे पथ-प्रदर्शक हैं।

इसके सिवाय उन्होंने मुक्ति के लिए किसी दूसरी मान्यता के आगे सिर नहीं झुकाया और न ही किसी अन्धविश्वास से वे डरे।

लोंकाशाह की क्रांति–

मित्रों का सहयोग

धर्मक्रांति अथवा राज्यक्रांति एक व्यक्ति द्वारा नहीं होती। उसे सफल बनाने के लिए वफादार, विश्वस्त तथा दृढ़ संयमी साथियों की आवश्यकता रहती है। अहोभाग्य से लोंकाशाह

को भी लखमशी भाई-जैसे सम्पन्न, दृढ़ श्रद्धालु तथा कर्मठ साथियों का सहयोग प्राप्त हो गया था। लोंकाशाह के उपदेशों के प्रचार और प्रसार का श्रेय उनसे भी अधिक, लखमशी को है, जिसने समस्त संघों, यतियों और साधुओं को समता-पूर्वक लोंकाशाह का हार्द समझाने का सतत प्रयत्न किया। लखमशी का विश्वास अडोल था, वह भगवान् का सच्चा अनुयायी, महावीर का सपूत, लोंकाशाह का सच्चा अनुगामी प्रचारक व धर्मक्रांति के ध्वज का ध्रुवदंडधारी क्रांति-पुत्र था।

शाह भाणजी

लोंकाशाह की क्रांति का साकार स्वरूप भाणजी ऋषि में उत्स्फूर्त हुआ। धर्म सागर रचित "लुम्पक मतोत्पत्ति" नामका ग्रन्थ सं० १६२६ में लिखा हुआ था। श्री अगरचंद नाहटा से प्राप्त हुआ। उसमें लोंकामत्त की उत्पत्ति बताते हुए भाणजी को प्रथम वेषधारी साधु लिखा है।

और सहायक के रूप में लखमशी का उल्लेख किया है। लिखा है,—"वे राजमन्त्री थे।"

"तस्याऽपि आस्तामथ किञ्चित् करस्य लुम्पक लेखकस्य एकः सिद्धान्तेषु हठी मन्त्री राजामात्योनाम्ना लखमशी सम्मिलितः।"

धर्मसागर कृत प्रवचन परीक्षा विकास ७ वां, सं० १६२६।

शाह जगमलजी, शाह लूणजी, मोतीचंदजी भानुचंदजी आदि ४५ श्रीमंत और १४३ दीक्षार्थी श्रावकों का सहयोग

लोंकाशाह की क्रांति को सफल बनाने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। लोंकाशाह के ४०० शिष्य थे, जो समाज सागर में क्रांति की लहरें उत्पन्न कर रहे थे।

लोंकाशाह पर आक्षेप

संसार काजल की वह कोठरी है जिसमें भले कोई भी सयाना आए-जाए थोड़ा-बहुत दाग कहीं न कहीं लग ही जाता है।

यहांकी रीति ही ऐसी है कि नेताओं और सुधारकों तकको लांछन सहने पड़ते हैं।

और इस संसार में आक्षेपों से रहित तो भगवान् भी नहीं रहा तो बेचारे लोंकाशाह की बात ही क्या थी? वह तो समाज-सुधारक थे, और एक प्रबल क्रांतिकारी उनमें आन्दोलन, संगठन और स्पष्टवादितापूर्ण विरोध की अपूर्व शक्ति थी। उन पर आक्षेपों की वर्षा न होती तो संसार विस्मय से विमूढ़ बन जाता।

परम्परा के पोषकों और स्थितिस्थापकों ने भी जी भर, लोंकाशाह पर लांछन लगाए, आक्रमण किया और अन्त में विष देकर उनके पार्थिव शरीर की समाप्ति कर दी (एक किंवदंती के अनुसार)। परन्तु उनके हत्यारे नहीं जानते थे कि यह विचित्र वीर लोंकाशाह विष पीने पर तो अमर हो जाएगा।

विषदान से बड़ा आक्रमण और क्या हो सकता था?

किन्तु अन्त तक लोंकाशाह अपनी आत्मशांति और आत्म-समता में ही रमण करते रहे। फिर भी, उनपर लगाए गए आक्षेपों की गणना करनी होगी।

यद्यपि सामान्य और अमहत्वपूर्ण आक्षेप लिखे भी नहीं जा सकते और न ही हमारे पास उनका कोई सुसम्बद्ध इतिहास ही है। मुख्य रूपसे उनपर १० आरोप लगाए गए, जिन्हें हम इस प्रकार कह सकते हैं:—

१. लोंकाशाह चैत्यवाद का विरोध करते थे।
२. उन्होंने गुरु रूप में किसीको स्वीकार नहीं किया।
३. वे मूल आगमों को ही प्रामाणिक मानते थे।
४. टीका तथा इतर ग्रंथों के प्रमाण नहीं मानते थे।
५. दान की अपेक्षा दया को सर्वोपरि धर्म मानते थे।
६. परम्परागत यतियों की परम्परा को उन्होंने भंग किया।
७. वीतराग की आज्ञा से मूर्ति पूजा को मानते नहीं थे।
८. श्रमणवर्ग की शिथिलता के कट्टर विरोधी थे।
९. वे क्रियोद्धार एवं सबल चारित्र्य की कठोर साधना में ही संयम मानते थे।
१०. उन्होंने पारस्परिक पथ को अस्वीकार कर एक नया पथ चलाया।

इन दसों आक्षेपों को हम लोंकाशाह के गुण मानते हैं और गुरु की बात उस समय नहीं उठ सकती जब साधु समाज शिथिलाचार की गोद में खुर्राटें भर रहा था। किसी शिथिला-

चारी को गुरु बना लेना शिथिलाचार का पोषण करना है। और किसी भी मनमाने ग्रंथ को धर्मशास्त्र के रूप में स्वीकार करना स्वेच्छाचारिता है, धार्मिकता नहीं। शास्त्र विमुख मार्ग को अंगीकार करना धर्म से विमुख होना है।

लखमशी शाह की मान्यता

लखमशी विद्वान् और कवि थे। उन्होंने एक कुलक लिखा है। उसीका एक पद्यः—

योगी ध्यानी बैठा भगवन्त, आठकर्मानो कीधो अन्त,
वीर वचन जो मानइ सार ते लहइ भव सागर पार।

सम्यक्त्व कुलक भी लखमशी ने निर्माण किया है उदाहरण के रूप में—

वीतराग दल वाडेजीव, अज्ञान अचेतन काहिए जीव,
अजीवने कारणे जीव हणै वीतराग वली मूर्ख भणे।

लखमशी के लिखित शास्त्रों के दो टब्बे भी बताये जाते हैं। लखमशी की आगम विषयक मान्यता के विषयमें अगरचन्दजी नाहठा के पाससे हमें एक पुराना पत्रक मिला है, जो इस प्रकार हैः—

लखमशी, नूना, सोभा, डूंगर, भाणा, आशा, काजा, की ४५ आगमों की मान्यता थी। ८४ हजार श्लोक प्रमाण। हवड़ा खिलजीपुर अल्हणपुरी सं० १५४० सम्वत्सरी श्री संघ मुख्य शाह श्री पाल संघपति हेमा, सं० सुरजन, सौ लाखा, भट्ट, द्विज।

दिगम्बर सभा साखी वेषधारी नूलई ए ४५ आगम ८४ सहस्र माहीं प्रासाद प्रतिमा पूजा ना अक्षर दिखाडइ तो सही करी मानइ, सहीः—

नूना मतु, सही, दिवी देवदत्त मतऊ राणपुर काजा मतऊ, खम्मातइ पाचां मतऊ।

इस मत पत्रक से निम्न बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

१. लखमशी शाह ने ४५ आगम ८४ हजार श्लोक प्रमाण आगमों को मान्य किया। २. मूर्तिपूजा के विषय में यदि कहीं भी आगम में धर्म विधान रूप से उल्लेख हो तो स्वीकृति का प्रस्ताव।

इन दोनों बातों से लखमशी के सुलझे हुए मस्तिष्क की प्रतीति होती है।

लखमशी के मान्य ४५ आगम—

१. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. पिण्डनिर्युक्ति, ४. उत्तराध्ययन, ५. नन्दीसूत्र, ६. अनुयोगद्वार, ७ चउसरण पइन्ना, ८. आउर पचकखाग, ६. महापचपचकखाग, १०. भत-पइन्या, ११. तन्दुल वे आलियां, १२. वेणि विज्ञा पइन्या, १३. देविन्द दत्थ पइन्या, १४. चन्दा बिजभलय पइन्या, १५. संथारा पइन्या, १६. मीणविसमत्ति, १७. आचारांग, १८. सूयगडांग, १६. समवायांग, २०. ठाणांग, २१. भगवती, २२. ज्ञाताधर्मकथा, २३. उपासक दशा, २४. अन्तगडदशा, २५. अणुत्तरोववाइ, २६. प्रश्नव्याकरण, २७. विपाक सूत्र, २८. उववाइ, २६. रायपसेणी,

३०. जीवाभिगम, ३१. पन्नवणा, ३२. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ३३ चन्द्र प्रज्ञप्ति, ३४. सूर्यपन्नति, ३५. निरयावलिया, ३६. पुष्पिका, ३७. कापावतंसक, ३८. पुफावंतसकं, ३९. दृष्टिवादि पूर्वगत, ४०. कल्पछेदसूत्र, ४१. निशीथसूत्र, ४२. दशाश्रुत स्कंध, ४३. जीतकल्प, ४४. महानिशीथ, ४५. पन्यकल्प सूत्र।

इस पत्र का सं० १५४० में लिखा गया था। मूल प्रति श्री अगरचन्दजी नाहटा के पास है।

लोंकाशाह की परम्परा

लोंकाशाह की विरासत को विस्तृत रूप से वितरण करनेमें लखमशी का महानतम सहयोग है। इसके अतिरिक्त चारों संघों के संघपति ४५ श्रेष्ठियों का सहयोग भी प्रशंसनीय है। लक्ष्मी के इन वरद पुत्रों ने धर्म के क्षेत्र में जो हार्दिक विशालता दिखलाई वह सर्वथा सराहनीय है। लोंकाशाह की क्रान्ति में लखमशी के उपरान्त रूपचन्द शाह का नम्बर आता है। वह महान मेधावी, तार्किक और धार्मिक वृतिमय व्यक्ति था। वह प्रखर त्यागी और अटल संयमी था।

लोंकाशाह की जगाई हुई संयम-क्रान्ति की ज्योति १०० वर्षों तक पवित्र दीपशिखा की तरह जलती रही, किन्तु समयके फेर ने और प्रमाद के प्रवाह ने अन्ततः उसे भी आ घेरा।

तपागच्छ पट्टावली में ५२ वें पट्टधर रत्नशेखर सूरि का वर्णन करते हुए लिखा है कि:—

"तत्र प्रथमो वेषधारी भाणाख्योऽमूदिति", अर्थात्—

"लोंकाशाह का प्रथम शिष्य अथवा मतानुयायी भाणा नामका व्यक्ति हुआ।"

किन्तु संघ के आचार्यों की अपेक्षा से केशवजी का नाम ही प्रथम रखा गया है।

केशवजी, रतनजी, जगमलजी, रायपालजी, घन्नजी, मोहनजी, गोरधनजी, सोनजी।

यह है लोंकागच्छाधिपतियों की परम्परा।

सोनजी तक लोंकाशाह की प्रखर दिव्य पद्धति अनवरत चलती है। किन्तु सोनजी के शिष्य बजलाजी हुए कि इस गच्छ में भी शिथिलाचार प्रविष्ट हो गया और इस प्रकार क्रान्ति की ज्वाज्वल्यमान ज्योति एकदम मन्द, निष्प्रभ पड़ गई।

बजलाजी अपने को अप्रमत्त अवस्था में न रख सके। उनका मन यतियों की ओर आकर्षित हो गया। उन्हें वह प्रवृत्ति मार्ग में खींचकर ले गया। वे अपने को सुरक्षित न रख सके। यहीं पर, लोंकाशाह की जगाई हुई उग्र क्रान्ति और प्रचण्ड आन्दोलन मन्द पड़ जाते हैं और दूसरे किसी सबल सहायक की मांग करते हैं।

लोंकाशाहके समकालीन, विश्वके इतर क्रांतिकारी

लोंकाशाह युग में मूर्त्तिवाद के विरुद्ध लगभग समूचे विश्व में खलबली मची हुई थी।

१००० वर्ष तक चैत्यवाद ने संसार पर अपना शासन

अमावा था, किन्तु जड़ोपासना के खिलाफ एक ऐसी लहर पैदा हुई कि क्या पूर्व और क्या पश्चिम सभी स्थानों में, सभी दिशाओं में मूर्त्तिपूजा का विरोध होने लगा।

पश्चिमी विश्व में उस काल में हमें सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता मार्टिन लूथर का नाम सुनाई देता है। एक दिन था जब कि योरप की दसों दिशाएं अन्धविश्वास के अन्धकारसे आक्रान्त थीं। ऐसे समय में, योरपके घर-घर में मार्टिन लूथर का नाम बिजली बनकर चमक उठा और सुधार और परिवर्तन की प्रचण्ड लहरों ने योरप के समाज-सागर को उद्वेलित कर दिया।

मार्टिन लूथर ने रोमन कैथोलिक ईसाइयों की कुरीतियों और प्रतिमा पूजन के विरुद्ध एक प्रचण्ड आन्दोलन चलाया था। फलस्वरूप "प्रोटेस्टेंट" नामका सम्प्रदाय स्थापित किया गया। उनका नारा था कि मूर्त्तिपूजा करना मानसिक दासता है। इस जड़-गुलामी को उतार कर फेंक दो।

दूसरा नाम आता है श्री वल्लभाचार्य का। इन्होंने मूर्तिपूजा को वर्जित तो नहीं ठहराया परन्तु भगवान् के मुखसे कहलाया मूर्तिपूजा की अपेक्षा मानसिक पूजा ही उत्तम है।

तीसरा नाम आता है स्वामी नारायण का। इन्होंने वल्लभाचार्य की तरह ही मानसिक पूजा को अग्रिम स्थान दिया।

राजाराम मोहनराय और स्वामी दयानन्द सरस्वती तो मूर्तिपूजा के विरोधियों में अग्रणी गिने ही जाते हैं।

पूर्व और पश्चिम में ही मूर्तिपूजा का विरोध नहीं हुआ, मध्य एशिया के अरब देश में जन्मे मुहम्मद पैगम्बर ने तो मूर्ति-पूजा को एकान्ततः निषिद्ध ठहरा दिया।

जब हम ऐतिहासिक एवं समाज-सुधार की दृष्टिसे विश्व के तत्कालीन घटनाचक्र का सिंहावलोकन करते हैं तो हमारे समक्ष इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि संसार की प्रगतिगामी शक्तियां १५ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दीके मध्यकाल में स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण कर रही थी।

विदित होता है कि उस काल में मानव संसार जड़ से आत्मा की ओर, आलम्बन से निरालम्ब की ओर, साकार से निराकार की ओर, और वस्तु से अवस्तु की ओर असीम प्रगति कर रहा है। यह उसका आभ्यन्तर मोड़ था, जिसका परिणाम जैनधर्म पर भी पड़ा और लौंकाशाह के नामसे स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म की क्रान्ति ने प्रचार पाया।

विश्व का यह क्रम रहा है कि वह कभी सूक्ष्म से स्थूल की ओर और कभी स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करता ही है। परि-वर्तन की इसी पवित्र परम्परा का नाम वैचारिक क्रान्ति है।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर आना प्रगति है। प्रगति जीवन का प्रतीक है। इसके विपरीत विगति मृत्यु का मानदण्ड है। जिस प्रकार के जीवन में शान्ति और समयानुसार क्रान्ति की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार उसके जीवन में प्रगति का अपना महत्त्व है। यहां एक बात और कह देना असंगत न

होगा कि मनुष्य अपनी गतिमात्रको भी कभी कभी प्रगति समझ लेने की भी भूल करता रहता है। वास्तव में, गति अच्छी चीज है, परन्तु कोरी गति तो जिस प्रकार निर्माण की ओर होती है, उसी प्रकार नाश की ओर भी हो सकती है। इसलिए गति से उन्नतर स्थिति और स्तर का शब्द है प्रगति—जो मनुष्य के जीवन में सुख, शान्ति और समता का आविर्भाव कराती है।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, स्थूल-पूजा मनुष्य की मानसिक गुलामी का चिह्न है, और मानसिक गुलामी शारीरिक गुलामी की अपेक्षा हेय और क्षुद्र है।

लोंकाशाह दर्शन

लोंकाशाह का सिंहावलोकन हम तत्कालीन इतिहास के स्फुट पत्र-भण्डार के प्राचीन पृष्ठों और मित्रों की सूचनाओं के आधार पर कर चुके हैं, किन्तु लोंकाशाह की आत्मा लोंकाशाह के हार्द को समझे बिना सन्तुष्टि नहीं हो सकती, इसलिए हमें उसका जीवन-दर्शन और अन्तर्दर्शन आत्मसात् करना ही चाहिए। लोंकाशाह के समस्त जीवन-वृत्त से हमें एक ही मध्य-बिन्दु प्राप्त होता है कि लोंकाशाह निर्ग्रन्थ साधक को प्रकाश-स्तम्भ मानते थे। उनका विश्वास था कि जैन-साधु समाज़ विश्व को अपने प्रकाश द्वारा मार्ग दर्शन देता है। परन्तु मार्ग की धूल साफ करने का काम अथवा राह की मिट्टी खोदने का काम उसका नहीं है।

यद्यपि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मिट्टी खोदना या धूल साफ करना बुरा काम है और प्रकाश देना उत्तम कार्य है। वास्तव में दोनों ही काम अपने अपने स्थान पर समाजोपयोगी और आवश्यक हैं, किन्तु किसी आत्मसाधक का कर्त्तव्य समाज और संसार के प्रत्येक प्राणी के हित की सुरक्षा करना है, जिसे वह अपने अखण्ड संयम और मुक्ति की अनवरत साधना के द्वारा सहज ही सम्पादित कर सकता है और इस प्रकार आत्मार्थ और परमार्थ दोनों की साधना कर सकता है।

जो अपने समाज की मर्यादा में रहकर अपनी जीवन-सिद्धि करता है वह मनुष्य है, जो समाज की मर्यादा को खंडित कर अपने स्वार्थ का पोषण समाज के शोषण द्वारा करता है, वह दानव है। और जो निरन्तर समाज-हित की चिन्ता और साधना करता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अपने सर्वस्व को समर्पित कर देता है वह है साधु, संत और तापस, इसके अतिरिक्त, जो मानव-समाज से परे रह कर, शान्ति और साधना का समन्वय स्थापित करता है वह देवता है।

निर्ग्रन्थ साधक बूढ़े समाज की लाठी अथवा बालक समाज की उंगली पकड़ कर चलाने का काम नहीं करता है। किन्तु उसकी साधना ही इस प्रकार उर्जस्वित और आलोकित हो उठती है कि नेत्रों वाले उसके प्रकाश की सहायता से अपना मार्ग आप चुन सकते हैं। क्योंकि साधक का विश्वास होता है कल्याण की ओर परिणति आत्मा के साहसिक प्रवृत्ति है।

इसमें हम दबाव देकर अथवा बलात् सहायक नहीं हो सकते हैं। दूसरों का भला करने का अर्थ है—समभाव से आलोक प्रदान कर देना, जिससे अभिभावक सत्यासत्य का स्वाधीनता-पूर्वक निर्णय कर सके।

आत्म-साधक समाज की भलाई की नाम से अपने ऊपर एहसान का बोझ न ला दे और दम्भ का आश्रय न ले। धर्मोद्धार और धर्म-रक्षा की भावना को छोड़ दे एवं धर्मपालन करने की ओर प्रवृत्त हो। यह खोखला एवं कोरा अभिमान है कि तुमने धर्म को बचा दिया। धर्म त्रिकाल-शाश्वत है—धर्म तुम्हारे आश्रित रहकर जीवित नहीं है वरन् तुम धर्म के आश्रित रहकर जीवित हो। इसलिए, समाज-रक्षा के बहाने धर्म का दम्भ मत बढ़ाओ। धर्म आत्म-साधना और आत्म-साक्षात्कार की ओर प्रेरित करता है, किन्तु जब उसमें सम्प्रदाय और प्रचार का अतिरेक आ जाता है तो स्वाभाविक आडम्बर घुस आता है। यह ठीक है कि जैनाचार्यों की परम्परा में भी ऐसे दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने विधायक कर्मों की योजना की, बड़े२ साम्राज्यों की नींव डालने में सक्रिय सहयोग किया। राज्य व्यवस्था में अपनी दक्षता का परिचय दिया (स्वर्णसिद्धि प्राप्त करके पालिताणा जैसे नगरों का निर्माण किया) और चमत्कारों के बल से राजाओं और प्रजाओं को आकर्षित किया। किन्तु वह सब परिस्थिति की पराधीनता थी। निर्ग्रन्थ धर्म की एकान्त साधना से इसका महत्त्व नहीं आंका जा सकता।

निर्ग्रन्थ साधु इतने ऊंचे धरातल पर आसीन हुआ है कि वह समाज, सम्प्रदाय, मंदिर, मठ, स्कूल आदि समाज-सुधार की बातों में सक्रिय सहायक बनकर नीचे नहीं उतर सकता। उसे तो केवल समाज की समस्याओं को सुलझाने में अपनी समतामय सहिष्णुता, अनेकान्तात्मक दिव्यदृष्टि और त्यागमय असंगता ही प्रदान कर सकता है। उपदेश और आचरणपूर्वक अपने ही कथन का प्रत्यक्ष पालन-कार्य समाज की शिक्षा में बड़ा सहायक सिद्ध होता है। निर्ग्रन्थ साधु यही करता है। आचरण की शुद्धि और महत्त्व उसके जीवन में बड़ी अहमियत रखते हैं। संयमी संत विधि और निषेध दोनों ही मार्गों में विचरण कर सकता है, किन्तु निर्ग्रन्थ-धर्म की मर्यादामें रहकर ही।

व्यक्ति का विकास उसके आत्मदर्शन, शान्त मनन, निष्पक्ष दृष्टि, विवेकमय उपयोग और निःश्रेयस्कर मुक्तिकी साधना में ही अन्तर्हित है।

मानव, धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझे, संयमी जीवन यापन करे। सतत अनासक्त भाव से अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करता हुआ मोक्षकी साधना में तत्पर रहे—इसीमें आत्मा का कल्याण है।

अहिंसा, संयम तथा तप-रूप धर्म की साधना आत्मभाव से करना, सब जीवोंके प्रति दयालु बनना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य के मार्ग का पथिक बनना और मिथ्यात्व से सदा दूर रहना...

बस यही लोंकाशाह का आत्म-दर्शन तथा यही उनका जीवन-दर्शन था।

इसी नाते वे सबके होकर भी किसीके नहीं थे। किसीके बन्दी नहीं थे। वे स्वातन्त्र्य वीर आत्ममुक्ति के पथिकों के अमर सेनानी थे।

लोंकाशाह की विरासत

महापुरुष किसी एक सम्प्रदाय अथवा समाज के नहीं होते। उनके विचार और सुधार-कार्य समूची जातिके लिए उत्थानकारी होते हैं। उनका अपना शरीर भी उनका नहीं होता। उनकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक कर्म, आत्मकल्याण के लिए होते हैं। व्यष्टि समष्टि को अपने आपमें आबाद कर लेती है। उसकी जीत सारे समाज की जीत बन जाती है और उसकी हार से सारी जाति की हार बन जाती है। इसीलिए उन्हें महा-पुरुष कहा जाता है।

महापुरुष अपने युग की सबसे बड़ी देन है। युग की परि-स्थितियां महापुरुषों को आमन्त्रण देती हैं और जब जब ऐसे महापुरुष इस अवनितल पर आते हैं तब तब उन्हें संसार के विविध दुष्कर्मों और उनके कर्ताओं की चुनौती स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु इतिहास साक्षी है कि अन्ततः दुष्कृत दानवता का विनाश होता है और मानवता अपने परित्राता-नेता की छत्रछाया में सुख की सांस लेती है।

लोंकाशाह महापुरुष थे। उनकी साधना महान् थी। हमें इनका जो पारम्परिक वारसा मिलता है उसीसे उनकी महानता आंकी जा सकती है। यह वारसा तीन प्रकार का होता है:—

(क) विचार के रूप में।

(ख) सम्पत्ति के रूप में।

(ग) सत्ता अथवा नेतृत्व के रूप में।

आजतक संसार में अवतरित प्रत्येक महापुरुष इन तीनों वारसों में से कोई एक आने वाली पीढ़ी के लिए छोड़कर जाता है। कदाचित् तीनों भी भावी संतान को प्राप्त हो जाया करते हैं और उसके मंगल-मार्ग की रचना करते हैं।

लोंकाशाह का वारसा वैचारिक है। उन्होंने सम्पत्ति और सत्ता के विरुद्ध युद्ध किया था। क्योंकि आज तक संसार में संपदा और सत्ताधारियों को सुरा और सुन्दरी की दासता नष्ट करती आई है। रूप और उसका उन्माद राज्यों के विनाश के अनेक कारणोंमें से एक कारण बना है। दूसरी ओर धार्मिकों को सत्ता और सम्पत्ति अपने पदसे भ्रष्ट करती रही है।

लोंकाशाह धार्मिक थे, अतः उन्होंने धर्म के नाम से सत्ता और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण का विरोध किया और अपने प्रबल पराक्रम द्वारा उन तमाम मानसिक दासताओं को जैनधर्म से उखाड़ कर फेंक दिया।

उन्होंने दिखला दिया कि धर्म, सत्ता, सम्पदा और पर-तन्त्रता के पाश में नहीं बंध सकता। लोंकाशाह के विचार स्पष्ट

थे, ये यति, साधु, मूर्ति, सम्प्रदाय, चैत्य और मन्दिर के विरुद्ध नहीं, अपितु इनकी दासता के विरुद्ध थे। इसीलिए उन्होंने कोई सम्प्रदाय, मत, मन्दिर और प्रतिमा आदि प्रतीक का आश्रय नहीं लिया। वे विशुद्ध गुण-पूजा का समर्थन करते रहे और आत्मा के विकास में जड़-पूजा को अग्राह्य मानते रहे।

संक्षेप में हम उनके वारसे को इस प्रकार अभिव्यक्ति दे सकते हैं:—

"धम्मस्सकारणे मूढ़ा जो जीवे परिहिंसइ।
दहिऊण चन्दन तसं करइ इंगालवाणिज्जं।"

—लोंकामत निराकरण चौपाई—दिगम्बर सुमति कीर्तिजी द्वारा सं० १६२७ रचित में से।

अर्थात्—"धर्म के लिए जो भ्रान्तमति जीवों की हिंसा करते हैं वे चन्दन को जलाकर कोयले बनाने का धंधा करते हैं।"

यह गाथा लोंकाशाह रचित कही जाती है। इस गाथा से उनके समस्त वैचारिक जगत् की झांकी स्पष्ट दीख रही है। माना कि बहिर्मुख से अन्तर्मुखी बनना धर्म की प्रथम सीढ़ी है, और उसके लिए किसी प्रकार के बाह्य अवलम्बन की आवश्यकता नहीं। बाह्यावलम्बन और अन्तरावलम्बन दोनों परस्पर विरोधी हैं। बाह्य का प्रश्रय लेकर कोई अन्तर्मुखी बनना चाहे तो उसके मार्ग की हम सराहना नहीं कर सकते। दीपक को जलाने के लिए जलते हुए दीपक की ही आवश्यकता है। बुझा हुआ दीपक दीपक नहीं जला सकता। अतः जब हम चैतन्य की

प्राप्ति करना चाहते हैं तो हमें चैतन्य का ही सहारा लेना पड़ेगा। सागर को पार करने के लिए जिस प्रकार हल्की नौका उपयुक्त होती है उसी प्रकार इस असार संसार रूपी महासागर को पार करने के लिए हमें अपने जीवनरूपी जलयान के भार को हल्का करना चाहिए। यह भार है माया-मोह, और कषाय का।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि किसी भौतिक पदार्थ में चैतन्य का आरोप करके चैतन्य की उपासना करने की कोई अनिवार्य आवश्यक नहीं है।

वारसा और स्थानकवासी सम्प्रदाय

लोंकाशाह के वारसा को संभालने वालों का एक विशाल दल तो लोंकाशाह के ही जमाने में उत्पन्न हो गया था। परन्तु यह प्रामाणिक रूप में नहीं कहा जा सकता कि उस युग में उसका नाम क्या था? क्योंकि, जिन कवियों ने लोंकाशाह का वर्णन किया है, उन्होंने उनके विचारों को मानने वाले दल का उल्लेख नहीं किया है और न ही उसके किसी विशेष नाम की ही ओर संकेत दिया है।

फिर भी लोंकाशाह के उपदेश से जिन पैंतालिस श्रेष्ठियों ने दीक्षा ली थी उन्होंने अपने धर्मोपदेशक के सम्मान में अपने गच्छ का नाम लोंकागच्छ रखा था, ऐसा लगता है कि वे सब यति मार्ग का संस्करण करके नये रूप में, किन्तु यति धर्म के ही

माध्यम से, अवस्थित रहे हों, क्योंकि उन्होंने भेष में, रहन-सहन में और अपने धार्मिक विचारों में तत्कालीन समाज से क्या और कितना अन्तर रखा था; इसका भी कोई उल्लेख हमें अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। सिवाय इसके कि वे दया-धर्म को सर्वोत्कृष्ट मानते थे और पौषधशाला आदि साधु के निमित्त बने उपाश्रयों का निषेध करते थे। श्री सन्त बाल (धर्म-प्राण लोंकाशाह) का कहना है कि लोग उनकी अत्यन्त ढूंढक-वृत्ति के कारण लोंकाशाह को ढूंढिया भी कहने लगे थे और उनके सम्प्रदाय को ढूंढिया-सम्प्रदाय कहने लग गए थे। किन्तु कुछ लोगों का यह कहना है कि ढूंढिया नाम ईर्ष्यावश विरोधियों का रखा हुआ है। कुछ भी हो, ढूंढिया नाम संस्कार सम्पन्न करके नामकरण नहीं किया गया है। इसे हम जनता के किन्हीं लोगों द्वारा थोपा हुआ नाम कह सकते हैं। स्थानकवासी शब्द के इतिहास का प्रामाणिक ज्ञान करना अभी भी कठिन प्रतीत होता है। क्योंकि जैन, श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, देहरावासी, चैत्यवासी आदि ऐसे प्रचलित और अज्ञात शब्द हैं, जिनका निश्चित जन्मवृत्त बताया नहीं जा सकता।

भद्रबाहु के साधुओं और स्थूलिभद्र के मुनियों में जो चर्चा हुई थी, वह सचेल और अचेल के नाम से हुई थी, किन्तु दिगम्बर और श्वेताम्बर शब्द कब पैदा हुए इसके प्रमाण स्वयं इन नामों के धारणकर्ताओं के पास भी नहीं है क्योंकि ये ऐसे नाम हैं जो तिथि, मुहूर्त, योग और चौघड़िया देखे बिना प्रचलित

हो जाया करते हैं, किन्तु कुछ समय के बाद ये नाम इतने प्रसिद्ध हो जाते हैं कि इन्हें अपनाने में कोई तिरस्कार नहीं करता।

लोंकागच्छ की अवान्तर शाखाएं

लोंकाशाह के १५३३ में मत प्रवर्तन से ३० वर्ष के अनन्तर ही लोंकागच्छ में बीजामती सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया था।

तपागच्छपट्टावली में लिखा है—"१५५७ वर्षे लुंकामत्मता-निर्गत्य बीजाख्य बेषधरेण बीजामती नामामतं प्रवर्तितम्।" लोंकाशाह के उपरान्त एक शतक में ही लोंकागच्छ के तीन विभाग हो गए। लोंकागच्छ के उपाश्रय-गद्दिएं और सामान्य मन्दिर बनने लगे। लोंकाशाह की क्रांति लोंकागच्छ के नाम से ही समाज और सम्पत्ति पर शासन करने लगी। परिवर्तन की इस धारा का वेग जब मंद पड़ गया तो फिर वही यति-मार्ग और फिर वही शिथिलता घर करने लग गई। अतः गच्छ की सम्पत्ति, मान्यता और उपाश्रय के नाम से फिर बंटवारा हुआ और तीन सम्प्रदाय बने।

१. *गुजराती लौंकागच्छ*—

जिसे हम बड़ौदा, गुजरात और सौराष्ट्र तथा कच्छ तक विस्तृत कह सकते हैं।

२. *नागोरी लौंकागच्छ*—

जिसके अन्तर्गत समूचा राजस्थान और देहली तक का प्रदेश आता है, और—

३. *उत्तरार्द्ध लौंकागच्छ—*

इसकी सीमारेखा पंजाब, पैप्सू, पश्चिमी पंजाब (जो अब पाकिस्तान में चला गया है) यू० पी० आदि प्रान्तों तक विस्तृत था। समूचे भारतमें फैले इस लौंकागच्छ की सम्पत्ति की गणना हम करने लगें तो बड़ी कठिनाई होगी, उसमें करोड़ों रुपयों की पूंजी थी और लाखों अनुयायी थे। हजारों एकड़ जमीन, सैकड़ों मंदिर, उपाश्रय, भवन तथा इतर स्थावर सम्पत्ति, प्राचीन भण्डार, पुस्तकालय, जिनमें ज्योतिविज्ञान, मंत्र, तंत्र, यंत्र, जादू-टोना आदि संबंधी ग्रंथ भी थे—उस सम्पत्ति में सम्मिलित हैं।

लौंकाशाह जो मूल आगमों के अनुसार संयम पालन करने की प्रेरणा देते थे और परिग्रह का निषेध करते थे, उन्हीं के नामसे देशमें कितनी सम्पत्ति और कितने उपाश्रय तथा मन्दिर और भवन पाये जाते हैं। ये सब क्रान्ति के बाद आने वाली प्रतिक्रिया का स्वरूपमात्र है।

लौंकागच्छ और यति-परम्परा

यति शब्द बहुत पवित्र और पूर्ण संयम का द्योतक है। कोष में यति शब्द का अर्थ ब्रह्मचारी किया है। निरुक्तकार यास्काचार्य ने "यम धातोर्निष्पन्नः, यमनात् नियन्त्रणात्" अथवा "यमात् धारणात्"—से यति शब्द की उत्पत्ति बताई है, जिसका अर्थ होता है—अपनी कामना शमन करके अथवा नियन्त्रण करने के कारण अथवा यम-महाव्रत पञ्चशीलों को धारण करने

के कारण ही महाव्रती यति कहा जाता है। किन्तु यहाँ हम यति शब्द की निर्युक्ति अथवा व्याख्या नहीं करने जा रहे हैं। अपितु यति सम्प्रदाय और यति परम्परा पर विचार करने चले हैं।

जहां पवित्रता होती है, वहीं सड़ांध पैदा होती है। यति शब्द चाहे जितना पवित्र और यति परम्परा चाहे जितनी शुद्ध रही है, किन्तु समय पाकर उसमें अधिक से अधिक विकार भी पैदा हो गए हैं।

महावीर-शासन और यति

भगवान् महावीर ने धर्म दो प्रकार का बताया है—

१. आगार धर्म और २. अनागार धर्म

अर्थात्—देशविरति और सर्वविरति गुणस्थान में भी इन्हें क्रमशः पांचवां और छठा रूप दिया गया है। साधु और श्रावक बस ये दो ही भगवान् के शासन के मुख्य आधार-स्तम्भ हैं। इनमें आजके यतियों का समावेश नहीं होता है। संयमी और संयमासंयमी के सिवाय तीसरा विभाग भगवान्ने बनाया ही नहीं, तो यति परम्परा का उद्भव किस प्रकार हुआ, और उसे कौन से शास्त्र का और किस परम्परा का बल प्राप्त हुआ। इसका कोई तथ्यपूर्ण इतिहास प्राप्त नहीं होता।

यतियों की प्राचीनता

शास्त्र का आधार उन्हें प्राप्त नहीं है, तो भी उनकी परम्परा प्राचीन है। सिद्धसेन दिवाकर से लेकर लोंकाशाह तक यति

परम्परा अवस्थित है। संभव है कि उनका यति नाम न पड़ा हो, किन्तु पालकी में बैठना, राजा से मंत्रणा करना, द्रव्य-व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करना, औषधि बनाना, डमरू बजाना, राजा के बाजों से स्वागत करवाना तो आचार्य सिद्धसेन के समय से प्रचलित है। और स्वयं सिद्धसेन भी इन सब बातों को अपने संयमकाल में प्रयुक्त कर चुके थे। एक बार तो राजा विक्रम ने सिद्धसेन के संरक्षण में एक करोड़ रुपया अर्पण भी कर दिया था।

आचार्य गुणसुन्दर ने जैनधर्म का सर्वाधिक प्रचार किया है। एशिया के राष्ट्रों में अपने साधु-यति प्रचारक तथा धर्मदूत भेजकर जैनधर्म के प्रचार का इन्हीं आचार्य को श्रेय दिया जा सकता है। यद्यपि आज वह परम्परा सर्वथा लुप्त है। वे स्वयं राजा सम्प्रति को अनुशासित करते थे और परोक्ष रूप से कहा जाय तो स्वयं ही शासन करते थे। आचार्य पादलिप्तसूरि के शिष्य ने तो रसायन-विद्या जानकर और उसके प्रयोग से स्वर्ण राशि प्राप्त कर पालिताणा नगर बसाया था। आचार्य हेमचन्द्र और उनका शिष्य मण्डल इन सभी प्रकार की राजसी तथा सम्पत्ति सम्बन्धी सुविधाओं का प्रयोग करते थे।

अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इस स्थविर-कल्प में सब प्रकार के मुनि होते थे। समाज-सुधारक, जिन-शासन प्रभावक और निर्ग्रन्थ आत्म-संयमी, एकाकी। किन्तु, इतने मात्रसे उनका सम्प्रदाय अलग नहीं गिना जा सकता है।

लोंकाशाह ने जब क्रान्ति का बिगुल बजाया और आगमानुसार संयम पालन का नारा उद्घोषित किया तो भी, यति शब्द से कुछ घृणा पैदा नहीं हुई। किन्तु, क्रिया की उत्कृष्टता और संयम की शिथिलता दोनों अवस्थाएं लोगों को अखरने लगीं, तब जाकर शिथिल संयमियों को यति के नामसे पुकारा गया और उन्हें साधु तथा श्रावक के मध्य का पद दिया गया।

यतियों का आचार-विचार

प्रतिज्ञा के नाते तो यतियों का जीवन साधुओं जैसा ही होता है, परन्तु व्यवहार से वे साधु निर्ग्रन्थ की तरह अपरिग्रही नहीं होते। चार महाव्रतों का अधिकता से और अपरिग्रह महाव्रत को शिथिलता से वे पालन करते हैं। उनका जीवन संतुलित, नियमित और व्यवस्थित होता है। भिक्षा द्वारा वे आहार प्राप्त करते हैं, किन्तु भिक्षाचरी के दोषों से उनका विशेष सम्बन्ध नहीं होता। वे अपनी इच्छानुसार बनवा सकते हैं और मंगवा कर खा सकते हैं। पानी के विषय में भी उनकी कोई प्रतिज्ञा शास्त्रविहित नहीं होती। वस्त्र, पात्र के विषय में भी वे सदा स्वच्छ होते हैं।

चार महाव्रत और पांच महाव्रत भी उनके ढीले होते हैं। कहा जाता है कि यति-वर्ग ब्रह्मचर्य के विषय में बहुत ऊंचा होता है, किन्तु आज उनकी यह विशेषता समाप्त हो रही है। सम्पत्ति और औषधि-विज्ञान इसे कैसे चलने दे सकता है? तो भी उन्हें साधु और श्रावक के बीच की कड़ी कहा जा सकता है।

यतियों की उपयोगिता

साधु पहले साधक हैं, फिर प्रचारक। साधु के द्वारा जो भी धर्म-प्रचार होता है, वह उसकी साधना का ही एक रूप है। साधना साधु का प्रधान लक्ष्य है, प्रचार नहीं। अतएव कहना चाहिए कि वह प्रथमतया आत्म-साधक है और फिर समाज-सुधारक।

प्रचारक और सुधारक का दायित्व यतिवर्ग पर है। यति-वर्ग संकटकाल के शिथिल साधुओं का नया संस्करण मात्र है।

सम्प्रति सम्राट् के समय में विदेशों में भेजे गए जैन-साधु, जिन्हें यति कहा गया हो, उसीकी परम्परा मात्र है। चाहे कुछ भी हो, सामाजिक दृष्टि से यतियों की उपयोगिता महत्त्वपूर्ण है। कोई भी समाज इस प्रकार की परम्पराएं बनाए बिना सुरक्षित नहीं रह सकता। वैदिकों के पास पहले ही ऋषियों और सन्यासियों का वर्ग था, जो समाज की आवश्यकताओं को पूरा कर देता था। मुसलमानों में मौलवी, मुल्ला, फकीर और पीर थे। ईसाइयों में पादरी, पारसियों में धर्म-ब्राह्मण और जैनियों में यति थे। ये सब लगभग एक ही सामाजिक आवश्यकता के पूरक हैं।

यतियों की परम्परा की ओर समाज में ब्रह्मचारी वर्ग की आवश्यकता सदैव है। यह एक सार्वकालिक आवश्यकता है, किसके पीछे समाज का नैतिक हित परिचालित है। किसी न किसी रूप में समाज को चाहिए कि वह यति परम्परामें सद्भाव

जाए। अन्यथा अन्यान्य साधु-परम्पराएं भी समाज-सुधार, राष्ट्रोत्थान और जैनधर्म प्रचार के नाते यतियों के स्तर पर आ जाएंगी।

जैनधर्म-प्रचार, जैनधर्म की ओर जनता में उत्पन्न किया गया आकर्षण, सद्भावना और श्रद्धा के विस्तार में यतिवर्ग की देन स्थायी और सुव्यवस्थित रही है।

साधुवर्ग ने क्रियोद्धार और आत्मोद्धार के नाते महान् उत्सर्ग किया है। किन्तु, जैन समाज को संपत्तिशाली, स्थायी और विस्तृत बनाने में यतियों का ही मुख्य हाथ रहा है।

एकाकी यति और एकाकी साधु नहीं चाहिए

समाज का कार्य उस अन्तहीन और अतलान्त महासागर के समान है, जिसमें किसीकी छोटी एकाकी नौका से काम नहीं चल सकता। इसी प्रकार अकेले यति वर्ग से समाज का कार्य नहीं चल सकता। क्योंकि वहां अपरिग्रह-वृत्ति का आदर्श सर्वथा ओझल हो जाता है और अकेले साधु से भी काम नहीं चलता। क्योंकि मध्यम स्थिति में रहने वाले समाज-सहायकों के लिए इनके कारण कोई स्थान नहीं रहता।

लोंकाशाह के जमाने में यदि यति परम्परा के अतिरिक्त क्रियोद्धारक तथा आगमानुरागी संयमियों का बाहुल्य-सद्भाव होता तो, लोंकाशाह की क्रान्ति उत्पन्न ही नहीं होती।

और यदि लोंकाशाह ने साधु और यति—ऐसी दो भिन्न

भिन्न परम्पराएं स्थापित की होतीं तो, एक शतक के बाद ही लोंकागच्छ में शिथिलता का प्रादुर्भाव नहीं होता।

सूरत के यति व्रजांगजी के युग में लोंकागच्छ की विधि-मर्यादा अत्यन्त विश्रृंखलित हो गई थी, जिससे दुबारा क्रियोद्धार के नाते पंच महापुरुषों का नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।

लोंकागच्छ में फिर क्रियोद्धार की गूंज

लोंकागच्छ के दसवें पाट पर व्रजांगजी अथवा वृजलाजी आए। सूरत में उनकी गद्दी थी, उनका चारित्र्यबल क्षीण हो गया था। उनमें शैथिल्य और परिग्रह घर कर गए थे। यह सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की बात है इनसे पहले नौ पाट-धर अपने संयम में लोंकाशाह के विधान के अनुसार, पूर्ण संयम का कठोर जीवन बिताते रहे, किन्तु व्रजांगजी का मन प्रवृत्ति मार्ग की ओर चलायमान हो गया। यही कारण था कि इन्हींके समय में विभिन्न स्थानों से पवित्रतम क्रियोद्धारक संत पैदा हुए।

क्रियोद्धारक पंच महापुरुष

सोलहवीं शताब्दी और सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पांच महापुरुष उठे, इन्होंने लोंकाशाह की अमर क्रान्ति को सुधार के साथ पुनर्जीवित किया। उनके शुभ नाम इस प्रकार हैं:—

१. पूज्य श्री जीवराजजी महाराज

२. पूज्य श्री लवजीऋषिजी महाराज
३. पूज्य श्री धर्मसिंहजी महाराज
४. पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज
५. पूज्य श्री हरजी ऋषिजी महाराज
(अभी इनका इतिहास अज्ञात है)

सर्वप्रथम कौन ?-

इन पांच पुरुषोंमें से सर्वप्रथम परम पूज्य श्री जीवराजजी महाराज हुए हैं। जीवराजजी महाराज का जन्म संवत् १५८१ हुआ था और लवजी ऋषि ने १६९२ अथवा १७०५ में यति दीक्षा त्याग कर नयी दीक्षा ली—ऐसा प्रमाण प्राप्त होता है। इन दोनों महापुरुषों में एक सौ वर्षों से भी अधिक का अन्तर पाया जाता है। (श्री संतबाल कृत "धर्मप्राण लोंकाशाह" नामक ग्रंथ में और प्र० मं० श्री आनंद ऋषिजी महाराज की सूचनानुसार लवजी ऋषिने १६९२ में यति दीक्षा ली और १६९४ में शुद्ध साधु-दीक्षा ली।)

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, लवजी ऋषि और जीवराजजी महाराज के मध्य जो अन्तर विद्यमान है, उससे यही प्रमाणित होता है कि जीवराजजी महाराज सर्वप्रथम क्रियोद्धारक हुए हैं।

संदेह का कारण

इन दोनों महापुरुषों में सौ वर्ष का अन्तर होने पर भी

इनके पौर्वापर्य के विषय में संदेह क्यों होता है ? इस समस्या का कारण शायद यह है कि दोनों सूरत नगर में पैदा हुए हैं। दूसरा कारण संभवतया साम्प्रदायिक है, परन्तु स्थानकवासी सम्प्रदाय के लिए ये पांचों महापुरुष परम पूज्य हैं। उनमें कोई भी पहले या पीछे हुआ हो, इससे उनके महत्त्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

उपरोक्त पांचों महापुरुष त्याग और वैराग्य की विभूति थे, संयम के विरल उदाहरण थे।

जीवराजजी महाराज

जन्म-स्थान–

जीवराजजी महाराज का जन्म सूरत में हुआ था। उनके पिता का नाम धर्मप्रेमी वीरजी भाई था और उनकी धर्म-परायणा पत्नी का नाम केसरबेन था।

जीवराजजी का जन्म वि० सं० १५०० में श्रावण शुक्ल १४ की मध्य-रात्रि में हुआ था।

जिस घर में इनका जन्म हुआ था वह सर्वथा सम्पन्न था किन्तु वहां कुलदीपक पुत्र की परमावश्यकता थी, अतएव बालक जीवराज का जन्म और बाल्यकाल बड़े लाड़-प्यार में बीता। शरीर उनका सुन्दर था, वाणी मधुर थी जन्मजात प्रतिभा के कारण सब इन्हें प्यार करते और इन्हें खिलाते।

ज्योंही बाल्यकाल में प्रौढ़ता आई, ये विद्यालय में प्रविष्ट हो गए। बुद्धि विलक्षण थी और स्मरण-शक्ति असाधारण, बस स्वल्पकाल में ही सम्पूर्ण शिक्षाओं के पारंगत पंडित हो गए।

शिक्षण के उपरांत, इनके श्रीमंत पिताने शीघ्र ही एक सुन्दरी कन्या से इनका विवाह कर दिया।

वैराग्य का उद्भव

विवाह और विलास, ललना और लावण्य, रूप और

रास, रंग और गंध सब मिलकर भी इनके आकर्षण का केन्द्र न बन सके।

जीवराजजी की विरागी-वृत्ति और जलकमलवत् निर्लेप व्यवहार ने इन्हें गृहस्थी में अधिक समय नहीं रहने दिया। विभत्स जुगुप्सा ने इनके हृदय में निर्वेद का संचार कर दिया। इनके मन में वैराग्य की हिलोरें उठने लगीं। यतियों के संपर्क से इन्हें बचपन से ही धार्मिक ज्ञान प्राप्त हो गया। बुद्धि की प्रौढ़ता ने इन्हें ज्ञान के साक्षात्कार के लिए लालायित कर दिया। ज्ञान की यह पिपासा भावुक परन्तु विमोही अन्तर में त्याग की ज्योति बन जल उठी। पंथ प्रकाशित हो गया। पत्नी और परि-जनों का प्रेमपाश इनके ज्ञानमार्ग की बाधा नहीं बन सका। अन्ततः साधु बनने के लिए इनके मानस की आकांक्षा प्रबल हो उठी और इस हेतु पूर्ति के लिए एक दिन माता-पिता से दीक्षा की आज्ञा मांग ली। माता-पिता ने बहुत समझाया, परन्तु इनके आग्रह के आगे उन्हें सिर झुकाना पड़ा और सं० १५७५ में आप पूज्य श्री जगाजी यति के पास दीक्षित हो गए। यह दीक्षा लोंकागच्छीय श्री तेजराजजी यति के पास हुई थी:—
६२ मूनाऋषि ६३ रूपजी ६४ जीवऋषिजी ६६ जीवराजजी सुखदाय, जीवराज तणा शिष्य धनजी धर्मधारी हिवे सम्वत् पनरा से छासठे नगर पीपाड़, तेजराजजीरा शिष्य छै थपा कर्णाधार सरधाने प्ररूपणा गुरु ने अभीधारी संयमी चंर्या विचर्या करणी दुक्करकारी अभी पाल, मदपाल, हरजी, ने जीव-

राजजी गिरधर कने हरोजी षट् साधु सरताज। जीवराज महा-ऋषि तस शिष्य धनजी स्वामी, लालचन्दजी दूजा ते पण हुआ जग में नामी। धनजी शिष्य रामजी तस शिष्य अमरेश लाल-चन्दजी तणा शिष्य बालचन्द्र कहिवाय शीतलजी तासशिष्य मेवाडे विचराये, धनजी शिष्य सोमोजी हरकिशन तस शिष्य कुरु देशे विचर्या संयम थाप जगीसा, (१२)।

आपका वैराग्य और साहस भाव अदम्य था। एक ओर विश्व का वैभव और माता-पिता की ममता, दूसरी ओर पत्नी का प्यार और मनुहार सब कुछ ठुकरा कर ये साधु बनने आए थे। किन्तु इन्हें मिला यति-धर्म। आगमों का सतत अध्ययन आरंभ हुआ। आगम प्रणीत साधुचर्या और यति-जीवन ये दोनों बातें इन्हें पृथक् पृथक् प्रतीत होने लगीं। इनके मन में था—भगवान् महावीर की आज्ञानुसार संयम पालन किया जाय क्योंकि इनका विश्वास था कि आप्त प्रतिपादित मार्ग से ही आत्मकल्याण संभव है। इसके विपरीत इन्हें ज्ञात हुआ कि यति-मार्ग में उस आगमिक अनुकरणता और अपरिग्रही जीवन की तेजस्विता दोनों का ही अभाव है। धीरे-धीरे इनके मन में विद्रोह का ज्वार जगने लगा और ये यति-मार्ग से असंतुष्ट रहने लगे। इनके मन में एक ही गूंज थी, एक ही प्रतिध्वनि पुष्पराग बनकर अपनी गंध उड़ा रही थी—"सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू।"

साधु-शास्त्र-विहित मार्ग का ही अनुसरण करे। कभी-कभी

आप अपना असंतोष गुरुदेव के समक्ष भी रख देते थे किन्तु यतिदेव तो यति परम्परा में पले थे, अब उनके जीवन में वह तेजस्विता नहीं थी, जो एक क्रांतिकारी में आवश्यक है। वे प्रेमपूर्वक समझाते—"शिष्य, आज के भयंकर युग में साधुचर्या का वह कठोर जीवन पालन नहीं किया जा सकता। शास्त्र-मार्ग अपने लिए आदर्श तो है, किन्तु व्यवहार्य नहीं है।"

जीवराजजी का अन्तर्द्वन्द्व इससे शान्त न होकर और भी अशान्त एवं उग्र हो जाता। वह गुरुदेव से आगमिक संयमी जीवन पालन का आग्रह करते और गुरुदेव कहते—"बच्चा, आजकल इसका पालन करना असंभव है।"

एक दिन जीवराजजी यति ने भगवती सूत्र के बीसवें शतक का वह पाठ आगे रख दिया, जिसमें लिखा हुआ है कि भगवान् का शासन इक्कीस हजार वर्ष तक अविश्रांत चलनेवाला है। गुरुदेव ने विवशता पूर्वक कह दिया कि मैं तो इसी मार्गका पालन करूंगा, तेरी इच्छा हो तो तू आगमानुसार जीवन व्यतीत कर।

पिछले सात वर्षों से गुरु और शिष्य के बीच जो वैचारिक द्वन्द्व था, वह आज मिट गया।

संवत् १५६६ में आपने पांच साधुओं के साथ शुद्ध पंच-महाव्रतों की आर्हती दीक्षा ग्रहण कर ली।

जैन परम्परामें सर्वप्रथम स्थानकवासी साधु परम्परा

स्थानकवासी समाज के साधुओं का आज जो वेष है, उस

वेष का प्रामाणिक रूपसे प्रचलन जीवराजजी महाराजसे हुआ, हुआ, क्योंकि भद्रबाहु के युगसे स्थविरकल्पमें आनेवाले साधुओं ने वस्त्र एवं पात्र विषयक बहुतसी सुविधाएं ग्रहण कर ली थीं। धीरे-धीरे अकाल की भीषणता ने दण्ड आदि भी ग्रहण करवा दिये।

श्वेताम्बर परम्परा में चौदह उपकरण लिए जाते हैं— १. पात्र, २. पात्रबंध, ३. पात्रस्थापन, ४. पात्रप्रमार्जनिका, ५. पटल, ६. रजस्त्राण, ७. गुच्छक, (रजोहरण) ८.-९. दो चादरें, १०. ऊनीवस्त्र, ११. रजोहरण, १२. मुखवस्त्र, १३. पात्रक, १४. चोलपट्टक। (और फिर लम्बा-आकर्ण पर्यंत दण्ड, स्थापनाचार्य, सिद्धचक्र आदि आदि) ये उपकरण कब बने और कैसे आए इनके लिए बस इतना ही कहा जा सकता है कि मुखवस्त्र, रजोहरण, चादर और चोलपट्टक आदि, वस्त्रोंके सिवाय परिस्थितिवश घुसते ही गए।

जीवराजजी महाराज ने इन समस्त उपकरणों की छंटनी की और इनमें वस्त्र, पात्र, मुखपत्ती, रजोहरण, रजस्त्राण, प्रमार्जिका के सिवाय सब उपकरणों का त्याग कर दिया अथवा इन्हें आवश्यकता पड़ने पर ऐच्छिक वस्तु का रूप दे दिया। फिर दण्ड, स्थापनाचार्य और सिद्धचक्र आदि को अनावश्यक बताकर, साधुजनों को अलोभ का मार्ग बताया। उपकरणोंके संबंध में यह सर्वप्रथम व्यवस्थिति की गई थी।

यति-परम्परा और साधु-परम्परा का यहां आकर पूर्णतया

पृथक्करण हो जाता है। प्राचीनकाल में साधु-परम्परा सुरक्षित रही है। शायद, किसी न किसी अंश में उस समय भी उसकी सत्ता थी, किन्तु यति-परम्परा की अस्मिता के सामने साधु-वर्ग का तनिक भी बोलबाला नहीं था और न ही उनकी कोई व्यवस्था थी।

जीवराजजी महाराज को यति-परम्परा से साधु-परम्परा के क्षेत्र में आने के पूर्व तीन मान्यताएं सुनिश्चित करनी पड़ीं।

तीन सुधार

१. बत्तीस आगम
२. मुखपत्ति
३. चैत्य-पूजा से सर्वथा विमुक्ति

जीवराजजी महाराज ने आगमों के विषय में लोंकाशाह की बात को स्वीकार किया किन्तु एक आवश्यक सूत्र को प्रामाणिकता देकर इकत्तीस आगम से बत्तीस कर दिये और मुखपत्ति का आवश्यक विधान बना लिया। चैत्य-पूजा को धर्म में अनावश्यक माना। मुखपत्ती का विषय इतना सरल नहीं है कि संक्षेप में ही इस विषय का खुलासा कर दिया जाए, तो भी हम संक्षेप में इस विषय पर विचार करेंगे, क्योंकि मुख-पत्ती और मूर्ति ये दोनों विषय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

जैनधर्म की समस्त शाखाओंमें से स्थानकवासी शाखा की ये अपनी दो विशेषताएं हैं कि स्थानकवासी सम्प्रदाय मुखपत्ती

को बांधना आवश्यक मानता है और मूर्तिपूजा को आगम-विरुद्ध।

मुखवस्त्रिका

जैन साधुओं का सर्वाधिक प्रचलित एवं परिचित चिह्न है—"मुखपत्ती" परन्तु दुर्भाग्यवश जैन मुनियों के जितने भी प्रतीक हैं, उनमें से किसी एक पर भी सर्वसमाज एकमत नहीं। जैन-जाति की इस मतैक्यहीनताने उसकी प्रगतिमें बाधा पहुंचाई है।

मुखपत्ती और रजोहरण ये दोनों बहुत बड़ी निशानियां हैं। साधु के मुख को मुखपत्ती और कक्ष में रजोहरण की स्थिति इन दोनों प्रतीकों के पीछे जैनधर्म की आत्मा-अहिंसा का बलवान् हाथ है। हर्ष का विषय है कि रजोहरण की उपयोगिता पर श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों सम्प्रदाय एकमत हैं। यद्यपि दिगम्बर साधु उनके रजोहरण के स्थान पर पोरपिच्छी का उपयोग करते हैं। यद्यपि उसमें वस्तुभिन्नता अवश्य है तो उद्देश्यभिन्नता नहीं है। मुखपत्ती की महत्ता और उपयोगिता के विषय में विवाद है। इनके बारे में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों पूर्व-पश्चिम जितना अंतर रखते हैं। श्वेताम्बर मुखपत्ती को आवश्यक साधना मानते हैं, वे कहते हैं कि इसे लगाए बिना हमारी बाणी और भाषा निरवद्य हो ही नहीं सकती। वायुकाय के सूक्ष्म जीवों की रक्षा हम कर ही नहीं सकते। किन्तु दिगम्बर मुखपत्ती को अनावश्यक और सम्मूर्च्छिम जीवों

की उत्पत्ति का कारण मानते हैं, इसमें किसको सच्चा स्वीकार किया जाय ? शास्त्र को प्रमाण स्वीकार करें तो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों शास्त्रों का मेल नहीं बैठता, फिर भी सैद्धांतिक दृष्टि से और जैन साधु के आदर्श के नाते हम भगवान् महावीर अहिंसा-सिद्धांत के आधार इस विषय पर कुछ विचार कर सकते हैं - श्वेताम्बर शास्त्रों में मुखपत्ती का आवश्यक विधान है। साधुके चौदह उपकरणोंमें से इसे एक उपकरण बताया गया है। इसके बिना भाषा निरवद्य नहीं कही जा सकती। इस विषय पर भी श्वेताम्बर और मूर्तिपूजक, स्थानकवासी दोनों एकमत हैं—"भगवती सूत्र १६ शतक, दूसरा उद्देश", में भगवान् ने कहा है—"गोयमा ! जाहेणं सक्के देविंदे, देवराया, सुहुम कायं अणि जूहित्ताणं भासं भासंति, ताहेणं सक्के देविंदे देवराया, सावज्जं भासं भासई।"

भगवान्, गौतम स्वामी को वायुयकाय की रक्षा के विषयमें बोलते हुए शकेन्द्रका उदाहरण देते हैं और कहते हैं—"हे गौतम ! शक्र-देवेन्द्र जब मुख को वस्त्रादिसे नहीं ढंककर बोलता है तो उसकी भाषा सावद्य होती है और जब शक्रेन्द्र मुख को वस्त्रादि से ढंककर बोलता है तो उसकी भाषा निरवद्य होती है।"

और भी देखिए—"जोहेणं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं णिजुहित्ताणं भासं भासइ, ताहे सक्के देविंदे देवराया असावज्जं भासं भासइ।"

इत्यादि, अभयदेव सूरि ने भी अपनी व्याख्या में वस्त्र से

मुख ढंकने का विधान किया है—"सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं" का स्पष्ट अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है कि वस्त्रादि से मुख ढंककर बोलना ही सूक्ष्मकाय जीवों की रक्षा करना है, अन्यथा असम्भव है।

योगशास्त्र के तृतीय प्रकाश के ८७ वें श्लोक का सवोपज्ञ विवरण देते हुए हेमचंद्राचार्य लिखते हैं—"मुखवस्त्रमपि सम्पातिम जीवरक्षणादूष्णमुखवात विराध्यमान बाह्य वायुकाय जीव रक्षणात्, मुखे धूलि प्रवेश रक्षणाश्चोपयोगीति।"

अर्थात्—"मुखवस्त्र सम्पातिम जीवों की रक्षा करता है, मुखसे निकलने वाली ऊष्ण वायु द्वारा विराधित होनेवाले बाह्य वायुकाय के जीवों की रक्षा करता है तथा मुंह में धूल नहीं घुसने देता अतः वह उपयोगी है।

ओघनिर्युक्ति की ७१२ वीं गाथा में भी इसका महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया गया है कि सम्पातिम जीव सच्चित्तरज तथा रेणु रक्षा करने के लिए मुखवस्त्रिका का उल्लेख करते हैं किन्तु जब वसति की प्रमार्जना करें, तब नाक और मुख दोनों को बांध दें—"सम्पातिम रयरेणु, पमज्जणट्ठा वयंति मुहपत्ति नासं मुहंच बंधई तीए वसहिं पमज्जन्तो ओघ निर्युक्ति",—परन्तु यह विषय इतने ही प्रमाणमात्र से हल नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहांतक उपयोगिता का प्रश्न है, उसपर श्वेताम्बरों में कोई मतभेद नहीं। हां, दिगम्बर इसे अपनाने में संकुचित हैं। उनका

तर्क है किः—बार-बार थूक लगने पर मुखपत्ती भींग जाती है, और उसमें समृच्छंम जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।

मगर श्वेताम्बर और विशेषतया स्थानकवासी सम्प्रदाय इस तर्क को स्वीकार नहीं करता। उसका मन्तव्य है कि थूक समूर्च्छिम जीवों का उत्पतस्थिान नहीं है। वस्तुतः दिगम्बर नग्नता के कारण मुखपत्ती अंगीकार नहीं कर सकते।

श्वेताम्बर मुखपत्ती की उपयोगिता पर सहमत हैं और मुख-पत्ती को आगमप्रणीत उपकरण मानते हैं किन्तु मुखपत्ती को सर्वदा मुख पर बांधे रहने के विरुद्ध हैं, स्थानकवासी मुखपत्ती की सफलता उसे सर्वदा मुख पर बांधने में ही मानते हैं। इस द्वन्द्व को भी शास्त्रीय कसौटी पर कसना होगा, क्योंकि धर्म सम्प्रदायों में तर्क से अधिक आज प्रमाण भी मान्य होता है। तो भी विद्वान् आगमों के अर्थों को तोड़-मरोड़ कर अपने तर्क के अनुकूल बना लिया करते हैं। किन्तु ऐसा करना उचित नहीं है। हमारे श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मुनियों का कहना है कि यदि शास्त्र में मुखपत्ती को सदा बांधे रहने के लिए लिखा होता तो गौतम स्वामी को मृगा देवी ऐसा क्यों कहती कि—"भगवान्! आगे दुर्गन्धियुक्त स्थान है, अतः आप अपने मुख पर मुखपत्ती बांध लें—(एवं वयासीः—तुब्भे विणं भंते। मुहपोत्ति याए मुहंपत्तोह बंधेह। तितेणं से भगवं गोयमेमियाए देवीए एवं वुत्ते समाणे मुहपोत्ति याए मुहं बंधई)

—विपाक. अ० मृगापुत्र

किन्तु स्थानकवासी मुनिराज इस स्थल पर ऐसे प्रमाण देते हैं कि मुखपत्ती बांधने की अपेक्षा हाथ में रखने का विधान होता तो गौतम स्वामी भिक्षाचरी को जाते हुए अतिमुक्त कुमार के साथ कैसे जा सकते, क्योंकि उनके हाथ में तो पात्र थे और दूसरे हाथ की उंगली कुमार ने पकड़ रखी थी और मार्ग में (चलते हुए) उस बालसुलभ चेष्टा वाले कुमार के प्रश्नों का उत्तर भी देते जाते थे। तो, मुखपत्ती हाथ में रखकर निरवद्य भाषा कैसे बोलते और मुखपर मुखपत्ती ले जाने के लिए तीसरा हाथ कहांसे लाते ?—"ततेणं अइमुत्तो कुमारे भगवं गोयमं एवं वयासी एहणं भन्ते। तुब्भे जाणं अहं तुब्भं भिक्खं दवा वेमित्ति कट्टु भगवं गोयमं अंगुलीए मेण्हती, गिण्हित्ता जेणेव सए गेहे तेणेव उवागवए (अन्तकृतांग सूत्र, ६ वर्ग १५ अध्ययन)।"

इससे अतिरिक्त वे दूसरा ज्ञाता सूत्र के १४ वें अध्ययन का पाठ बताते हैं। आर्या पोट्टिला के घर में साध्वियां भिक्षा के निमित्त गई। वहां पोट्टिला ने उनसे अपने पति को वश में करने के लिए पूर्ण योग और मंत्र योग आदि के उपाय पूछे। तब साध्वियों ने तत्काल दोनों कान मूंद कर कहा कि—"हे देवि ! हे देवानुप्रिये ! हम निर्ग्रन्थ आर्यिका हैं, यावत् गुप्त ब्रह्मचारिणी हैं ऐसी बातें सुनना भी हमें नहीं कल्पतता तो उपदेश देना तो बहुत दूर की बात है।"

(ज्ञाता धर्म कथांगम् १४ अध्ययन)

ये दोनों प्रमाण एक दूसरे के प्रत्यक्ष विरोधी से प्रतीत

अवश्य होते हैं, किन्तु मृगापुत्र वाले प्रमाणका तो एक समाधान दिया जा सकता है कि दुर्गन्ध के कारण मृगादेवी ने गौतम स्वामी को नाक ढंकने के लिए कहा था।

दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मुखपत्ती यदि हाथ में रखने का विधान होता तो, मृगा देवी गौतम स्वामी को मुहं बंधइ कैसे कहती ? अपितु मुहं वत्थेण पिहइ कहती। इन्हीं शब्दों का यह आशय निकलता है कि मुखपत्ती बांधी जाती थी, अभिप्राय तो स्पष्ट है कि मुख ढंकने का तो एक उपलक्षण है अथवा एक प्रचलित पद्धति। दुर्गन्ध के अवसर पर मुख नहीं, अपितु नाक ढंका जाता है, किन्तु व्यवहार में मुख ढंकने का प्रयोग होता है।

मृगा देवी ने भी गौतम स्वामी को नाक को वस्त्र से ढंकनेके लिए कहा, परन्तु प्रयोग मुख का किया। अतिमुक्तक कुमार, गौतम स्वामी तथा पोट्टिला के घर में गई हुई दोनों आर्यिकाओं के कानों में अंगुली देने पर मुखपत्ती कैसे धारण की हुई होगी? अथवा खुले मुख से जीवों की विराधना का पाप किया होगा। इन दोनों प्रमाणों में कुछ अधिक बल रखता है और इनसे यह प्रमाणित होता है कि साधु के लिए मुखपत्ती बांधने योग्य उपकरण है। प्रमाद से भी कभी हिंसा न हो जाय, इसके लिए मुखपत्ती का बांधना आवश्यक दीखता है। प्राचीन-परम्परा भी मुखपत्ती को मुख पर लगाने के पक्ष में ही दीखती है। जैसे कि

शिव-पुराणा के अध्ययन २१ वें और श्लोक १५ वें पर जैन-साधु का चित्रण किया गया है। यह चित्रण इस प्रकार हैः—

हस्तेपात्रंदधानाश्चतुण्डे वस्त्रस्य धारकाः।
मलिनान्येव वस्त्राणि, धारयन्तो अल्पभाषिणः॥

वे जैनसाधु हाथों में पात्र रखते हैं और मुख पर वस्त्र धारण करते हैं। स्वल्प भाषण और मलिन वस्त्र उनकी विशेषताएं हैं।

पुराण चाहे कितने ही अर्वाचीन क्यों न हों, तो भी वे मुख-पत्ती के बांधने अथवा हाथ में रखने के विवाद से तो अत्यन्त प्राचीन हैं ही। संभव है कि श्वेताम्बर परम्परा में दोनों प्रकार के साधुओं का प्रचलन हो, जैसे कि १५ वीं और १६ वीं शताब्दी की चित्रकारिता से अनुमान होता है। किन्तु कुछ भी हो, मुखपत्ती के पीछे वैज्ञानिक उपयोगिता है, यह तो आजकल डाक्टरों ने भी प्रमाणित कर दिया है, आपरेशन के समय वे मुखपत्ती से मुख को ढंककर ही आपरेशन करते हैं। (लेखक के दो आपरेशन हुए हैं और मुख बांधने के विषय में पर्याप्त रूपेण विमर्श भी हुआ है।) इस प्रकार डाक्टर लोग हमारे मुखपत्ती बांधने के विषय में अपनी ओर से पूरा-पूरा समर्थन करते हैं।

मुखपत्ती बांधने में डोरे का उपयोग करना या नहीं यह एक तर्क है। डोरा तो सुविधा के लिए अपनाया गया है। इसके सिवाय मुख पर मुखपत्ती टिकी नहीं रह सकती।

मुखपत्ती के विषय में अन्य प्रमाण

मुखपत्ती के विषय में मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, क्योंकि जहांतक मुखपत्ती का प्रश्न है वहांतक सारी श्वेताम्बर परम्परा मुखपत्ती बांधने के समर्थन में रही है। पुरानी परम्परा, जैन ग्रन्थ, जैन रास तथा जैनाचार्यों की कविताएं, जैन-साधु का उपकरण विधान और मृतक क्रिया के विषय में मुखपत्ती को प्रधानता दी गई है।

वे सब प्रमाण तो यहां विस्तारभय से उपस्थित नहीं किये जा सकते, किन्तु संक्षेप में उनकी सूचना मात्र दी जाएगी। जैसे कि:—

१. भुवनभानुकेवली रास—

"मुखपत्तीए मुख बांधी ने रे, तमे बेसा छो जेम।
तिमे मुख ढूचो देइने रे, बीजे बेसाए केम॥"

अर्थात्—साध्वीजी को श्रावक कहता है कि—"जिस प्रकार तुम मुख पर मुखपत्ती बांधकर बैठे हो, उस प्रकार हम नहीं बैठ सकते।"

२. हरिबलमच्छी रास—

"साधुजन मुखपत्ती बांधे कहे निज धर्म।"

अर्थात्:—कवि प्रातःकाल का वर्णन करता हुआ कहता है कि साधुजन मुखपत्ती मुख पर बांधे हुए अपने धर्म का उपदेश कर रहे हैं।

३. श्री हीरविजय सूरि रास—

"हबिबली एक प्रश्न पूछूं तो, कपड़ा क्यूं बन्धेइ।
थूंक किताब ऊपर जइ लागे, तणे बन्ध्या हे एहि ॥"

विजयहीर सूरिजी अकबर को धर्मोपदेश सुनाकर खम्भात पधारे तो वहांके सूबेदार हबीबल्ल को बहुत प्रसन्नता हुई। उसने दर्शन करके कुछ प्रश्नों के उपरान्त पूछा कि—"महाराज! मुख पर कपड़ा क्यों बांधते हो?"

"भाई! धर्म पुस्तक पर थूक न गिरे।"—यह उत्तर आचार्य श्री हीरविजयजी ने दिया।

४. हितशिक्षा रास—

"मुखबांधी ने मुखपत्ती, हेठी पाटो धार।
अति हेठी दाढ़ी मंड़, बोत गले निरधार।"

आचार्य देव व्याख्याता होनेकी परिपाटी बताते हुए लिखते हैं कि—[केवल दाढ़ी के बाल बढ़ा लेने से, मुखपत्ती बांधने से और पाटे पर बैठ जाने से व्याख्यान देने की कला नहीं आ जाती।]

५. भुवनभानुकेवली चरित्र—

—(रोहिणी के अधिकार में)

"मुखने बद्धे न तिष्ठन्तं न किंचित् पश्यामः"

हे आर्य! हम तुम्हारे मुख बांध कर बैठने में कोई लाभ नहीं देखते।

६. भव-भावना वृत्ति के प्रथम भावना अधिकार में भी इसी प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है।

७. पडिलेहणबालावबोध के प्रकरण में—

"एम कही मुखे मुखपत्ती बांधी ने कर कामली प्रतिलेखन कर समस्त उपकरण उसपर रख दे।"

—(प्रभात कृत्य में)

"मुहंपत्ति मुखे थाली पहेली कामली पड़ि लेहे।"

८. साधु क्रिया बालावबोध—

"पडिलेहण करतां मुहपत्ति काने वाली ओघो पलेवुं। तथा मुहपत्ति मुखे बांधी, थापना पडिलेववा, तथा मुहपत्ति मुखे बांधी सर्व उपाधि पलेववी।"

—(प्रतिलेखनाना अधिकार मां)

९. साधु-विधि प्रकाश—

"आसने समुपविष्टः सन्मुखवस्त्रिकां मुखे दत्त्वा प्रथमं पात्र केशरिकां।"

अर्थात् - आसन पर बैठे हुए साधु पहले मुखपत्ती की प्रतिलेखना करे और फिर उसे मुख पर बांध कर अन्य वस्त्रोपाधि की प्रतिलेखना करे।

१०. वचनगुप्ति की रक्षा के लिए मुखपत्ती का विधान—

नवतत्व प्रकरण वृत्ति,

"वचनगुप्तिर्द्विधा, भ्रु संज्ञादि परिहारा, मौनाभिग्रहः वाचना पुच्छनादिषु मुखवस्त्रिकाच्छ दितमुखस्य भाषमाणस्यापि वाग् नियन्त्रणं वचनगुप्तिः।"

वचनगुप्ति दो प्रकारकी है। नेत्रोंको भी बिना हिलाए सर्वथा निश्चेष्ट मौन करना वचन-गुप्ति है और वाचनादि में लीन रहते हुए तथा मुख पर मुखपत्ती बांधकर संयम रखना भी वचन-गुप्ति है।

मुखपत्ती

मुखपत्ती को प्राकृत में—

"मुहपत्ति, मुहपोत्तिया, मुहणं तग, पोत्तिया तथा हत्थग"—कहा गया है।

और संस्कृत में—

मुखपट्टि, मुखपोतिका, मुखवस्त्रिका, मुखानन्तक, पोतिका, मुखबन्धन, मुखाच्छादन कहा गया है।

सामान्य भाषामें इसे मुहपत्ती, मुमती अथवा मोमती व मुखवस्त्रिका कहा जाता है।

मुखपत्ती के १० लाभ—

१. निरवद्य भाषा में सहायक,
२. वचन-गुप्ति में सहायक,
३. साधु का वेश,
४. संपातिम जीवों की रक्षा में सहायक,
५. रजरेणु के निरोध में सहायक,
६. प्रमार्जिका में सहायक,
७. पुस्तक पर थूक न पड़ने में सहायक,

८. रेणुजन्य मुखादि रोगों के निरोध में सहायक,
९. आदान-निक्षेप के समय प्रमार्जना में सहायक,
१०. भाषा-समिति में सहायक,
जैन आगम तथा जैन साहित्य में मुखपत्ती को,
वाचना, पृच्छना, परावर्तना, तथा धर्मकथाके समय आवश्यक उपकरण बताया गया है।

वसति-प्रमार्जन, स्थण्डिल गमन, व्याख्यान-प्रसंग और मृत्तक-प्रसंगमें मुखपत्ती का आवश्यक विधान किया गया है।

प्रतिलेखन के समय मुखपत्ती का बार-बार उल्लेख आया है। शतपदी का यह अंतिम उद्धरण देकर हम इस विषय से विरत होंगे।

"मुखवस्त्रिकां विनां कथं मुखे मशाक-मक्षिकादि संपातिम जीवोदक बिंदुप्रवेश रक्षा? कथं च क्षुत्कारित जृम्भितादिषु देशनादिषु चोष्णा मुखमारुत विराध्यमान बाह्य वायुकायादिक रक्षा? कथं च रजो-रेणु, प्रवेश रक्षा? परं पति निष्ठ्यूत लवस्पर्श रक्षा च विधातुं शक्या?"

अर्थात्—"जो मुख पर मुखवस्त्रिका न बांधी जाय तो मच्छर, मक्खी आदि उड़ते हुए कीटाणुओं की कैसे रक्षा की जा सकती है? जलबिंदु, छींक, खांसी और उपदेश देते हुए क्या वायुकायिक जीवों की रक्षा की जा सकती है? अतः मुखपत्ती एक अनिवार्य और आवश्यक उपकरण है, जिसे मुख पर बांधकर संयम का ठीक रीति से पालन हो सकता है।

जीवराजजी महाराज के सामने सबसे बड़ी समस्या यही थी कि मुखपत्ती के विषय में निश्चित और अन्तिम निर्णय किया जाय ? शास्त्रों के प्रमाण और उभय पक्ष के तर्क भी उनके सामने थे। उन्होंने मुखपत्ती को मुख पर लगाना ही शास्त्रानुकूल समझा और अपना निश्चय बताया कि बिना मुखपत्ती को मुख पर लगाए षट्काय की रक्षा नहीं हो सकती और प्रमाद का परिहार भी नहीं हो सकता। मुखपत्ती की उपयोगिता मानने वालों को तो मुखपत्ती धागे-सहित बाँधने में क्या हानि होती है—यह समझ से परे की बात है। मैं मानता हूं कि साम्प्रदायिकता बहुत बुरी बला है, जो मनुष्य के मस्तिष्क को सदाके के लिए गुलाम बना देती है। यह मनुष्य को अपने घेरे से बाहर सोचने नहीं देती। पूज्य जीवराजजी महाराज तो सम्प्रदाय के बन्धनों से दूर, कुरीतियों की सीमाओं को तोड़कर "सुत्तस्समग्गेण चरिज्ज भिक्खू" के आदर्श पर चले थे। लोंकाशाह की निर्भीक क्रान्ति उनके सामने थी। वे दृढ़ निश्चय से ज्ञान-युक्त चारित्र विकास की ओर बढ़ते ही गये और स्थानकवासी सम्प्रदाय की व्यवस्थित क्रान्ति के मूल प्रणेताओं में प्रथम पद के अधिकारी बने।

जीवराज जी महाराज के साथी

जीवराजजी महाराज जब अपने तेजराजजी यति से अलग हुए तो उनके साथ पांच यतियों ने भी इन्हें सहयोग दिया और

वे जीवराजजी महाराज की मान्यता के अनुसार क्रियोद्धार की क्रान्ति में सहायक बने। उन पांच त्यागी तपस्वी-यतियों के नाम अमीपाल, महीपाल, हरजी, गिरधरजी, हरिजी हैं। उनका आत्म-बलिदान कभी भुलाया नहीं जा सकता।

जीवराजजी महाराज का प्रतिरोध

जीवराजजी महाराज का कठोर संयम और जीवन की भौतिक आवश्यकताओंके प्रति निर्मम विराग भाव और उनका प्रबल कष्ट सहन बल यतियों के लिए ईर्ष्या का कारण बन गया। सम्मान की भूख बड़ी होती है। सम्मान को ठेस लगते ही एक क्षुद्र प्राणी भी तन कर खड़ा हो जाता है और प्रतिशोध के लिए आतुर हो उठता है। फिर यति वर्ग की बात ही क्या थी? क्योंकि समाज जीवराजजी महाराज का आदर्श संयम और कठोर तप देखकर उनकी ओर झुकने लग गया था, जिसे यति-वर्ग सहन न कर सका। उन्होंने विरोध करना आरम्भ किया, यातनाएं दीं, पीड़ाएं पहुंचाईं, अनेक प्रकार के उपसर्ग तथा संकटों का घेरा डाला किन्तु पूज्य जीवराजजी तो केशरी की तरह आगे और आगे ही बढ़ते चले गये। समूचा जैन समाज निर्ग्रन्थ धर्म की ओर उन्मुख हुआ। महाराज के अनुयायी और शिष्यवर्ग में दिन दूनी और रात चौगुनी वृद्धि होने लगी।

मालवा देश में धर्म-जागरण करने का श्रेय आपको ही है। आप अहिंसा के सजग प्रहरी बनकर अनेक प्रान्तों में घूमते रहे

और आपने लालचन्दजी महाराज जैसे महापुरुषों को दीक्षित किया।

अन्तिम समाधि-मरण

आगरा शहरमें आपका शरीर शिथिल हो गया। आप समझ गये कि अब शरीरान्त होने वाला है। आपने सम्पूर्ण आहारों का परित्याग कर दिया और समाधि-मरण से मृत्यु का वरण किया अथवा यह समय (विस्तृत पट्टावली के आधार पर) सं० १५६८ के आसपास इनकी मृत्यु का समय संवत् अभीतक प्राप्त नहीं हो सका। परन्तु अनुमान के आधार पर उनका आयुष्य ५०-६० वर्ष से तो अधिक होना ही चाहिए।

जीवराजजी महाराज की परम्परा

जीवराजजी महाराज की शिष्य-सम्पदा अति विस्तृत एवं विशाल थी। उनके शिष्य, प्रशिष्य तथा अनुयायी वर्ग उनके समय में ही बहुत बन गये थे। उनका दृढ़ संयम का आदर्श और आगमानुसार साधु-जीवन की प्रतिष्ठा उनके जीवन-काल में ही समाज में साकार हो गई थी। आपकी मृत्यु के उपरान्त आचार्यवर्य धनजी, विष्णुजी तथा मनजी और नाथूरामजी महाराज आदि हुए। आज भी १०-११ सम्प्रदाय आपको अपना मूल पुरुष मानती हैं।

जीवराजजी महाराजका प्रभाव और वंश-परम्परा काठियावाड़ के सिवाय सभी प्रान्तों में फैली हुई है। कोटा सम्प्रदाय, अमरसिंहजी का सम्प्रदाय, नानकरामजी का सम्प्रदाय, स्वामीदासजी का सम्प्रदाय और नाथूरामजी महाराज का सम्प्रदाय—सब इन्हीं महापुरुष की शिष्य-सन्तति हैं।

महान् सुधारक लवजी ऋषि

लवजी ऋषि सामंत कुल के एक भाग्यवान एवं ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र थे। सरस्वती और लक्ष्मी दोनों उनपर प्रसन्न थीं। माता उनकी विधवा थी, जिनका नाम फूलाबाई था और अपने माता-पिता के घर सूरत में रहती थीं। लवजी के नाना का नाम वीरजी बोरा था, वे दशा श्रीमाली वणिक् थे। उनकी धाक खंभात के नवाब तक पड़ती थी। वे लाखों रुपयों के मालिक थे। लोग उन्हें कोटिपति कहते थे। उस समय सूरत में वजांगजी गुजराती लोंकागच्छ के गादीपति थे। श्री वीरजी बोरा प्रायः उनके पास आया करते थे।

लवजी बाल्यकाल से ही होनहार थे। उनकी माता धर्मनिष्ठा थी, वे सदा सामयिक, प्रतिक्रमण करती और अपने धार्मिक अनुष्ठानों में तल्लीन रहती। बालक लवजी अपनी माता के पास बैठ कर धर्म-क्रिया के सभी मंत्र सुनता और मन ही मन में उनका चिन्तन कर लेता।

एक दिन लवजी के नाना और उनकी माता तथा लवजी श्री वजांगजी के दर्शनार्थ उपाश्रय में गये। वजांगजी ने लवजी के शारीरिक लक्षणों को देखा और सामुद्रिक शास्त्र के आधार पर अनुमान लगाया कि यह कोई महापुरुष होगा।

उधर लवजी के नाना ने बजांगजी यति को उस बच्चे को शास्त्राभ्यास कराने को कहा। यतिजी ने कहा कि इसे पहले सामायिक-प्रतिक्रमण सिखाना चाहिए।

लवजी बोले—"सामयिक-प्रतिक्रमण तो मुझे याद है।" यति श्री ने उस बालक से जब सामायिक प्रतिक्रमण सुना तो हर्षित हुए और उनके नाना तथा माताजी भी गद्‌गद् हो गए।

यति श्री ने उस सात वर्ष के बालक की स्मरण-शक्ति देखकर उसे पढ़ाना स्वीकार कर लिया।

लवजी ने शास्त्राभ्यास किया। भगवान् महावीर की वैराग्यमयी वाणी से वे आप्लावित हो उठे, उनकी आत्मा निर्वेद के रस में आस्नात हो गई। संसार उन्हें निःसार और सगे सम्बन्धी निःसत्व दीखने लगे। मोह के ममतापाश से वे बिलग रहने लगे, उन्होंने पार्थिव इन्द्रियों के विषय को क्षणभंगुर तथा किंपाकफल के समान ऊपर से मधुर और अन्दर से हलाहल विषभरा समझा।

माताजी और नानाजी से उन्होंने अपनी इच्छा अभिव्यक्त की। किन्तु माता की ममता और नाना का प्यार उन्हें ऐसा करने के लिए कब स्वीकृति दे सकता था? उन्होंने समझाया पर लवजी अपने आग्रह पर डटे रहे।

अन्त में, उनकी विजय हुई और बजांगजी के पास दीक्षा लेने की अनुमति प्राप्त हो गई।

सं० १६६२ में बड़े भव्य समारोह के साथ उन्होंने दीक्षा धारण की और शास्त्राभ्यास में तन-मन लगाकर जुट गये।

उनकी दीक्षा बाल्यावस्था में ही सम्पन्न हो गई थी, और दो वर्ष तक निरन्तर श्रुताभ्यास से उनके मन में संयम के प्रति और भी दृढ़ रुचि उत्पन्न हो गई।

गुरुदेव वजांगजी का लवजी पर प्रगाढ़ स्नेह था। वे मन लगाकर उसे शास्त्राभ्यास कराते और अपने जीवन के अमूल्य अनुभव उन्हें सुनाते।

लवजी अपने मन के उद्‌गार सामने रखते और कभी-कभी यतिवर्ग के शिथिलाचारीपन तथा संग्रहवृत्ति की ओर भी उनका लक्ष्य खींचते और शुद्ध संयम पालन करने की विनती करते।

लवजी की शुद्ध दीक्षा

शुद्ध संयम के पालन के लिए, हमें इस परम्परा में आमूल परिवर्तन करना चाहिए अथवा इस वर्ग से सर्वथा अलग हो जाना चाहिए, किन्तु वे ऐसा न कर सके और दो वर्ष के अनन्तर लवजी स्वयं गुरुदेव से विचार-विमर्श करके यतिवर्ग से अलग हो गए और सं० १६६४ में उन्होंने शुद्ध दीक्षा धारण कर ली।

उस समय उनके साथ दो साथी और थे, जिन्होंने विशुद्ध संयम पालन में उनका पूरा साथ दिया।

लवजी का प्रचार बढ़ने लगा, उनके त्याग के पीछे करोड़ों

रूपयों का तिरस्कार बोलता था। उनकी ख्याति और ब्रह्मचर्य की दिव्यता चारों ओर प्रसृत होने लगी। जनता का झुकाव यति वर्ग की उपेक्षा लवजी के प्रति अधिक होने लगा, जिसे यति वर्ग सहन नहीं कर सका।

लवजी पर शत्रुओं के अत्याचार

जीवराजजी महाराज का घाव अभी हरा ही था कि दूसरे प्रतिद्वंद्वी लवजी उन्हें प्राप्त हुए।

वे लवजी को अपना शत्रु समझने लगे! लवजी की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को देख यति वर्ग सोचता कि हमारी इज्जत समाप्त हो रही है। उन्होंने धर्म-प्रचार और धर्म-प्रसार को मानापमान का विषय बना लिया जिसका परिणाम यह हुआ कि यति वर्ग ने लवजी की राह में रोड़े डालने शुरू किये।

एक बार लवजी खंभात पधारे। खंभात का नवाब वीरजी वोरा (लवजी के नाना) का मित्र था। यति वर्ग ने द्वेषवृत्ति के कारण वीरजी वोरा के कान भरने शुरू किये और लवजी को धर्मद्रोही तथा शासन विरोधी के रूप में उनके मस्तिष्क में बिठा दिया।

वीरजी वोरा क्रुद्ध हो गए और धर्म-रक्षा के लिए उन्होंने खंभात के नवाब को लिखा कि लवजी को बन्दी बना लें।

नवाब ने लवजी को कैद में डाल दिया किन्तु कैद के पहरेदारों, चौकीदारों तथा जेलरों ने जब इनकी धर्मचर्या और

साधु-जीवन की दिव्यता देखी तो बेगम साहबा को इनकी सूचना दे दी। बेगमने बादशाह को कहकर लवजी को सम्मान-पूर्वक विमुक्त करा दिया।

लवजी के मन में तो रंचमात्र भी क्लेश नहीं हुआ। उनकी आत्म-आभा और आत्मशक्ति और भी बढ़ गई।

यति-वर्ग का यह षड्यंत्र जब असफल हो गया, तो उन्होंने दूसरे प्रकारसे संकट देने प्रारम्भ किये। लोकैष्णा और नामैष्णा के लिए मनुष्य क्या पाप नहीं करता ? इसका ज्वलंत उदाहरण लवजी ऋषि की कष्ट कथा है।

लवजी ऋषि का सम्मान और भी बढ़ गया और यति वर्ग को एक दूसरा, बड़ा धक्का लगा। उनके मन में क्रोध के बादल तूफान की तरह उठ रहे थे, वे प्रतिशोध के लिए ठोकर खाकर भी गेंद की तरह और लालायित हो गए।

अहमदाबाद में एक बार लवजी विराजमान थे। इनके शिष्य बाहर जंगल में गये हुए थे। उन तीन साधुओंमें से एक पीछे रह गया, यतियों ने उसे पकड़ कर मंदिर में ले जाकर उसे सदाके लिए बन्दी बना लिया। लवजी ऋषि के श्रावकों को इससे बड़ा दुःख हुआ और वे क्रोध के साथ प्रतिशोध के लिए तैयार हो गए।

यति वर्ग के उपासक, लवजी ऋषि के अनुयायियों को कुएं पर पानी न भरने देते तथा नाइयों से हजामत करने को मना कर देते थे। इन पचीस घरों ने ही साधु मरण की दिल्ली में

अरजी करनी चाही, किन्तु वहां भी इनके जाने से पहले बादशाह के कान भर कर, उन्हें इनके विरुद्ध कर दिया था।

अकस्मात् बड़े काजी के लड़के को सर्प ने काट खाया। इन २५ में से किसी एकने नवकार मंत्र के बल पर उसका विष उतार दिया। अब काज़ी ने प्रसन्न होकर उनकी सब बातें सुनीं और बादशाह को जाकर सुनाई।

बादशाह ने उसी समय एक छोटी-सी सेना देकर काज़ी को अहमदाबाद भेज दिया और २५ श्रावक भी साथ ही आए।

एक सुनार की स्त्री से श्रावकों को सारा वृत्तांत ज्ञात हो ही गया था। देरासर खुदवाया गया और मिट्टीमें से साधु-शवको बाहर निकाला गया, उसे देखकर काज़ी को क्रोध आया और देरासर गिराने का हुक्म दे दिया, किन्तु श्रावकों की विनती के कारण देरासर को छोड़ दिया और भविष्य में इन श्रावकों तथा साधुओं के साथ किसी भी प्रकार का उत्पीड़न न करें, ऐसी कड़ी आज्ञा देकर काज़ी वापिस लौट गया।

(धन्य शान्ति लवजी की, और अहो कृतघ्नता ईर्ष्यावालों की) वा० मो० शाह, ऐतिहासिक नोंध।

लवजी ऋषि ने उन्हें समझाया—

"नहि वैरं वैरेण शाम्यति", वैर, वैर से कभी शान्त नहीं होता, वह तो केवल प्रेम से ही शान्त हो सकता है। धर्म-प्रचार में इस प्रकार की अधर्म धारणाएं रहा करती हैं, किन्तु इससे क्रुद्ध होकर अपनी आत्मा को कलुषित नहीं करना चाहिए।

लोग इससे शान्त हो गए, किन्तु वह साधु लवजी को पुनः प्राप्त नहीं हो सका। मनुष्य ईर्ष्या के कारण कितना कृतघ्न हो जाता है। वह क्या-क्या कृत्य करता है उसकी कोई सीमा नहीं है।

लवजी को इस प्रकार के अनेक उपसर्गों और घोर कष्टों का सामना करना पड़ा। किन्तु वे तो वीर पुरुष थे। उन सब दारुण दुःखों को सहन करते हुए जैन-धर्म के सच्चे प्रचार में लगे ही रहे और अन्त में उनकी विजय हुई।

उस काल में यतियों के प्रतिरोध के सामने ठहरना कोई सरल काम न था, क्योंकि यति-वर्ग का समाज पर अत्यधिक नियंत्रण था। सबसे बड़ा कारण तो यह था कि वे चिकित्सा किया करते थे जिससे रुग्ण समाज को इनका प्रभुत्त्व स्वीकार करना पड़ता था।

यति वर्ग की एक भूल

यदि यति-वर्ग अपने को जैन-समाज का एकमात्र शासक न मानता और धर्म-क्षेत्र में शुद्ध पांच महाव्रतधारी साधुओं को अग्र स्थान दे देता, तो साधु और यतियों में कभी संघर्ष न होता।

यति-वर्ग साधुओं को अपने से बड़ा मानने को तैयार नहीं था और समाज साधु-वर्ग को उनके अधिक त्याग के कारण बड़ा मानता था। इसलिए यति-वर्ग ईर्ष्यावश साधु-वर्ग का विरोध करता था।

समाज को तो साधु और यति दोनों की ही आवश्यकता थी, किन्तु साधु और यति-वर्ग में सर्प-नेवले की तरह विरोध बनता रहा।

यति-वर्ग ने सत्ता के बल से साधुओं को उखाड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु हुआ इसके विपरीत, यति-वर्ग को उसका अपना शिथिलाचार ही पराजित कर गया और यह समाज का दुर्भाग्य है कि समाज इन दोनों को समन्वयपूर्वक नहीं रख सका।

लवजी ऋषि के अप्रत्याशित प्रभाव के आगे यति-वर्ग बल-हीन हो गया। अनुयायी और शिष्य-वर्ग के जबरदस्त प्रचार के कारण गुजरात और सौराष्ट्र पर साधु-वर्ग की धाक बैठ गई।

अन्ततः बुरहानपुर में पूज्य लवजी ऋषि को एकबार भाव-सार बाई द्वारा विष मिश्रित मोदक बहराये गये। (ऋषि सम्प्रदाय से प्राप्त एक पट्टावली के आधार पर) मोदकों से ही उनका प्राणान्त हो गया। उनकी मृत्यु शान्तिपूर्वक समाधि-मरण से हुई।

मृत्यु से पहले, लवजी ऋषि ने अपने शिष्यों को अमूल्य उपदेश दिया था और सौराष्ट्र छोड़कर गुजरातकी ओर विहार करने की आज्ञा दी थी। धर्म को सत्य रूप में समझाना भी, कभी-कभी कैसा अपराध हो जाता है और रूढ़िवादी सत्य-शोधक के साथ कैसा व्यवहार करते हैं, यह रहस्य लवजी ऋषि की कहानी से स्पष्ट खुल जाता है।

सत्य है, सच कडुआ होता है। उसे पसन्द करने वाले

कोई-कोई बलिदानी, आत्मोत्सर्ग-कर्त्ता तथा दृढ श्रीवर ही होते हैं। उन्हींके नाम पर सत्य स्थायी रहता है और सत्य का प्रकाश, इन्हींके माध्यम से संसार को प्राप्त होता है।

पूज्य धर्मसिंह जी और लवजी ऋषि में चर्चा

दरियापुरी सम्प्रदाय की पट्टावली में इस प्रकार का वृत्तांत मिलता है कि इन दोनों महापुरुषों की आपस में चर्चा हुई थी।

अहमदाबाद में ही यह मिलन हुआ था। और छः कोटी, आठ कोटी, तथा सामायिक सम्बन्धी और आयुष्य संबंधी विषयों पर बहुत लम्बी चर्चा हुई थी। किन्तु इस चर्चा में दोनों के अभिप्राय एक न होने के कारण वे एक साथ नहीं रह सके तथा इनके नाम से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय चलाने का अवसर उपस्थित हुआ।

यदि उस समय इन छोटी बातों पर समाधान कर लिया जाता, तो समाज के लिए यह एकता कितनी प्राण संचारिणी बनती।

लवजी ऋषि की परम्परा

पूज्य लवजी ऋषिजी की परम्परा बहुत विशाल है। आज भी स्थानकवासी समाज में लवजी ऋषिसे अनुप्राणित सम्प्रदायें ही सबसे बड़ी संख्या में गिनी जाती हैं।

लवजी ऋषि के अनन्तर सोमजी ऋषि हुए। लवजी ऋषिने अपने जीवनकाल में ही सम्प्रदाय का दायित्व आपको संभाल

किया था। आपकी विशेषता आपका उग्र तप था और तर्कपूर्ण चर्चाएं आपकी बुद्धि की करामात थीं।

प्रत्युत्पन्नमति और दृढ़ श्रद्धामय हृदय का आपमें अपूर्व सम्मिश्रण था। आपने बुरहानपुर से विहार करके गुजरात की ओर प्रयाण किया और अहमदाबाद में आकर पूज्य श्री धर्म-सिंहजी महाराज से चर्चा-वार्ता की (एक पट्टावली)। कानजी आपके प्रतिभाशाली शिष्य हुए।

जैन समाज की विशृंखल स्थिति

नयी क्रांति के मार्ग में अवरोध–

लोंकाशाह, जीवराजजी, लवजी ऋषि और धर्मसिंहजी का क्रान्तिकारी नाद समूचे समाज में गूंज रहा था। किन्तु दुःख तो यह था कि लोंकाशाह के काल में प्रतिमा के उपासकों और लोंकाशाह में ही संघर्ष था जब कि इन पूज्य महापुरुषों के समय में तो लोंकागच्छीय यतियों और लोंकाशाह की क्रान्ति के समर्थक साधुओं में भी वैमनस्य हो गया था। घर और बाहर दोनों तरफ द्वंद्व था। यही कारण है कि लोंकाशाह के अनन्तर लाखों की संख्या में दुबारा अनुयायी नहीं बन सके।

यदि साधु और यति-वर्ग की एकता बनी रहती अथवा दोनोंमें कोई धार्मिक समझौता हो जाता, तो देश में एक बड़ी नई क्रान्ति का सूत्रपात हो जाता। यति समाज के सभी अंगों की सेवा करके, अपनी ओर आकर्षित करता और साधु-वर्ग

उन्हें सच्चे निर्ग्रन्थ-धर्म की दीक्षा देता तो भारतवर्ष पर फिर अहिंसा की पताका लहराने लग जाती।

किन्तु यह होता कैसे ? यह तो एक सुन्दर योजना और मधुर कामना का मीठा स्वप्न है, कडुआ, यथार्थ नहीं। इन दोनों में, एकता तो दूर, विरोध भी न होता तो परस्पर के संघर्ष में व्यय होने वाली शक्ति तो बच जाती।

यह सत्य है कि जैन-धर्म के मानने वाले जैनों में परस्पर एकता का सदा से ही अभाव रहा है। सामूहिक क्रान्ति का बीज इस सम्प्रदाय में पड़ा ही नहीं। वर्गगत तथा दलगत क्रान्ति की चिनगारियां ही फूटती रही हैं, जिनके कारण अभिनव का निर्माण और प्राचीनता का आग्रह दोनों ही बनते रहे हैं।

दिगम्बरों में भिन्न-भिन्न संघ बनते जा रहे थे। श्वेताम्बरों की सारी शक्ति गच्छों में विभक्त हुई, पड़ी थी। लोंकागच्छियों और साधुओं की शक्ति परस्पर केन्द्रित नहीं थी। यही कारण था कि समूचा समाज गृहकलह से आतंकित था और उसकी परस्पर की एकता प्रायः नष्ट हो गई थी।

धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर

श्रद्धा और मान्यताओं के पीछे धर्म घूमता था, विचार और प्ररूपणाओं के नाम पर सम्प्रदाय खड़े होते थे। धर्मद्रोहके नाम पर संघर्ष छिड़ जाता था और आगमों के नाम पर अलग अलग खिचड़ी पकाई जाती थी।

सैकड़ों वर्षों के अनन्तर लोंकाशाह की दिव्य ध्वनि और इन महापुरुषों की निर्भीक वाणी समाज के कानों में गूंज अवश्य रही थी किन्तु इसका प्रभाव सर्वव्यापक या सामूहिक न पड़कर, वर्गगत ही पड़ा था।

सत्य कितना ही महान् हो, किन्तु उसके पीछे भावना का सामूहिक बल चाहिए, जो सत्य को सूर्य की तरह प्रकाशमान और देव की तरह दिव्य बना दे। यही एकमात्र कमी समाज को उथल पुथल में रही है।

जैन समाज की एकता

हमारी परम्परा भद्रबाहु तक एक रही है। उसमें भी अन्तर है, किन्तु वह क्षम्य है। उसके आगे बढ़कर इन दो हजार वर्षोंमें तो हमने अपने पृथक्-पृथक् घर बना लिये हैं। सामाजिक एकता के चिह्न को अधिकांश में परिवर्तित कर लिया है।

आगमों की एकता, तीर्थंकरों के जीवन के प्रति साम्यता, मुख्य तात्विक विश्वासों में अभिन्नता तथा एक सदृश वेष, रहन-सहन, सभ्यता, शिष्टाचार आदि सभी सामान्य बातों में भिन्नता आ गई है।

श्वेताम्बर दिगम्बरों से अपरिचित हो गया और दिगम्बर श्वेताम्बरों से। यह अपरिचय बढ़ता ही गया और साथ-साथ पारस्परिक घृणा तथा एक दूसरे को प्राचीन मानने की बीमारी भी परिपोषित होने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज की आन्तरिक शक्ति निर्बल पड़ गई।

जैन-समाज में एक नहीं, अनेक सम्प्रदाय बन गये और एक सम्प्रदायमें से आगे अन्य शाखा-प्रतिशाखा के रूप में सम्प्रदाय फूटते ही चले गए।

जिस प्रकार सम्प्रदाय भिन्नमुखी बनते गए, उसी प्रकार श्रावक समाज भी बंटता चला गया और भिन्नता यहांतक पहुंची कि लाखों का समाज कुटुम्बों-कुटुम्बों की तरह, दल के रूप में विविधमुखी और पपस्पर विरोधी बनकर विभक्त हो गया।

सब जैन एक हैं

जैन-धर्म एक है तो उसके मानने वाले विभक्त कैसे? यह एक जटिल प्रश्न है।

सत्य है, दृष्टि अनेक प्रकार से अनेकांगी परीक्षणों के पश्चात् ही लक्ष्य को निर्धारित करती है। इसी प्रकार इन प्रचलित सभी सम्प्रदायों में जो अनेकान्त की अनेकांगी दृष्टि प्रसृत हो रही है, यदि उसका आश्रय ले लिया जाय तो, अवश्य ही एकता में कुछ विलम्ब नहीं है।

हम सब एक हैं। श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी सब एक हैं, क्योंकि उनका भगवान् एक है, उनका नमस्कारमंत्र एक है, षट्काय, नवतत्व, पांच चरित्र, सब कुछ एक है।

दो हजार वर्षों पूर्व, हम सब एक थे। अब भी अनेकान्तका आधार लेकर आग्रह का त्याग कर सभी एकता के लिए प्रयास करें तो वह दिन दूर नहीं कि हम सब एक ही नजर आएं।

लवजी ऋषि का प्रभाव

एक व्यक्ति समस्त संकटों का सामना कर किस प्रकार अपने मार्ग पर प्रगति कर सकता है, यह प्रेरणा उस निर्भीक लवजी ऋषिके जीवन से हमें प्राप्त होती है।

उस समय के सन्तों, यतियों और आने वाले सन्तों के लिए वे आदर्श थे। यही कारण है कि इनके बाद बहुतसे यतियों ने यति दीक्षा को त्याग कर साधु-धर्म में पदार्पण किया।

क्रान्ति और निर्भीकता कितनी ही क्षणिक हो, उसका प्रभाव चिरस्थायी और प्रतिक्रिया बहुत लम्बी होती है। धर्मदासजी महाराज का उद्भव भी इसी क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण हुआ। उन्होंने समाजको एकता के धागे में बांधने का श्रीगणेश किया। यद्यपि वे सामूहिक भावना को न पनपा सके, तथापि, उन्होंने एक विशाल समुदाय को—२२ सम्प्रदाय का नामकरण करके केन्द्रित अवश्य किया।

पू० धर्मसिंहजी महाराज

लोंकाशाह ने जड़वाद और आडम्बर के विरोध में मोर्चा बनाया था और धर्मसिंहजी महाराज ने लोंकागच्छ में घुसी हुई कुरीतियों को नष्ट करने के लिए उद्घोषणा की थी।

लोंकाशाह की सेना की आन्तरिक स्थिति को सुदृढ़ करने वाले पूज्य श्री धर्मसिंहजी महाराज हुए। इन्हें हम स्थानकवासी सम्प्रदाय के उद्धारकोंमें से तीसरा महापुरुष मानते हैं।

जीवन-परिचय

आपका जन्म काठियावाड़ के हालार प्रान्तीय जामनगर में हुआ। श्रावक जिनदास, दसा श्रीमाली आपके पिता थे और शिवादेवी आपकी माता थीं।

जब धर्मसिंहजी १५ वर्ष के थे तब उन्होंने लोंकागच्छाधिपति श्री रत्नसिंहजी के शिष्य श्री देवजी यति का व्याख्यान सुना। इस व्याख्यान की वैराग्यमयी वाणी से इनके हृदय में विरक्ति हो गई और इन्होंने अपने माता-पिता से दीक्षा के लिए आज्ञा मांगी।

माता-पिता ने समझाया परन्तु उनकी समझावट इनकी प्रबल वैराग्य भावनाके सम्मुख विवश रही और माता-पिता को झुकना पड़ा। वैराग्य विषयक इनके तर्क और संसार की

असारता विषयक इनका तात्विक चिंतन इतना प्रबल था कि परिवार के परिजनों पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। इतना ही नहीं इनके पिता पर तो इतना प्रभाव पड़ा कि वे भी वैराग्य की ओर अग्रसर हुए, फलतः पिता-पुत्र दोनों ने एक साथ दीक्षा ली।

धर्मसिंहजी महाराज की अपूर्व बुद्धि तथा विलक्षण प्रतिभा सचमुच नैसर्गिक देन थी। उन्होंने स्वल्पकाल में ही ३२ सूत्र, तर्क, व्याकरण, साहित्य और दर्शन का ज्ञान उपार्जन कर लिया।

धर्मसिंहजी महाराज दोनों हाथों से एक साथ लिख सकते थे और अवधान कर सकते थे। वे साक्षात् सरस्वती के वरद् पुत्र थे। किन्तु उनकी विशेषता यह थी कि विद्वता के साथ वे चारित्र्य को भी ऊंचा स्थान देते थे। उनके सामने लोंकाशाह की अमरवाणो और जीवराजजी महाराज का "सुत्तस्समग्गेण चरिज्ज भिक्खु" की आदर्श-उद्घोषणा गूंजा करती थी। उनके मन में यतियों के शिथिलाचारी जीवन के प्रति असंतोष पैदा हुआ और विचारों में विप्लव का ज्वार जगने लगा। उन्होंने नम्रतापूर्वक पूज्य यति श्री शिवजी के पास समाधान चाहा और निवेदन किया—"भगवान् महावीर ने तो २१,००० वर्ष तक अपना शासन चलने को कहा है, परन्तु आज पंचम आरे का नाम लेकर शिथिलाचार का जो पोषण हो रहा है, उसे देखकर आप जैसे नरसिंह भी यदि मुनि-धर्म का पालन नहीं करेंगे, तो कौन करेगा? आप मुनि-धर्म पालन करने की प्रतिज्ञा

करो। गुरुदेव ! मैं स्वयं आपके साथ आगमानुसार संयम-पालन करूंगा।"

गुरुदेव ने शिष्य की बातें प्रेमपूर्वक सुनीं और कुछ देरतक प्रतीक्षा करने की सम्मति दी। धर्मसिंहजी ज्ञानदाता गुरु की बात को टाल न सके।

श्री धर्मसिंहजी ने विचार किया कि इतने श्रुत-धर्म की यदि सेवा की जाय तो बहुत उत्तम रहेगा। बस यह विचार करते ही उन्होंने सूत्रों पर टब्बे (टिप्पणी) लिखने आरम्भ कर दिये और २७ शास्त्रों पर टब्बे लिख दिए। आजतक इन शास्त्रीय टिप्पणों से ही स्थानकवासी साधु शास्त्रज्ञान-प्रयास को प्रामाणिक मानते आये हैं।

धर्मसिंहजी ने शास्त्रीय कार्य सम्पन्न करके, गुरुदेव से फिर प्रार्थना की। इस बार गुरुजी ने स्पष्ट फरमा दिया—"धर्मसिंह! मैं तो इस गद्दी को छोड़ने वाला हूँ नहीं, तेरी इच्छा हो तो तू अवश्य शास्त्रीय पद्धति के अनुसार पूर्ण संयम का पालन कर। किन्तु, देखना कभी अपने प्रपितामह लोंकाशाह का नाम पीछे न रह जाए।"

धर्मसिंहजी ने गुरुदेव की बात स्वीकार की। सिर नवाकर चलने लगे तब गुरु बोले—"अच्छा, मैं तेरी एक परीक्षा लेता हूं आज रात को उत्तर की ओर दरियाखान यक्ष के देवल में रहना, फिर दूसरे दिन मेरी आज्ञा लेकर सुखपूर्वक चले जाना।"

श्री धर्मसिंहजी गुरु की आज्ञा पाते ही, सीधे दरियाखान

पीर के देवल पर गए और मौलवियों से आज्ञा मांग कर रातके लिए वहीं ठहर गए और मुसलमानों ने बहुत समझाया कि—"महाराज ! यहां रात में कोई नहीं रहता है, जो रहता है अवश्य ही उसकी मृत्यु हो जाती है। आप चाहकर क्यों मरना चाहते हैं ?"

लेकिन, धर्मसिंहजी को तो गुरु की आज्ञा थी। सो आग्रह-पूर्वक उन्होंने वहीं रहने की आज्ञा प्राप्त कर ली—

संध्या होते ही धर्मसिंहजी महाराज अपने ध्यान कायोत्सर्ग और शास्त्र-स्वाध्याय में तल्लीन हो गए। एक पहल बीत गया। दरियाखान अपनी कब्र पर आया और उसने देखा कि एक साधु वहां पालथी मारे बैठा स्वाध्याय कर रहा है। उसने शास्त्र की वाणी सुनी, उसका क्रूर मन बदल गया, नम्र होकर धर्म-सिंहजी महाराज की सेवा-सुश्रूषा करने लग गया। धर्मसिंहजी महाराज ने उसे दया-धर्म का उपदेश दिया। उसने भविष्य में लोगों को न मारने की प्रतिज्ञा की।

रात बीत गई। जनता में इससे बड़ी सनसनी फैली। गुरु-देव शिवजी इस रोचक घटना को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो गए। उन्होंने सुखपूर्वक विचरने की आज्ञा दे दी।

धर्मसिंहजी महाराज ने गुरुके पास से विहार करके अह-मदाबाद ही जाना ठीक समझा और दरियाई दरवाजे पर ठहर कर लोगोंको जैनधर्म का शास्त्रीय ज्ञान सुनाया। दरिया-

पीरके चमत्कार के कारण, इनके नामके आगे सम्प्रदायका नाम भी "दरियापीर सम्प्रदाय" रखा गया।

यह घटना संवत् १६६२ वें की है।

इनके उपदेश का असर अहमदाबाद पर बहुत गहरा पड़ा। राजा के कामदार दलपतरायजी भी इनसे बहुत प्रभावित हुए। इनका शिष्य परिवार भी बढ़ने लगा और साथमें अनुयायी वर्ग भी।

स्मरणशक्ति का चमत्कार

एक ब्राह्मण ने उनसे एक सहस्रात्मक श्लोक वाले ग्रन्थ के अर्थ को जानने की जिज्ञासा प्रकट की। वे बोले—"अच्छा आज यह ग्रंथ हमें दे जाओ, कल तुम्हें यह ग्रंथ लौटा देंगे और इसका अर्थ समझा देंगे।" ब्राह्मण ने स्वीकार किया।

दूसरे दिन तो श्री धर्मसिंहजी महाराज ने उस ब्राह्मण के एक हजार श्लोक कण्ठस्थ करके अर्थ सहित सुना दिए, ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो गया और जैनधर्मानुयायी बन गया।

उनकी अगाध बुद्धि, विलक्षण प्रतिभा और दिव्य-मूर्ति जिन-शासन के लिए वरदान स्वरूप बनी। उनकी देन अपार है। उनके वक्तृत्व से, लेखन से, चमत्कार से, प्रखर संयम-पालन से जनता को जिन-शासनानुयायी बनाया और धर्म का उद्योत किया।

स्वर्गवास—

पूज्य धर्मसिंहजी ने हजारों लोगों को उपदेश दिया और

आत्म-साक्षात्कार का दिव्यमार्ग बताया। आखिर उन्हें सारंग-गांठ का दर्द हो गया। शरीर शिथिल हो गया। धर्म की वह दिव्य तेजस्विनी मूर्ति सं० १७२८ में ४३ वर्ष की शुद्ध दीक्षा पाल कर आश्विन शुक्ल ४ को सदा के लिए ओझल हो गई।

उनकी विशेषताएं

तीक्ष्ण बुद्धि, विलक्षण स्मरणशक्ति, गहन मननशीलता, अपनी वक्तृत्वकला, लेखन आदि अनेकानेक सद्गुणों से सद्-लंकृतता उनकी दिव्य देह प्रभासे अपने युगको प्रभासित करती रही है। उनके जीवन-क्षेत्र की ये कतिपय विशेषताएं थीं।

पू० धर्मसिंहजी महाराज की देन

पूज्य श्री जी का अभ्यास गहरा था। विचारणा और मनन करने के वे निरन्तर अध्यवसायी थे। उन्होंने अपने जीवन में साहित्य-सेवा का महानतम कार्य किया था।

२७ शास्त्रों पर उनके लिखे टब्बे आजतक समाजमें सम्मान-पूर्वक स्वाध्याय की वस्तु बने हुए हैं। और:—

१. समवायांग सूत्र की हुंडी, २. भगवती सूत्र का यन्त्र, ३. रायप्रसेणी, ४. ठाणांग, ५. जीवाभिगम, ६. जंबू द्वीप-पन्नती और चन्द्रपन्नति, शास्त्रों पर मंत्र, ७. व्यवहार तथा समाधिसूत्र की हुंडी, ८. द्रौपदी और सामायिक की चर्चा, ९. साधु समाचारी, १०. चन्द्रप्रज्ञप्ति की टीप।

यह धर्मशास्त्रीय देन कितनी विशाल, कितनी महत्त्वपूर्ण है

इसको जानते हुए, हम उनके परम पुरुषार्थी जीवन की ओर आकर्षित होते हैं।

मेरा विश्वास है कि जीवराजजी महाराज संयम की जो बाड़ लगा गए थे उसे साहित्य के रस से सिंचन कर जैन स्थानकवासी सम्प्रदाय रूपी बाड़ी लगाने का काम इन्हीं महापुरुषने किया है।

श्री धर्मसिंहजी महाराज महान् थे और उनका उत्सर्ग महान था।

धर्मसिंहजी महाराज की मान्यता

स्थानकवासी सभी साधुओं का आगम विषयक विश्वास एक-सा है। वेष और मान्यता तथा सभी सामान्य नियमों में समस्त सम्प्रदाय एक समान हैं, किन्तु फिर भी बुद्धिवश अथवा परिस्थितिवश प्रत्येक सम्प्रदाय में कुछ-कुछ भिन्न मान्यताएं अवश्य पाई जाती हैं। उन मान्यताओं का आत्मसाधना के क्षेत्र में चाहे कुछ भी महत्त्व न हो किन्तु सम्प्रदाय की दीवार खड़ी रखने के लिए इन्हीं छोटी-छोटी मान्यताओं ने आजतक सहयोग दिया है।

धर्मसिंहजी महाराज की मान्यताओं में भी इतर सम्प्रदायों से कुछ भेद है। मुख्यतया आठ कोटि और छः कोटि का सबसे बड़ा भेद है। साधु का नौ कोटि का प्रत्याख्यान होता है। मन, वचन, काया से तथा त्रिविध कृत कारित अनुमोदित से। श्रावक का छः कोटि का प्रत्याख्यान होता है, किन्तु धर्म-

सिंहजी महाराज का विश्वास आठ कोटि का था। उनकी मान्यता थी कि श्रावक का प्रत्याख्यान भी आठ कोटि का होता है। इस विषय पर हम आगे बढ़ना नहीं चाहते। उन्हें धन्य है जो नौ कोटि-प्रत्याख्यान करते हैं और जो छः कोटि की अपेक्षा आठ कोटि का प्रत्याख्यान करते हैं वे भी धन्य है, इसमें द्वंद्व अथवा विरोध जैसी कोई बात नहीं है।

समाचारी विषयक दरयापुरी सम्प्रदाय में और इतर सम्प्रदायों में जो कुछ अन्तर पाया जाता है, वैसा सभी सम्प्रदायों में—पारस्परिक तुलना में, पाया जाता है।

धर्मसिंहजी का विश्वास था कि मृत्यु निश्चित समय पर ही होती है, उसमें अकाल मरण जैसी कोई बात नहीं है। आयुष्य टूटने के सात कारणों को भी वे स्वीकार नहीं करते थे।

धर्मसिंहजी महाराज की परम्परा

पूज्य धर्मसिंहजी महाराज का प्रचार-क्षेत्र सारा गुजरात और सौराष्ट्र प्रदेश रहा है। गुजरात प्रान्त पर तो अबतक दरयापुरी सम्प्रदाय का एकमात्र प्रभुत्व है। उनका शिष्य वर्ग तथा अनुयायी वर्ग अति विशाल था। उनका सम्प्रदाय आज तक अपनी तेजस्विता और शांतिवृत्ति के लिए प्रख्यात है। उनकी पाद-परम्परा बहुत लम्बी है। उनके बाद सोमजी ऋषि इस सम्प्रदाय के सर्वेसर्वा आचार्य हुए। उनके बाद मेघजी हुए। बाद में आजतक उनके सम्प्रदाय के पाटधर बीस बाईस हो

चुके हैं। सभी अपने संयम, त्याग तथा श्रुताभ्यास के बलसे जिन-शासन की सेवा करते रहे हैं।

इस सम्प्रदाय की एक प्रसन्नतादायक विशेषता यह रही है कि इसमें से दूसरे सम्प्रदायों की बेले नहीं फूटीं। आजतक एक ही कड़ी चली आ रही है।

पू० धर्मदासजी महाराज

पूज्य धर्मदासजी एक प्रतिभाशाली महात्मा थे। उनका स्थान लोंकाशाह, जीवराजजी, धर्मसिंहजी तथा लवजी ऋषि के बाद आता है। किन्तु समाज की ज़ाहोज़लाली तथा सुन्दर व्यवस्था लाने का श्रेय इन्हीं महात्मा को है।

जीवन-परिचय

धर्मदासजी का जन्म अहमदाबाद के पास में ही स्थित, सरखेज गांव में हुआ था। वह जाति के भावसार थे। उस ग्राम में ७०० घर भावसारों के थे। सभी लोंकागच्छी थे। जीवनदास, कालीदास भाई वहांके संघपति तथा प्रमुख थे।

उन्हींके घर में माता हीराबाई की कुंख से आपका जन्म हुआ था। संवत् १७०१ चैत्र शुक्ल एकादशी का वह शुभ दिन था, वर्षा सुहावनी हो रही थी, छोटी-छोटी बदरियां पानी की फुहारें बरसा रही थीं, जब इस महापुरुष का अवतरण हुआ।

बाल्यकाल—

बाल्यकाल सम्पन्न करके, सुसंस्कृत संस्कारों में पला हुआ धर्मदास बचपनमें ही एक गंभीर, आकर्षक तथा मधुर व्यक्तित्व-पूर्ण होनहार बालक लगता था।

हीरा-मां की हीरे-जैसी अनमोल शिक्षाएं और पिता

जीवनदास की जीवन विषयक अनुभूतियां—उन्हें बचपन में ही प्राप्त हुई थीं। शरीर से ये सर्वांग सुन्दर, स्वस्थ, पुष्ट तथा कान्तिमान् थे। पास पड़ोस के लोग उनकी वाणी पर मुग्ध थे। जनता उनकी सुन्दरता पर तथा माता-पिता उनकी विलक्षण प्रतिभा पर लट्टू थे।

पिताजी ने आपको लोंकागच्छ के उपाश्रय में पढ़ने के लिए नियुक्त कर दिया। उस समय वहां केशवजी यति के पक्ष के श्रीपूज्य यति तेजसिंहजी विराजते थे। वे ही, इन्हें प्रेमपूर्वक निर्ग्रन्थ-वाणी का परायण करवाते थे।

सामयिक-प्रतिक्रमण, जीवाजीव-विचार आदि धार्मिक ज्ञान बहुत शीघ्र ही, आपने आत्मसात् कर लिया था।

माता प्रसन्न थी कि उसका लाड़ला शिक्षा प्राप्त कर रहा है, पिता प्रफुल्लित थे कि उनका उत्तराधिकारी ऊँचा ज्ञान प्राप्त कर कुल की कीर्ति को बढ़ाएगा। संघ उस बालक की प्रगति में अपना मधुर स्वप्न देख रहा था और पूज्य तेजसिंह उनकी प्रतिभा पर इतने मुग्ध थे कि वे उसे अपने गद्दीधर शिष्य के रूप में देखना चाहते थे।

चाँद के उदय से निशा, कुमुद, कामिनी, हरेक अपनी अपनी आशा लगाए रहते हैं किन्तु चाँद, चाँद ही होता है।

शास्त्राभ्यास ने उनके सुप्त वैराग्य को भावभीना बना दिया। उनकी भावना विरक्ति की ओर प्रवाहित हुई और उनकी आत्मा संसार से निर्लिप्त रहने लगी।

पात्रिया पंथ

पात्रिया पंथ उस समय की आकर्षक घटना है। उस पंथ के ब्रह्मचारी रक्तवस्त्र पहनते थे। संभव है कि एक पात्रा रखने के कारण उनका नाम पात्रिया पड़ गया हो।

संवत् १६६० में उस पंथ का निर्माण हुआ था। सर्वानिया गांव उस पंथ की जन्मभूमि है और प्रेमचन्दजी श्री श्रीमाल उस पंथ के प्रणेता थे। उन्होंने जयरामजी के सुपुत्र लोंकागच्छीय श्री कुंवरजी यति से संघर्ष कर इस पंथ का आविष्कार किया था।

उनकी मान्यता थी कि पंचम आरे में साधु होना असम्भव है। संयम मार्ग का भी १४ पूर्वों की तरह विच्छेद हो गया है। इसलिए इस पंथ के ब्रह्मचारी लाल वस्त्रों में ही इतस्ततः प्रचार किया करते थे। वे अपने आपको श्रावक ही कहते थे।

उसी पंथ के एक अग्रसर कल्याणजी भाई घूमते हुए सरखेज आए। धर्मदासजी पर उनके सम्पर्क का गहरा प्रभाव पड़ा। वैराग्य तो उनके हृदय में था किन्तु यतियों के शिथिलाचार से वे प्रपीड़ित थे। उनका मन संयम लेने को करता था लेकिन वे यतियों के पास संयमी नहीं बनना चाहते थे।

माता-पिता से उनकी लम्बी चर्चा चल चुकी थी। पिता ने स्वीकृति दे दी और धर्मदासजीने कल्याणजी भाई का शिष्यत्व स्वीकार कर उस पंथ की श्रद्धा को अपना लिया।

एक वर्ष तक निरन्तर उनके संपर्क में रहे, शास्त्राभ्यास किया। एक दिन भगवती सूत्र के २१ वें शतक, तीसरे उद्देशक

का पाठ उनके सामने आया, जिसमें स्पष्ट उद्घोषणा किया गया था कि भगवान् का शासन भगवान् के निर्वाण के अनन्तर २१००० वर्ष तक चलना है। उनके सम्मुख पात्रिया पंथ की श्रद्धा और शास्त्र का पाठ दोनों साकार हो गए।

वे निर्णय करने बैठे और अन्त में शास्त्र की उक्ति को ही सर्वोपरि मानकर उस श्रद्धा का परित्याग कर दिया।

उनकी मान्यता तथा शास्त्र के पाठ का प्रभाव पात्रिया पंथ के अन्य अनुयायियों पर भी पड़ा, जिससे उन्होंने वि० सं० १७१६ में १७ मनुष्यों के साथ स्वतंत्र रूप से ही अहमदाबाद में शुद्ध दीक्षा धारण की।

आपकी दीक्षा के संबंध में मुनिवरों में मतभेद है परन्तु अधिकतर सन्तगण यही मानते हैं कि धर्मदासजी ने दीक्षा स्वतंत्र रूप से ली थी।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने धर्मसिंहजी महाराज अथवा लवजी ऋषि से दीक्षा क्यों न ली?

इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि पूज्य धर्मदासजी का, अहमदाबाद में आचार्य धर्मसिंहजी से खूब वार्तालाप हुआ था किन्तु धर्मसिंहजी महाराज के मन में आठ कोटि सामयिक तथा आयुष्य टूटने सम्बन्धी विचार इतने गहरे बैठे हुए थे कि धर्मदासजी का मन माना नहीं।

वार्तालाप में दोनोंका दृष्टिकोण, दोनों के उद्देश्य, दोनों का पंथ और दोनों के आधार-आगम एक होते हुए भी २१ बोलों

का अन्तर रह गया, जिनपर दोनों महापुरुष एकमत नहीं हुए। यही कारण था कि दोनोंका मिलाप तो हुआ किन्तु गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका।

लवजी ऋषि से भी उनकी ज्ञान चर्चा हुई थी। आगमिक तथा सामाजिक सभी दृष्टिकोणों से वार्तालाप तो हुआ होगा, किन्तु सात बातों का आपस में समाधान न कर सके, जिससे धर्मदासजी लवजी ऋषि के पास भी दीक्षित नहीं हुए। इससे उनके अन्तर में गुरुशोध की उत्कट भावना का पता लगता है।

इसलिए ऐतिहासिकों का ऐसी मान्यता है कि धर्मदासजीने स्वतंत्र रूप से दीक्षा ली।

टिप्पणी–

श्री धर्मदासजी म० के सम्प्रदायनुयायी की वर्तमान में श्री किशनलालजी (मंत्री मुनिवर) म० से प्राप्त पट्टावली से एक तीसरे मत का उल्लेख प्राप्त होता है कि—

श्री काहिनजी ऋषिजी पास थी सूत्रनिरावलिका का तीनों वर्ग सुनी ने प्रतिबोध पाकर सं० १७१६ के साल अश्विन शु० ११ सोमवार अभिजित नक्षत्र के चौथे प्रहर सात जनों के साथ दीक्षा धारण की।

(श्री मोती ऋषिजी म० के सौजन्य से)

(उनके एक शिष्य जीवराजजी महाराज ने सात मुनिवरों के साथ क्रियोद्धार किया था। धर्मदासजी को उनका संसर्ग प्राप्त हुआ था। उनसे ज्ञान-चर्चा तथा श्रद्धा विषयक वार्तालाप

भी हुआ था। दोनोंका मन्तव्य सम्मत हो गया। निषेध और विधि में दोनों परस्पर में समविचारक पाये गये थे, जिससे श्रद्धानत होकर धर्मदासजी महाराज ने उन्हें अपना गुरु मान लिया।)

संभव है कि यह बात सत्य के समीप हो, किन्तु जहांतक पुराने पत्रों का प्रश्न है मुझे ऐसा एक भी ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका। क्योंकि यदि धर्मदासजी ने जीवराजजी महाराज को अपना गुरु स्वीकार किया होता तो कोई कारण नहीं था कि शिष्य के रहते गुरु का नाम इतना अप्रसिद्ध हो जाता।

यद्यपि धर्मदासजी लोकप्रिय थे और जनता गुरु की अपेक्षा शिष्य को ही अधिक जानती थी तथापि धर्मदासजी तो अपने गुरु का नाम लेते ही। किन्तु ऐसा कोई प्रमाण अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है जो इस मत की पुष्टि करे।

उन्होंने नगर से बाहर बादशाह की बाड़ी में १६ साधकों के साथ दीक्षा धारण की थी।

दीक्षा का प्रथम दिवस

दीक्षा लेते ही गुरु आज्ञा से धर्मदासजी को गोचरी के लिए भेजा गया। अकस्मात् वे एक ऐसे कुम्हार के घर पहुंचे जहां साधुओं के द्वेषी रहते थे।

उन्होंने द्वेषवश उनके पात्रों में राख बहरा दी। राख तो थी ही, कुछ उड़ गई और कुछ पात्र में बच रही।

धर्मदासजी राख लेकर सीधे गुरु के द्वार आए और राख दिखाकर बोले:—"गुरुदेव ! मुझे आज गोचरी में यह राख प्राप्त हुई है।"

वा० मो० शाह तथा सन्तबालजी का कहना है कि उन्होंने यह राख पूज्य, धर्मसिंहजी महाराज को दिखाई थी। खैर, जिसने भी देखा हो उन्होंने यही कहा—"धर्मदास ! संसार में तुम्हारी अमर कीर्ति इस राख की तरह फैलेगी, तुम्हारी वंश परम्परा बहुत फैलेगी। जिन शासन के आकाश में तुम चांद सितारों की तरह चमकोगे। जिस प्रकार राख के बिना कोई घर नहीं होता, उसी प्रकार तुम्हारे भक्तों के सिवाय, कोई ग्राम या प्रान्त नहीं होगा।

यह घटना सं० १७२१ की है। इनके गुरुदेव का स्वर्गवास इनकी दीक्षा के २१ दिवस बाद ही मार्गशीर्ष कृ० प० ५ को हो गया था, जिससे लोगों में ऐसा भ्रम फैल गया कि धर्मदासजी स्वयंबोधी हैं, उनका मनोनीत कोई गुरु नहीं बना।

धर्मदासजी पर सारे सम्प्रदाय का पूर्ण दायित्व था। उन्होंने बड़ी कुशलता से उसे पूरा किया और भारतवर्षके अन्यान्य प्रान्तों में घूम-घूम कर प्रचार किया।

१७२१ में ही धर्मदासजी महाराज के अनुयायी संघ ने सोचा कि इस समय सबसे बड़े प्रतापी सन्त धर्मदासजी महाराज ही हैं अतः उन्हें आचार्य पद दिया जाय।

संघने आपसे विनती की और आपने विनती को सादर स्वीकार किया।

मालवा के पाटनगर उज्जयिनी में ही आपको सं० १७२१ में बड़े समारोह के साथ आचार्य की उपाधि से विभूषित किया गया।

प्रचार क्षेत्र

पूज्य धर्मदासजी महाराज ने अपनी दिव्य वाणी से कच्छ, काठियावाड़, खानदेश, बागर, सौराष्ट्र, पंजाब, मेवाड़, मालवा, हाड़ौती, ढुंढार आदि प्रान्तों को आलोकित किया। आधे से अधिक भारत में वे निर्ग्रन्थ-धर्म का प्रचार करते हुए घूमे थे।

प्रभाव और व्यक्तित्व

पूज्य धर्मदासजी महाराज का प्रभाव गहरा था। समाज और साधुवर्ग आपको आदर की दृष्टि से देखता था और जैन शासन उन्हें अपने भाग्य-विधाता के रूपमें देखता था।

हमारा अनुमान है कि धर्मदासजी महाराज ने क्रान्ति की अपेक्षा प्रचार को अधिक महत्त्व दिया। यही कारण है कि उन्होंने नंगे पाँव भारत भूमि के आधे भूभाग को पादप्लावित कर दिया। तीनों महापुरुषों की विरासत स्थानकवासी समाज को मिली उसे इन्होंने अत्यन्त व्यवस्थित तथा अनुशासित बनाने का प्रयत्न किया। किसी भी समाज को व्यवस्थित बनाना किसी महान् प्रभविष्णु महात्मा का ही काम होता है।

उनका व्यक्तित्व सौम्य था, क्योंकि जिस किसीसे उनकी ज्ञान-चर्चा हुई उसीसे प्रगाढ़ स्नेह हो गया।

धर्मसिंहजी महाराज तथा लवजी ऋषि के साथ २१ और सात बोलों का अन्तर रहने पर भी स्नेह सम्बन्ध बहुत गहरा बन गया था। धर्मसिंहजी महाराज तो इन्हें अपने शिष्यों से भी अधिक चाहते थे। अहमदाबाद का प्रेम-मिलन इसका प्रमाण है।

शिष्य परम्परा

पूज्य धर्मदासजी महाराज की शिष्य परंपरा तत्कालीन सभी महापुरुषों से अधिक है। उनको ९९ शिष्यों की सम्पदा प्राप्त हुई थी। ९९ में से ३५ तो संस्कृत और प्राकृत भाषा के अच्छे पंडित थे।

पूज्य धर्मदासजी का परिवार बहुत बड़ा था। उनके ९९ शिष्य और फिर शिष्यों के शिष्य। ३५ शिष्यों के साथ तो शिष्यों की एक टोली बन गई थी।

उन साधकों की व्यवस्था तथा शिक्षा का प्रबन्ध करना भी किसी एक का काम नहीं था। इसलिए पूज्य धर्मदासजी महाराज ने इन सब शिष्यों को २२ विभागों में बांटने की सोची। यही एक रास्ता था जिससे सभी शिष्यों को उत्तरदायित्वपूर्ण ज्ञान-दर्शन तथा संयम का यथेष्ट पोषण प्राप्त हो सके।

२२ सम्प्रदायों की उत्पत्ति

पूज्य धर्मदासजी महाराज उस समय धार में थे। उन्होंने

समस्त शिष्यों और प्रशिष्यों को एकत्रित कर अपनी योजना उनके सम्मुख प्रस्तुत की। अच्छा होता यदि २२ सम्प्रदायों की अपेक्षा एक ही सम्प्रदाय रहने दिया होता और उन्हें गणी, गणावच्छेदकों आदि के नियंत्रण में कर दिया जाता। किन्तु यह होता कैसे ?

सब शिष्यों ने प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया और चैत्र शुक्ला १३ महावीर जयन्ती के उपलक्ष्य में सं० १७७२ में २२ सम्प्रदाय की स्थापना कर दी गई और अपनी सम्पूर्ण शिष्य-परंपरा २२ शिष्यों के नाम से तथा २२ शिष्यों के नियंत्रण में विभक्त कर दिया।

कुछ इतिहासकारों का ऐसा मत है कि श्री धर्मदासजी महाराज का स्वर्गवास १७६६ में ही हो गया था। किन्तु उनकी मृत्यु के उपरान्त जब सारी शिष्य-परम्परा विशृंखलित हो गई तब ६६ शिष्यों में से मूलचन्द्र महाराज जैसे प्रभावी सन्त ने समूची शिष्य परम्परा को धार में एकत्र किया और उसे २२ सम्प्रदायों में विभक्त कर दिया।

खैर, कुछ भी हो, धार में ही इन सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। दूसरा मत अधिक प्रामाणिक लगता है, क्योंकि ऐसे प्रभावशाली गुरु के होते हुए उन्हें शिष्यों को विभक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

२२ सम्प्रदायों के नाम

१. पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज,

२. पूज्य श्री धनाजी महाराज,
३. पूज्य श्री लालचन्दजी महाराज
४. पूज्य श्री मनाजी महाराज,
५. पूज्य श्री बड़े पृथिवीराजजी महाराज,
६. पूज्य श्री छोटे पृथिवीराजजी महाराज,
७. पूज्य श्री बालचन्दजी महाराज
८. पूज्य श्री ताराचन्दजी महाराज
९. पूज्य श्री प्रेमचन्दजी महाराज
१०. पूज्य श्री खेतशीजी महाराज
११. पूज्य श्री पदार्थजी महाराज
१२. पूज्य श्री लोकमलजी महाराज, .
१३. पूज्य श्री भवानीदासजी महाराज,
१४. पूज्य श्री मलूकचन्दजी महाराज,
१५. पूज्य श्री पुरुषोत्तमजी महाराज,
१६. पूज्य श्री मुकुटरायजी महाराज
१७. पूज्य श्री मनोहरदासजी महाराज
१८. पूज्य श्री रामचन्द्रजी महाराज,
१९. पूज्य श्री गुरुसहायजी महाराज,
२०. पूज्य श्री बाघजी महाराज
२१. पूज्य श्री रामरतनजी महाराज,
२२. पूज्य श्री मूलचन्दजी महाराज,

२२ सम्प्रदाय का नाम भारतवर्षके जैन समाज में अत्यधिक

प्रचलित है। इन्हें २२ टोले भी कहा जाता है। क्योंकि किसी मतभेद के कारण ये सम्प्रदाय नहीं बने वरन् शिष्यों के टोले की उचित व्यवस्था तथा सुचारु प्रचार के लिए ही इन्हें विभक्त किया गया था।

पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज का देहावसान बड़ा ही रोमांचकारी है।

पूज्य धर्मदासजी महाराजका देहावसान

आपके मरण की घटना आपके जीवनकाल से भी अधिक तीक्ष्ण, प्रखर रोमांचकारी है।

आपने सुना कि धारा नगरी में एक मुनि ने यावज्जीवन का अनशन करके आमरण संथारा कर दिया है। किन्तु अब उसके परिणाम कुछ शिथिल पड़ गए हैं, अतः उसकी इच्छा अनशनकी प्रतिज्ञा को तोड़ देने की है।

पूज्यश्रीजी ने यह वार्ता सुनी तो समाचार भिजवाया कि मेरे आनेसे पूर्व प्रतिज्ञा भंग न की जाय। मुनि ने उनकी आज्ञा मान ली।

पूज्य श्री जी अतीव शीघ्रता से विहार करके सायं धारा नगरी में आ पहुंचे। पिपासाकुल मानस तथा क्षुधित उदर अन्न-जल मांग रहा था किन्तु पूज्य श्रीजी ने आतेही समझाया "भाई प्रतिज्ञा करके तोड़ा नहीं करते, तुम तो साधु हो, जीवन-मरण की चिन्ता त्याग कर प्रतिज्ञा का पूर्ण पालन करो।"

किन्तु, उस मुनि का साहस टूट चुका था। उसपर पूज्यश्री जी की वाणी का रंचमात्र भी असर नहीं हुआ। उसने तो पुनः प्रतिज्ञा भंग करने की बात को दुहराया।

पूज्य श्रीजी ने झटपट अपना बोझ उतारा, सम्प्रदाय का दायित्व मूलचन्दजी महाराज को सौंपा और संघ को अपने मन्तव्य से अवगत कराया और तुरन्त स्वयं उसके स्थान पर आमरण संथारा करने बैठ गए।

वे पानी और आहार लेकर भी ऐसा कर सकते थे, किन्तु उन्हें तो मृत्युका तनिक भी भय न था और जीवन की आकांक्षा न थी। वे मृत्यु को जीवन का नव सन्देश मानते थे।

मृत्यु-पथ से ही तो मुक्ति-ग्राम को जाया जाता है। इसलिए मृत्यु का स्वागत करने को तैयार हो जाना चाहिए।

बस, पूज्य श्री जी तो संथारा करके स्वाध्याय, जप, तप, कायोत्सर्ग और आत्मदर्शन में लीन हो गए।

उनके शरीर की उग्रता बढ़ती जाती थी और आनन पर आत्मतेज प्रदीप्त होता जाता था। उनके दिव्य ललाट पर एक दैवी आभा छाने लगी और मुखमण्डल पर एक विलक्षण कान्ति।

उनका साहस अटूट था और उनका मनन गहन तम। मौलिक विचारों के वे उद्भावक थे और जीवन-दर्शनके द्रष्टा।

शरीर कृश होता गया, प्रतिज्ञा का ओज और बल बढ़ता गया।

एक दिन, सुहावना समय था, वर्षा की मन्द-मन्द फुहार पड़ रही थी कि मृत्यु देवी ने उन्हें अपनी गोद में ले लिया।

संवत् १७६६ वा १७७२ में वह भावसार जाति का दीपक, जैन शासन का नक्षत्र, स्थानकवासी समाज का विशाल स्तंभ हमारे बीचसे सदाके लिए ओझल हो गया।

उनका बलिदान अमर था, उनका उत्सर्ग महान् था। उन्होंने केवल अपने धर्म की कीर्ति-रक्षा के लिए अपने प्राणों को धर्म की वेदी पर हंसते-हंसते समर्पित कर दिया।

धन्य है उस महान् आत्मा को, धन्य है उस बलिदान के अमर देवता को।

धर्मदासजी महाराजकी परम्परा

उनकी शिष्य-परम्परा विशाल थी तो उनका प्रचार क्षेत्र भी विशाल था। कच्छ से लेकर संयुक्त प्रान्त तक, उन्होंने पाद-भ्रमण किया था। स्वयं धर्मदासजी महाराज ने भी कितने ही प्रान्तों को धर्म से आप्लावित किया था। किन्तु उनकी योग्य शिष्य परम्परा ने तो समूचा भारत ही पादाक्रान्त करके वश-वर्ती कर लिया था।

मूलचन्दजी महाराज

धर्मदासजी महाराज के प्रधान शिष्य श्री मूलचन्दजी महाराज गुजरात, काठियावाड़ तथा कच्छ में जैन-धर्म की वैजयन्ती फहरा रहे थे।

वे अधिकतर अहमदाबाद में ही रहे, वहांपर ही उन्होंने समूचे प्रान्त में धर्म प्रचारक तथा आत्मसाधक मुनिवर्ग तैयार किये। काठियावाड़ के सातों बड़े सम्प्रदाय उसी महापुरुष के परिश्रम की देन हैं।

मूलचन्दजी महाराज के सात ही मुख्य पट्टधर शिष्य थे, उन्होंने सात सम्प्रदाय चलाए।

लिंबड़ी, गौंड़ल, बरवाला, चूड़ा, ध्रांगध्रा और कच्छ तथा प्रतिशाखा के रूप में सावन्ती, बोटाद, खम्भात के सम्प्रदाय आदि सब उन्हीं महापुरुष के शिष्यों का प्रसाद है।

यह ठीक है कि जिस समय ये भिन्न-भिन्न साधुओं के दल स्थापित हुए उस समय इनके पीछे कोई बाड़ाबन्दी की भावना नहीं थी, किन्तु धीरे-धीरे इन्हीं एक गुरु के शिष्यों के दलों ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की स्थापना कर ली और कहीं-कहीं तो अहंवशता के कारण वे परस्पर के प्रतिस्पर्द्धी भी बन गए।

यह सम्प्रदायों के अधीश्वरों की भूल थी। भगवान् के ११ गणधर थे किन्तु १४ हजार शिष्यों के गणों को भगवान् ने गणधरों के अनुशासन में विभक्त कर रखा था।

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं था कि वे सब भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बन गए थे। वे सब एक थे केवल व्यवस्था के लिए ही ऐसा समुचित प्रबन्ध किया गया था।

ठीक इसी भावना को लेकर धर्मदासजी महाराजके शिष्यों

में विभक्तिकरण किया गया था, परन्तु पारस्परिक अहंमन्यता के कारण ये ही आगे चलकर विभिन्न सम्प्रदाय बन गए।

धर्मदासजी महाराज का सम्प्रदाय केवल गुजरात, सौराष्ट्र में ही नहीं, अपितु पंजाब, मालवा, मेवाड़ तथा मारवाड़ आदि सभी स्थानों पर परिव्याप्त है।

आजकल जो स्थानकवासी साधु २२ सम्प्रदायों के कहलाये जाते हैं, उसका अर्थ भी धर्मदासजी महाराज के २२ शिष्यों द्वारा परिचालित २२ सम्प्रदायों से ही है।

आज भी उन २२ सम्प्रदायों की अस्खलित परम्परा पाई जाती है:—

पूज्य श्री रघुनाथ महाराज के मिश्रीमलजी महाराज,
पूज्य श्री जयमलजी महाराज के प्रवर्त्तक श्री हजारीमलजी महाराज,
पूज्य श्री रत्नचन्दजी महाराज के पूज्य श्री हस्तीमलजी महाराज,
लिम्बड़ी सम्प्रदाय में श्री नानचन्दजी महाराज,
छोटी लिम्बड़ी में श्री धनामलजी महाराज
सायला में श्री केशू मुनिजी महाराज,
गौंडल में मुनि श्री पुरुषोत्तमजी महाराज,
बोटाद में मुनि श्री माणिकचन्दजी महाराज,
आठकोटी मोटी पक्ष में श्री छोटेलालजी महाराज,
नृसिंहदासजीके सम्प्रदायमें मुनि श्री मोतीलालजी महाराज,

मनोहरदासजी के सम्प्रदाय में पूज्य श्री पृथिवीचन्द्रजी महाराज,

पूज्य रामरतनजी सम्प्रदायमें मुनि श्री धनसुखजी महाराज,

पूज्य धर्मदासजीके सम्प्रदायमें श्री सौभाग्यमलजी महाराज,

ज्ञानचन्दजी के सम्प्रदाय में श्री समरथमलजी महाराज,

इत्यादि। १७ सम्प्रदायों के १७६ साधु और ५३२ आर्यिकाएं अभी भी विद्यमान हैं।

पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज के शिष्य-वर्ग की इतनी विशाल परम्परा है।

पू० श्री धर्मदासजी महाराज के समय की सामाजिक स्थिति

पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज के समय में जैन-समाज की उथल-पुथल अपनी चरम सीमा तक पहुंच गई थी। मुखपत्ति और मूर्ति के प्रश्न विशेष उग्र बन गए थे। श्वेताम्बर समाज की दोनों विचारधाराएं, मूर्ति उपासक और गुणपूजक, अपनी मान्यताओं के कारण आपस में टकरा रही थीं।

समूचे समाज की धारणाएं एवं विश्वास साधु तथा यति-वर्ग पर केन्द्रित थे। चाहे साधु अथवा यति-वर्ग समाज-समाज के विश्वास के साथ खिलवाड़ करता या उसे ऊंचे स्तर पर पहुंचाने का प्रयत्न करता यह तो साधुओं और यतियों की नैतिकता पर निर्भर था। किन्तु यह निश्चित है कि साधुवर्ग

समाज के विश्वास को अपनी ओर आकर्षित करने में अधिक सफल रहे हैं। इसका कारण साधुओं की निःस्वार्थता और आदर्श-त्याग ही है।

उस समय सामन्त परिवारों पर चैत्यवासी-वर्ग का आधिपत्य था। यति-वर्ग का साधारण समाज पर ही नहीं, अपितु शासक-वर्ग पर भी यथेष्ट प्रभाव था, जिसका कारण उनकी मंत्र-तंत्र युक्त विलक्षण चिकित्सा-पद्धति थी।

इधर तपागच्छ और खरतरगच्छ का शक्ति सन्तुलन हो रहा था। गणी यशोविजय साहित्य-उपासना करके समाज का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। धर्मसिंहजी महाराज के शास्त्रीय टिप्पण और हुंडियें भी एक नूतन सर्जन था। उधर एकपात्रिया पंथ भी अपनी डमरू अलग बजा रहा था।

दिगम्बरों में भी तारण पंथ, २० पंथ और तेरहपंथ में अलग खटपट चल रही थी। सारांश यह कि समाज में विश्वास, साहित्य, विचारधारा, धर्मपद्धति और आगम आदि विषयों को लेकर एक विलक्षण द्वंद मचा हुआ था।

धर्मदासजी महाराज की विशाल शिष्य परम्परा समस्त भारत के जैनवर्ग पर छाती जा रही थी। उस समय समाज की दृष्टि उनपर केन्द्रित हो गई थी। समूचे सौराष्ट्र में उनका अनुयायी वर्ग बसा हुआ था। गुजरात, सूरत, अहमदाबाद में भी मूलचन्दजी महाराज के पैर जम रहे थे।

पंजाब, मालवा, मेवाड़ तथा मारवाड़ में यतियों और

साधुओं में एकता का अभाव था। यति वर्ग साधुओं के पैर टिकने न देता था। किन्तु साधुओं के पास धर्म था, त्याग था और आत्मोत्सर्ग की उत्कट भावना थी और यतिवर्ग के पास चिकित्सा थी, समाज सेवा थी और चमात्कारिकता के साथ सम्पत्ति का भी बल था।

फिर भी आध्यात्मिक तथा त्याग की शक्ति के सामने ये नामकर्म की शक्तियां न टिक सकीं। त्याग की विजय हुई और जनता ने साधुओं को ही अपने आत्म-पथ-प्रदर्शक गुरु के रूप में स्वीकार किया।

यतिवर्ग और साधुवर्ग की द्वंद्वात्मक स्थिति इतनी विभत्स है कि उसे अधिक विस्तृत करने की इच्छा नहीं होती। बस इससे इतना ही अनुमान लगता है कि मनुष्य जब साम्प्रदायिकता के नीचे दब जाता है तो उसे सत्यासत्य का भान नहीं रहता। धर्माधर्म का विचार नष्ट हो जाता है और स्वार्थ सामने आकर खड़ा रहता है। यही आन्तरिक स्थिति उस समय यतिवर्ग में काम कर रही थी।

जैन साधुओं का वेष

धर्म का कोई वेष नहीं होता क्योंकि उसका स्थान आत्मा है, और आत्मा स्वयं अरूपी है। किन्तु समाज का, सम्प्रदाय का, दल तथा पार्टियों का अपनी-अपनी सुविधानुसार कोई न कोई वेश होता है।

वेष का मुख्य लाभ है, परिचय ज्ञान, राजा, प्रजा, साधु, गृहस्थ, अध्यापक, शिष्य, नेता, समाज तथा पार्टी आदि परस्पर में इतने सम्बन्धित हैं कि इनका अलग-अलग परिचय पाने के लिए वेष की भिन्नता एक सुविधाजनक साधन है।

त्यागी और भोगी की पहिचान विशिष्ट ज्ञानी के सिवाय अन्तरंग से कौन कर सकता है? हां, वेष से अलबत्ता सारा समाज भलीभांति निश्चय कर लेता है कि अमुक साधु है और अमुक गृहस्थी।

वेष-परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। साधु-साधु के वेष में भी अन्तर है। अपने साम्प्रदायिक भेद का परिचय कराने के लिए भी वेष का ही उपयोग किया जाता है। उदासी, जैन, संन्यासी, फकीर, पादरी, परमहंस, वैरागी, नागे आदि अनेक प्रकार के साधु सम्प्रदाय हैं और उनके वेष भी विभिन्न हैं।

हिन्दू धर्मशास्त्रों में जैन साधुओं का वर्णन पाया जाता है। वहां जैन साधुओं के वेष का भी वर्णन पाया जाता है। जैनागमों में साधुओं के दो कल्प बताए गए हैं—जिनकल्प और स्थविरकल्प। जिनकल्प नग्न और स्थविरकल्प सचेल होता है। जैसेः— महाभारत मेंः—

"साधयामस्तावद् इत्युक्ता प्रतिष्ठतोसङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पार्थ नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुदृश्यमान मदृश्यमानञ्चं।"

अर्थात्—कोई उत्तक नामका विद्यार्थी अपने गुरु की स्त्री के लिए कुण्डल लाने गया और कुण्डल लेकर जब वापस आया तो रास्ते में उसने आश्चर्य के साथ बार-बार एक जैन साधु को देखा जो बिल्कुल नंगा था।

शिवपुराण में श्वेताम्बर सम्प्रदाय संत वेष का समर्थन मिलता है। जैसे—

"मुण्डं मलिनं वस्त्राश्च कुण्डिपात्र।
समान्वितम्, दधानं पुञ्जिका हस्ते चालयन्तं पदे पदे।
वस्त्रमुक्तं तथा हस्त क्षिण्यमाण प्रसेसदा,
धर्मांति व्याहरन्तं तम्।
नमस्कृत्य स्थितं हरेः॥"

"मलिन वस्त्र, काष्टपात्र और दूसरे हाथ में जन्तुरक्षक रजोहरण, वस्त्र मुक्त को हाथ में रखे हुए, बार-बार मुख पर रखते हुए "धर्म पाळो" ऐसा बोलते हुए, हरि को नमस्कार करके शान्त स्थित हो गए।"

यतिवर्ग के समय साधु का क्या वेष था ? यह विषय, शिव-पुराण, हरिबल मच्छी रास, भानुभुवन-चरित्र, हीरविजय रास तथा विपाक, भगवती और ज्ञाता आदि शास्त्रों से भलीभांति स्पष्ट हो जाता है। जैन साधु का वेष—मुखपत्ती, रजोहरण, चादर तथा चोलपट्ट ही माना गया है।

"सावचूरियति दिनचर्या", एक प्रसिद्ध तथा मान्य ग्रन्थ है। उसमें साधुलिंग की व्याख्या करते हुए बताया है कि:—

"बत्तीसं अंगुल दीहं रयहरणं, पत्तियाय उद्धेणं,
जीवाण रक्खणट्ठा लिंगट्ठा, चेव एयं तु।"

अर्थात्–३२ अंगुली दीर्घ रजोहरण, १६ अंगुल आयत मुखपत्ती, ये ही दो साधु की निशानी है जिससे जीव-रक्षा होती है।

इतना ही नहीं, महानिशीथ शास्त्र में तो मुखपत्ती की अनिवार्यता बताते हुए लिखा है:—

"कणठियाए वा मुहणंतगेणं,
वा विणा इरियं पडिक्कमेमिच्छुक्कडं पुरि भट्ठं।"

अर्थात्—मुखपत्ती के बिना इरियावही पडिक्कमे तो प्रायश्चित आवे।

महानिशीथ सूत्र की पहली चूलिका:—

"मुहणंतगेणं विणा इरियं पडिक्कमेज्जा।
वयण, पडिक्कमणं वा करेज्जा, जभाएज्जा, वा,
सज्जायंवा करेज्जावापणादि सव्वत्थं पुरिमड्ढं।"

अर्थात्–मुखपत्ती के बिना इरियावही करे, वंदन प्रतिक्रमण, जम्भाई, स्वाध्याय, वाचन आदि करे तो साधु को प्रायश्चित आवे।

शिवपुराण में एक स्थान पर स्थानकवासी साधु के वेष का वर्णन यों किया है:—

"हस्तेपात्रं दधानश्च तुण्डे वस्त्रधारकः मलिनान्येव वासांसि धारयन्तोश्च भाषिणाः,"

अर्थात्–हाथ में पात्र और मुख पर धारण किया हुआ वस्त्र तथा मलिन परिधान और अल्पभाषी जैन मुनि।

इन पाठों से साधु के वेष और मुखपत्ती की सार्थकता तो प्रगट होती ही है, किन्तु साधुओं का ऐसा ध्यान है कि मुखपत्ती केवल व्याख्यानादि के समय ही बांधनी चाहिए उनके लिए पंचवस्तु महाग्रन्थ की वृत्तिके ५५ वें पृष्ठ पर स्पष्ट उल्लेख है कि—

"इयरो वि ठिओ संतो सुणेइ पोत्तइ ठइअमुह-कमलो, सविग्गो उवबत्तो, अच्चंत सुद्ध परिणामो।"

अर्थात्—सुनने में तल्लीन, अत्यन्त शुद्ध मनोवृत्ति वाला, मुमुक्ष, शिष्य मुखकमल पर मुखपत्ती बांधे ही नन्दी सूत्र का पाठ सुने।"

इससे प्रमाणित हो जाता है कि मुखपत्ती केवल व्याख्यानादि प्रसंगों में हो नहीं अपितु शास्त्र श्रवण में भी बांधनी आवश्यक है। अतएव, मुखपत्ती और रजोहरण में जैन-साधु के आगम-प्रमाणित उपकरण हैं:—

साधु समाचारी में मृतक मुनि के मुख पर मुखपत्ती बांधने का आवश्यक विधान किया गया है। यथा—

"वृहत्कल्प भाष्य वृत्ति, प्रश्नोत्तर सार्धशतक्

आचार विनकर, आवश्यक चूर्णी।

आवश्यक वृहद्वृत्ति (जिनभद्र सूरिकृत)—व्यवहार, भाष्य वृत्ति और धर्मसंग्रह में मुखपत्ती बांधने का कड़ा नियम लिखा है। "मुहं मुहपोत्तियाए बज्झाई" का बार-बार उल्लेख किया

गया है। इतना ही नहीं, प्रवचन सारोद्धार पत्र १६७ में वाग्गुप्ति का विशदीकरण बताते हुए भी मुखपत्ती का मुख पर बांधने का ही दिग्दर्शन कराया गया है।

आचार्य वल्लभविजयजी का लिखा हुआ पत्र भी इस तथ्य की उद्घोषणा करता है कि मुखपत्ती का व्यवहार परम्परा से चला आ रहा है। इस पत्र का संक्षेप इस प्रकार है:—

"श्री.

मु० सूरत बन्दर,

आलमचन्द जी यथायोग्य आचार्य महाराज श्री १००८ श्रीमद् विजयानन्दजी सूरीश्वरजी महाराज आदि साधु मण्डल ठाणो ७ तर्फ से वन्दनानुवंदण,

मुखपत्ती विषय में हमारा इतना ही निवेदन है कि मुखपत्ती बांधनी अच्छी है। और घणे दिनों से परम्परा चली आई है। इनको लोपना अच्छा नहीं। हम बन्धणी अच्छी जानते हैं।

१९६७, कत्तकवदि SS, वार—बुध, दस्तखत

"वल्लभविजयजी की वंदणा वाचनी दिवाली के रोज दश बजे चिट्ठी लिखी है।"

इससे आगे बढ़कर आचार्य श्री विजयनीतिसूरीश्वरजी महाराज ने "श्री मुखपत्ती चर्चा सार", पुस्तक में जिसे पन्यास रत्नविजयजी गणी ने संग्रहित किया है, उसमें निवेदन प्रगट करते हुए लिखा है:—

"व्याख्यानादिक प्रसंगोमें, मुहपत्ती बंधन ने शास्त्रीय अने

सुविदित पुरुषोअे करेली अने आचरेली, अविच्छिन्न परम्पराएं चालती अवती प्रवृति छे। एवी हमारी सम्पूर्ण खातरी छे, अने श्रद्धा छे। आ पुस्तक मां आपवामां आवेला पूर्वाचार्यों ना ग्रन्थोना उल्लेखो जोवाया ते सविशेष दृढ़ थाय छे।"

इसी पुस्तक के प्रकाशक महाशय अपने आमुख में स्पष्ट उद्घोषणा करते हुए लिखते हैं:—

"लगभग आज थी पोणो सो-अेंशी वर्ष पहेला श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ मां कोई पण गच्छ, सम्मुदाय के उपाश्रय अेवो न होतो के जेमां मुहपत्ती बांध्या विनानुं व्याख्यान, वंचातुं के समलातुं होय।"

आजे पणे, मुहपत्ती बान्धी ने वांचेलु के सामकेलुं व्याख्यान कल्पे, अेममाननारो अने अे मान्यता ने चुस्तपणे वधगी रहेनारो श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी नो समुदाय अस्तित्व धरावे छे।

मुखपत्ती विषयक प्रमाणों की इतनी विशालता है कि उसे छोटी सी पुस्तक में मुद्रित नहीं किया जा सकता, फिर भी जैन साधु का पारम्परिक वेष यदि निश्चित करना पड़े तो हमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मुखपत्ती और रजोहरण के अतिरिक्त अन्य उपकरण नहीं मिलेगा।

"विचार रत्नाकर" में जैन-साधु की स्तुति करते हुए लिखा है कि:—

"कण्ठे सार सरस्वती, हृदी कृपा-नीति क्षमाशुद्धयो,
वक्त्राऽब्जे, मुखवस्त्रिका, सुभगता वामे करे पुस्तिका"

अर्थात्—"कंठ में सरस्वती, हृदय में दया-क्षमा और और पवित्रता तथा मुख पर शोभायमान मुखवस्त्रिका शरीर पर शालीनता तथा हाथमें पुस्तक.........जैन साधुओं की विलक्षण सुषमा है।"

अन्त में हम इस महत्त्वपूर्ण विषय पर अपनी ओरसे कुछ न कहकर इन प्रमाणों तथा परम्पराओं पर विश्वास. कर इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि संपातिक जीवों के रक्षक तथा इरिया समिति के पालने वाले जैन साधुओं के लिए, मुखपत्ती तथा रजोहरण आवश्यक चिह्न हैं। धर्म, समाज, सिद्धान्त तथा आचार्य परम्परा इसी वेष की साक्षी उपस्थित करती है।

चैत्य, उपाश्रय, स्थानक-परम्परा

उत्पत्ति, व्यवहार, प्रचलन और रूढ़ि की प्रक्रियाएं क्रमशः विकसित होती रहती हैं।

शब्द-साहित्य, अन्न, भोजन, वेश, परिवेश और लोक व्यवहार अपनी वृद्धि एवं वार्द्धक्य के काल में जाकर रूढ़ बन जाते हैं और समाज परम्परावादी बनकर लोकरीति का पालक बन जाता है।

एक बार एक बालक गंगा तट पर बैठा अपने पिता द्वारा किए जा रहे अपने दादा का पिण्डसन कर्म देख रहा था। पंडा मंत्र पाठ और कर्मकांड करवा रहा था। उस समय उसके पिता की धोती की एक लांघ खुल गई। पिता वैसे ही कर्मलीन रहा। समय बीतने पर पिता मर गया। पुत्र युवा हो गया और उसे अपने पिता का क्रिया-कर्म गयाजी में उसी प्रकार करना पड़ा, जिस प्रकार उसके दादा का उसके पिता ने सम्पन्न किया था। जब पंडा कर्मकाण्ड करवा चुका तो युवक ने दक्षिणा देते उसे बहुत डांटा कि तुमने हमारी धोती की एक लांघ तो खुलवाई नहीं। तुम कैसे पंडा हो?......आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार जनता में क्रियाएं लोकव्यवहार में पड़कर रूढ़ हो जाती हैं।

चैत्य शब्द का उल्लेख शास्त्रों में कितने ही स्थानों पर हुआ है। किन्तु प्रसंगानुसार वहां भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं।

आचार्य धर्मसागरजी ने अपनी पट्टावली में लिखा है कि वीर संवत् ८८२ में चैत्यवास शुरू हुआ—"वीरात् ८८२ चैत्यास्थितिः।"

फिर भी इतना तो सिद्ध होता है कि जनता के आरामगृह, उद्यान, मन्दिर तथा स्मारकों को चैत्य शब्द से अभिहित किया गया है।

धीरे-धीरे चैत्य शब्द इतना रूढ़ हो गया है कि उसे १२ वीं शताब्दी के उपरान्त जिनमन्दिर के लिए प्रयुक्त करने लगे।

यति परम्परा ने तथा राजाश्रय प्राप्त आचार्यों ने बौद्धों के विहार देखकर उपासक के नामसे उपाश्रयों का समर्थन किया।

जैन सम्प्रदाय में उप् उपसर्ग का बहुलता से प्रयोग किया गया है। उप् का अर्थ होता है आत्मा के निकट निवास करना अर्थात् आत्मा में रमण करना। जैसे—उपासक, उपवास, उपाश्रय आदि।

चन्द्रगुप्त के काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक भी उपाश्रय का उल्लेख नहीं आता, अपितु भद्रबाहु के साधुओं ने स्थूलिभद्र के साधुओं पर ही आरोप लगाया था कि वे वनवास का त्याग कर नगरवास करने लगे हैं, अतः हम तुम्हारे साथ नहीं मिल सकते।

सिद्धसेन दिवाकरके स्वर्णकाल में भी उपाश्रयों का अस्तित्व

नहीं था। उसके अनन्तर पादलिप्त सूरि के शिष्य ने पालिताणा के निर्माण के समय विशेष प्रकार के उपाश्रयों को बंधवाना प्रारम्भ किया।

पोषधशाला का, उपासक दशांगसूत्र तथा भगवती सूत्र में उल्लेख आया है कि श्रावक-वर्ग अपनी धर्म-चर्चा के लिए एक विशेष प्रकोष्ठ खाली रखते थे, जिसका नाम पोषधशाला होता था। पोषधशाला का प्रचलन उपाश्रय की ओर लोकप्रियता के कारण बाद की शताब्दियों में दब गया। क्योंकि उपाश्रय शब्द-निर्बन्ध तथा और पोषधशाला तो पोषधरूपी एक क्रिया को अवरोध कराता था। यही कारण है कि उपाश्रयों का प्रचलन अधिक हो गया।

उपाश्रयों पर गच्छों तथा यतियों का आधिपत्य हो जाने से जैन-धर्म के सुधारकों को इस रहस्य का भी उद्घाटन करना पड़ा कि अपरिग्रही साधु तथा यतिवर्ग उपाश्रय के ममत्व के कारण भी शिथिलाचारी हो गया है। अतः उन्होंने अपने को उपाश्रय की दीवारों में बन्दी नहीं बनाया।

इसका दूसरा कारण यह भी था कि जनता उपाश्रयों का निर्माण साधुओं अथवा यतियों को निमित्त मानकर करने लगी, जिसे आगमानुसार संयम पालन करने वाला साधु अपने निमित्तभूत होनेसे उपयोग नहीं कर सकता था।

फिर पोषधशाला तथा स्थानकों का युग आया। श्रावकों ने

अपनी धर्म-चर्चा के निमित्त ही पोषधशाला का निर्माण किया था। अतः साधुवर्ग उस स्थान में ठहरनेसे इन्कार न कर सका।

धीरे-धीरे आचार्य जीवराजजी के उपरान्त स्थानक शब्द का प्रचलन हुआ। जहां कहीं सन्त ठहरते उस स्थान को स्थानक कहने लगे। धीरे-धीरे वही शब्द इतना रूढ़ हो गया कि उस समाज में उसका नाम ही स्थानकवासी पड़ गया और स्थानक-वासी समाज जिस जगह अपना धर्मकृत्य करता उस मकान को धर्म स्थानक कहा जाने लगा।

स्थानक के पीछे निमित्तभूत दोष नहीं है, क्योंकि प्रत्येक संघ अपनी सुविधानुसार स्थानक बनवाता है। संघ की आर्थिक सुविधा को देखकर ही स्थल निश्चित करके उसे बड़ा या छोटा बनाया जाता है, अर्थात् इसका निर्माण पूर्णतया संघकी सुविधा पर ही निर्धारित है।

प्रश्न यह उठता है कि उपाश्रय भी संघ अपनी सुविधा के लिए ही बनवाता हो तो वह निर्दोष क्यों न माना जाय। यदि यह ठीक है तो उसमें भी कोई दोष नहीं। प्रश्न केवल इतना ही कि साधु के निमित्त से भवन-निर्माण नहीं होना चाहिए। इससे जैन साधु के संयम में दोष लगता है।

लोंकाशाह से पू० धर्मदासजी तक

लोंकाशाह की विचार स्वतंत्रता तथा आगमानुसार संयम पालन की दृढ़ता का उद्घोषण सारे समाज में प्रसारित हो चुकी था। जीवराजजी महाराज, लवजी महाराज, धर्मसिंहजी महाराज तथा धर्मदासजी महाराज का निरन्तर आगमानुसारी संयम पद्धति ने समाज में त्याग का उच्च आदर्श खड़ा कर दिया था। लोंकाशाह ने जिस विवेक और समतामय धर्म की नींव डाली थी, उसपर महल उभारने का काम इन चतुर आत्मा के कलाकारों ने ही किया।

उस समय जैनाचार्यों का प्रचार भी कुछ कम न था, किन्तु क्रियोद्धार, उत्कृष्ट संयम तथा गुणपूजक भावनाओं का विस्तार देनेका काम उस युग में इन्हीं महापुरुषों ने सम्पन्न किया।

लोंकाशाह के युग में क्रान्ति की, विचार-स्वातंत्र्य का तथा गुणपूजकता का एकमात्र नाद गुंजायमान था। किन्तु उस क्रान्ति को सामाजिक और सामूहिक बनाने का श्रेय इन तीनों महापुरुषों—जीवराजजी महाराज, धर्मसिंहजी महाराज तथा लवजी ऋषि को ही है। इस विचारधारा को मानने वालों को व्यवस्थित करनेका श्रेय तो धर्मदासजी महाराज को विशेष है।

लोंकाशाह के अनन्तर लोंकाशाह के अनुयायियों की दो शाखाएं हो गई थीं। १. लोंकागच्छीय यति और २. लोंकाशाह समर्थक साधु। चिकित्सा के कारण यतिवर्ग का प्रसरण हुआ और त्याग के कारण साधुवर्ग का प्रभाव पड़ा।

धर्मदासजी के शिष्य-वर्ग ने इस क्रान्ति को भारत भरमें फैलाने का महान् कार्य किया है। यद्यपि कष्ट लवजी ऋषि को भोगने पड़े और संकटों का सामना करना पड़ा और स्यात् इनकी तुलना में उस शताब्दी में अन्य किसी सन्त को न सहन करना पड़ा हो, तथापि इन महापुरुषों की अदम्य क्षमाशीलता ने जैनधर्म के चैतन्योपासक सम्प्रदाय के पैर बलपूर्वक जमा ही दिए।

पंजाब सम्प्रदाय का उद्‌भव

लोंकाशाह की सबल आवाज के कारण सभी ऐतिहासिकों ने ऐसा मान लिया है कि स्थानकवासी सम्प्रदाय के मूल स्रष्टा लोंकाशाह अथवा लवजी ऋषि थे। किन्तु इतिहास के इन तथ्यों और पट्टावलियों का मिलान करने पर ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर से चली आने वाली कड़ी—बंध साधु-परंपरा का एक अलग ही स्वरूप है। यद्यपि पट्टावलियों में एक सदृश नाम नहीं मिलते तथापि गणना के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि साधु-परम्परा का प्रबल प्रवाह कभी भी विलुप्त नहीं हुआ। कहीं-कहीं छिन्न-भिन्न अवश्य हुआ है। परन्तु सर्वथा लुप्त नहीं हुआ।

इस मुनि परम्परा के प्रवाह में कितने ही परिवर्तनों, सुधारों और मान्यताओं के मोड़ आए, विश्वास, श्रद्धा तथा रहन-सहन के ढंग बदले, जातियों, उपजातियों और उत्तराधीशों के आक्रमण हुए। शक, हूण, किरात, यवन तथा लुंठकोंके भयानक आतंक पनपे। संस्कार और सभ्यता के कितने ही अवशेष घरोंदों की तरह गिर पड़कर विनष्ट हो गए किन्तु निर्ग्रन्थ मुनियों की शृंखला किसी न किसी रूप में भारतवर्ष में अवस्थित रही। इसीलिए हमने लोंकाशाह को सुधारक लिखा है, प्रवर्तक नहीं।

लोंकाशाह से पूर्व ही शिथिलाचार के प्रति घोर असन्तोष व्याप्त हो गया था। ज्ञानऋषि यति क्रियाद्धारकों में से एक प्रखर त्यागी सन्त थे। पंजाब सम्प्रदाय का यही कहना है कि उनका सम्बन्ध सीधा भगवान् महावीर से चला आ रहा है। किन्तु एक उपलब्ध पट्टावली के आधार से ज्ञात होता है कि पंजाब सम्प्रदाय का सम्बन्ध लवजी ऋषि से है।

संवत् १५०१ में ज्ञानऋषि ने यति-परम्परा का त्याग कर शुद्ध दीक्षा ग्रहण की थी। लोंकाशाह के प्रतिबोध किए हुए ४५ वैराग्यवान श्रावकों ने उन्हींसे दीक्षा ली थी। उनके बाद तो ठीक आज ८६ वें पाट पर पूज्य सोहनलालजी महाराज, ६० वें पाट पर पूज्य कांशीरामजी महाराज तथा ६१ वें पाट पर पूज्य आत्मारामजी महाराज हैं।

पंजाब प्रान्तमें पूज्य आत्मारामजी महाराज के सम्प्रदायके

अतिरिक्त दो अन्य सम्प्रदाय भी हैं—एक है रूपचन्दजी महाराज का सम्प्रदाय और दूसरा है जीवनरामजी महाराज का, ये सम्प्रदाय पूज्य जीवराजजी महाराज से सम्बन्धित हैं। महानिधानजी (धनजी) और गंगारामजी महाराज इन सम्प्रदायों के आद्यप्रवर्त्तक हैं।

इनके पास भी अपनी पट्टावलियां हैं तथा इनका भी ऐसा विश्वास है कि यतियों द्वारा स्वयं दीक्षित होकर उनके सम्प्रदाय चले हैं।

हमारे अन्य इतिहासकार इन्हें श्री धर्मदासजी महाराज के २२ सम्प्रदायों से उद्‌भूत बताते हैं। २२ सम्प्रदाय और इन सम्प्रदायों में कुछ अन्तर तो नहीं है यहांतक कि कहीं-कहीं नाम भी एक ही तारतम्य में प्राप्त होते हैं तथापि यह सत्य है कि इन चार महापुरुषों और लौंकाशाह के अतिरिक्त और कितने ही आत्मसाधक मुनिवरोंने स्वयं दीक्षित होकर क्रियोद्धार किया है।

साहित्यिक मान्यता

लोंकाशाह ने मूल आगमों पर अपनी श्रद्धा केन्द्रित की थी। परम्परा से ऐसा सुना या पढ़ा जाता है कि लोंकाशाह ने ३१ शास्त्रों को प्रामाणिक रूप में स्वीकृत किया था। ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल और ४ छेद—इनके प्रामाणिक शास्त्र थे। किन्तु पूज्य लवजी अथवा जीवराजजी ने आवश्यक सूत्र को मान्यता देकर आगमों की संख्या ३२ मान ली।

पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज ने जैन शास्त्रों पर टब्बे (टिप्पण-संक्षिप्तार्थ) लिखकर जैन साहित्य की वृद्धि की। उन टब्बों को इस सम्प्रदाय ने प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया।

पूज्य श्री पार्श्वचन्द्र सूरि के लिखे हुए ३२ शास्त्रों पर टब्बे कुछ सुधार के बाद स्वीकृत साहित्य में ही सम्मिलित किये जाते हैं।

इसके अनन्तर स्थानकवासी सन्तों का ध्यान, लोकभाषा में जैन साहित्य को—रास, चौपाई ढाल तथा कविता में अनुदित तथा कल्पित करने की ओर आकृष्ट हुआ है।

लोक-प्रचार और आत्मसाधना—ये दो उनकी महान् विशेषताएं थीं। इसीलिए इस सम्प्रदाय के साधुओं ने पंडिताऊ भाषा में साहित्यिक ग्रन्थ स्वल्प प्रमाण में ही लिखे हैं। हां,

आजके सन्तों द्वारा अवश्य ही जैनागमों पर नई-नई टीकाएं तथा नवीन ग्रन्थ और विशाल साहित्य का सर्जन हो रहा है। किन्तु पुरातन युग में तो स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधुओं ने लोकभाषा में ही साहित्य का निर्माण किया था।

पू० श्री जीवराज जी महाराज का सम्प्रदाय

आचार्य धनजी

प्रातःस्मरणीय पूज्य श्री जीवराजजी महाराज के चरित्र का हमने उल्लेख कर लिया है। आपके स्थान पर श्री धन जी स्वामी को आचार्य पद प्रदान किया था।

बीकानेर की महारानी ने आपके श्रीचरणों में अपने राज्य में पधारने की प्रार्थना की तब आपने अपनी साधु भाषा में संयत उत्तर दिया—"क्षेत्र-स्पर्शना का अवसर होगा तो उधर विचरने के भाव हैं।"

कुछ मास के उपरान्त आप अपने १० शिष्यों के साथ बीकानेर पधारे। द्वार-प्रवेश के समय ही विषम बुद्धि वाले विरोधियों ने आपको रोक दिया।

आप शान्त और क्षमाशील रहे। श्मशान की स्मारक छतरियों में ही किसीकी आज्ञा मांग कर ठहर गए और एकांत में जाकर ध्यानस्थ हो गए। आपके अन्य शिष्य शास्त्रों का परायण करने लगे। चन्द्रविहार उपवास करते करते आठ दिन बीत गए परन्तु अपने शिष्यों समेत दृढ़ परिणामी रहे। नवें दिन

महारानी की एक दासी जब उधर से निकली तो मुनिराज के दर्शन करके महारानीजी को सूचना दी।

फिर क्या था? अत्यन्त सम्मान और समारोह पूर्वक महाराज ने अपने गुरुदेव को नगर प्रवेश करवाया और अपराधों की क्षमा याचना करके जनसाधारण को आचार्य महाराज के उपदेशामृत से पवित्र बनाया।

सबसे पहले आपने तातेड़ों की गवाड़ को पावन किया, जो ओसवाल की आद्य गोत्र मानी जाती है। अनेक को सम्यग्दर्शन प्रदान किया और असंख्य प्राणियों को अभय दान दिया।

आचार्य विष्णु और आचार्य मनजी स्वामी

आचार्य धनजी के स्थान पर क्रमशः आचार्य विष्णु और आचार्य मन जी स्वामी विराजमान हुए।

आपने अपने अपने समय में शासन की अच्छी प्रभावना की। दोनों आचार्यों को धर्म-प्रचार का केन्द्र बिन्दु माना जाता था। तत्कालीन साधु मार्ग-सम्प्रदाय में आपकी आचार निष्ठा प्रतिष्ठित थी।

आचार्य श्री नाथूरामजी स्वामी

आपका जन्म जयपुर राज्यान्तर्गत खंडेलवाल, दिगम्बर जैन परिवार में हुआ था। आपकी मान्यता थी कि कषाय वस्त्रों को उतारने से ही सच्चा दिगम्बर हो सकता है और शुक्ल ध्यान में रमण करने से ही सच्चा श्वेताम्बर। इन नामों में क्या

रखा है ? हमें तो आगम के वचनों की आराधना करनी चाहिए। यही कारण है कि आपकी शिष्य मण्डली अधिक स्वाध्यायपरायण थी। आपके बीसों शिष्यों ने इन सूत्रों का स्वाध्याय कण्ठस्थ कर लिया था। इतना ही नहीं वरन एकान्त ध्यान और कायोत्सर्ग की तपस्या में रत रहने वाले भी अनेक साधक थे।

स्व-मत और पर-मत के आप महान् पंडित थे। आपके साथ वादविवाद करने वाला पंडित अंतमें जिनशासन स्वीकार करके ही लौटता था। आचार्य कृष्ण जैसे विद्वान् आप ही के द्वारा जैन-धर्म में दीक्षित हुए जो पंजाब में राजचंद्र के नाम से विख्यात हुए। आपसे इस सम्प्रदाय के दो विभाग हो गए जिनका परिचय आगे दिया जायगा।

आचार्य लक्ष्मीचन्द्रजी महाराज

आचार्य लक्ष्मीचन्द्रजी ने आगमों का गहरा अध्ययन किया और उनका मन्थन करके लोकवाणी राजस्थानी भाषा में अनेक पद्यों के रूप में परिवर्तित कर दिया। आपके पद्य जन-साधारण की जबान पर चढ़ने में सफल हुए।

आचार्य छत्रमलजी

आप भी दर्शनशास्त्र के महान् पंडित थे। उन्होंने स्याद्वाद और नय-प्रमाणों के रहस्योंको सरल पद्योंमें उतार कर सामान्य बुद्धिवालों को भी अनेकांत सिद्धांत का बोध कराया।

आचार्य राजारामजी

आप वादविवाद करने वाले विद्वानों के हृदय की उलझनों को सुलझाने में समर्थ सिद्ध हुए। मिथ्यादर्शन के आप कट्टर शत्रु थे। आपके अनुशासन-काल में आत्म-निष्ठा दृढ़ हुई।

आचार्य उत्तमचन्द्रजी महाराज

आपकी तपस्याएं उज्ज्वल थीं। आपके गुरुभ्राता श्री राज-चन्द्र षट्शास्त्रों के पारंगत विद्वान् हुए। दोनोंने मिलकर शासन की अत्यधिक प्रभावना की। श्री रतनचन्द्रजी महाराज भी आपके बड़े गुरु भाई ही थे।

आचार्य भज्जूलालजी महाराज

"चन्द्रजी का गुड़ा" नामक गांव आपका जन्म-स्थान था। आप पल्लीवाल कुल के भूषण थे। अत्यल्प आयु में ही आप दीक्षित हो गए थे। आपकी माता और बहिन भी दीक्षित हुई थीं।

आप अंग्रेजी, फारसी और अरबी के भी विद्वान् थे। अक्षर तो आपके इतने सुन्दर थे कि स्वाध्याय में प्रमाद करने वाले साधु भी पढ़ने को लालायित हो उठते थे। गणित, ज्योतिष, रमल और योगशास्त्र आदि अनेक विषयों के बहुश्रुत विद्वान् होने के कारण अलवर नरेश महाराज मंगलसिंह ने आपको राज्य पंडित की उपाधि समर्पित की थी।

एकबार श्राद्ध के विषय में विवाद हुआ तब पंडितों ने कहा

कि जिस प्रकार मनीआर्डर से भेजा जाने वाला रुपया यथा-स्थान पहुंच जाता है उसी प्रकार श्राद्ध का अन्न पितरों को मिलता है। तब आचार्य श्री ने भरी सभा में उत्तर दिया कि क्या पंडितों के पास उस मनीआर्डर की रसीद है? अगर है तो बतलाए।

यह उत्तर सुनकर राजा मंगलसिंह ने मुनिराज के सामने उपहार उपस्थित किया। परन्तु क्या निर्ग्रन्थ उसे स्वीकार कर सकते थे? उन्होंने स्पष्ट कहा कि आजसे जैन साधुओं को कभी राजसभा में मत बुलाना—यही उपहार है।

आपकी काव्यशैली अत्यन्त प्रासादिक थी। 'शान्ति-प्रकाश' जैसा गूढ़ ग्रन्थ आपकी विद्वता का प्रमाण है।

तपस्वी पन्नालालजी महाराज

आप आचार्य भग्गू स्वामी के शिष्य थे। महान् तपस्वी और महात्मा थे। सं० १९५२ ज्येष्ठ शुक्ल ३ आपके समाधि-मरण की तिथि मानी जाती है। आपके जीवन में अनेक चमत्कारी घटनाएं घटी हैं। आपके दृष्टि क्षेपमात्र से ही अनेक रोग नष्ट हो जाते थे।

श्री रामलालजी महाराज

सं० १८७० में ब्यावर नगर में आपका प्रादुर्भाव हुआ था। बीस वर्ष की अवस्था में ही आप श्री उत्तमचन्द्रजी महाराज की सेवा में दीक्षित हुए थे। आप एक उग्रविहारी महापुरुष थे।

मारवाड़ प्रदेश का आपने ६ बार दौरा किया और भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों को अपने सदुपदेश से पावन किया। अन्त में १० दिन और एक प्रहर के पहले सम्पूर्ण आहारों का त्याग करने समाधि मरण से सं० १६५० में स्वर्ग सिधारे।

मुनि श्री फकीरचन्दजी महाराज

सं० १६१६ जेठ सुदी १५ की रात को १२॥ बजे सूरत में आपका जन्म हुआ था। आपका विवाह भी एक सुन्दरी महिला के साथ सम्पन्न हुआ था परन्तु सं० १६४६ में गुरुवर्य श्री रामलालजी महाराज की संगति से आपको वैराग्य उत्पन्न हुआ। दीक्षित होते ही आपने शास्त्रों का स्वाध्याय और लेखन कार्य प्रारम्भ किया जो अन्त तक चलता रहा।

आपको विहार का भी बड़ा शौक था। बंगाल में कलकत्ता तक आप पधारे और सन् १६३६ में झरिया नगर का चातुर्मास किया।

स्वर्ग-गमन के ३ दिन पूर्व ही आपने संथारा प्रत्याख्यान कर लिया था। समाधि-मरण से सं० १६६६ जेठ सुदी १५ के दिन ८ बजे पटोदी नगर में आपका स्वर्गवास हुआ।

पूज्य स्वामीदासजी महाराज का सम्प्रदाय

पूज्य श्री जीवराजजी महाराज के चौथे पाट पर आप आचार्य रूप में विराजमान हुए।

इस सम्प्रदाय के स्वामी फतहलालजी, स्वामी छगनलालजी

और स्वामी कन्हैयालालजी महाराज आदि विद्वान साधु हैं। मुनि श्री कन्हैयालालजी ने संस्कृत, प्राकृत भाषा का अच्छा ज्ञान सम्पादन किया।

पूज्य अमरसिंह जी महाराज

आपका जन्म दिल्लीमें सं० १७१६ में हुआ था। आपकी माता का नाम कमला देवी और पिता का नाम देवीसिंह जी था। आप चौबीस वर्ष की आयु में अपनी पत्नी से अलग होकर गृह-संसार त्याग कर दीक्षित हुए। मुनि श्री लालचंदजी महाराज ने आपको दीक्षा दी।

वि० सं० १७६१ में आपने आचार्य पद प्राप्त किया। आप एक समर्थ विद्वान् और उदार प्रवचनकार थे। हिन्दू-मुसलमान सभी धर्मों के अनुयायी आपका भाषण समान प्रेम के साथ श्रवण करते थे।

औरंगजेबके पुत्र बहादुरशाह और जोधपुर के दीवान खींवसिंहजी भंडारी आपके अनन्य भक्तोंमें से थे। मारवाड़ प्रान्त में विषम बुद्धिवालों यतिवर्गों के परीषह आपने अपूर्व धैर्यपूर्वक सहन किए। इस कारण मारवाड़ प्रदेश में आपका प्रभाव खूब फैला।

वि० सं० १८१२, ९३ वर्ष की अवस्था में, अनशन के साथ आपका स्वर्गवास सम्पन्न हुआ। आत्मा ने शरीर पर विजय पाई। आपके बाद पूज्य तुलसीदासजी महाराज, पूज्य सुजान-

मलजी महाराज और पूज्य जीतमलजी महाराज बहुत प्रतिभा-वान् मुनिराज हुए।

पूज्य जीतमलजी महाराज

सं० १८२६ में आपका जन्म रामपुरा में हुआ। आपकी माता का नाम सुभद्रा देवी और पिता का नाम सुजानमलजी था। सं० १८३४ में पूज्य सुजानमलजी महाराज के द्वारा आपका दीक्षा-संस्कार सम्पन्न हुआ।

आप विद्वान और युक्तिवादी विचारक थे। तत्कालीन जोधपुर-नरेश को आपने अत्यन्त छोटी-सी जगह में १०८ हाथियों के चित्र बनाकर १ बूंद में असंख्य जीव होने की श्रद्धा का बोध कराया।

सं० १९१२ में आपका स्वर्गवास हुआ। विज्ञान का आलोक जैसे अस्त हुआ। आपके बाद पू० ज्ञानमलजी और पू० श्री पूनमचंदजी महाराज प्रभावशाली संत हुए। प्रख्यात आत्मार्थी जेठमलजी महाराज, पूज्य श्री पूनमचंदजी महाराज के ही शिष्य थे।

पूज्य आत्मार्थी श्री जेठमलजी महाराज

आपका जन्म सादड़ी (मेवाड़) में सं० १९१४ में हुआ था। आपका पिता श्री का नाम हाथीजी और माताजी का नाम लिछमाजी था।

सं० १९३१ में आपकी दीक्षा हुई।

आप महान् तपस्वी, आत्मार्थी और उच्च प्रकार के ध्यानी के रूप में प्रसिद्ध हैं। तत्कालीन समाज में आपकी सिद्धमुनि के नामसे प्रतिष्ठा थी।

सं० १६७६ में आपके भौतिक शरीर का अवसान हुआ। ज्ञान का प्रदीप बुझ गया।

मुनि श्री ताराचंदजी महाराज

आप अत्यन्त वयोवृद्ध होने पर भी धर्मपालन में समुत्साह-शील रहे।

बंबोरा (मेवाड़) को आपने अपनी जन्मभूमि बनाया। जयपुर में आपका स्वर्गवास हुआ।

आपका पूर्व नाम हजारीमलजी था। दीक्षित होने पर आपने नाम बदल लिया।

पूज्य श्री शीतलदासजी महाराज का सम्प्रदाय

आपने आगरा शहर में सं० १७६३ में चैत्रकृष्णा २ को पूज्य श्री बालचन्द्रजी महाराजकी सेवा में दीक्षा ग्रहण की।

रेणी गांव-वासी अग्रवाल वंशीय महेशजी के आप सुपुत्र थे। आपका जन्म वि० सं० १७४७ में हुआ। आपकी लेखन-शैली प्रसिद्ध थी। तत्कालीन मुनियों में साहित्य-शिक्षण के क्षेत्र में आपकी बराबरी करने वाला कोई नहीं था। जोधपुर, बीका-नेर, सांभर आगरा और दिल्ली आदि अनेक शहरों में घूम कर

आपने धर्म-प्रचार का धूम मचा दी। आपने कुल ७४ वर्ष तक दीक्षा का पालन किया।

वि० सं० १८३६ के पौष सुद १२ मंगलवारको चारों आहारों का त्याग करके ३६ दिन तक संलेखना व्रत का आराधन कर आपने समाधि मरण द्वारा राजपुर नामक ग्राम में स्वर्ग-गमन किया।

तपस्वी श्री वेणीचंदजी महाराज

सं० १६६८ में आपका जन्म पहुना-निवासी श्री चंद्रभानुजी की सहधर्मचारिणी कुंवरा बाई की कोख से हुआ।

शीघ्र ही आपके मन में उत्कट वैराग्य-भावना उदित हुई और आप पू० पन्नालालजी महाराज की सेवा में पहुंचे और सं० १६२० की अषाढ़ सुदी ५ को दीक्षा ग्रहण की।

आपकी तपस्या निरन्तर चलती थी। अनेक कठिन अभिग्रह आपने धारण किए। एक अभिग्रह तो एकदम अद्भुत था। उसके नहीं फलने से आपने २५ वर्ष चार मास और १५ दिन गर्म पानी और छाछ के आधार पर निकाले।

सं० १६६५ में पौष सुदी १४ को एक दिन सलेखना करके शाहपुरा में स्वर्ग-गमन किया।

कहते हैं:—आपका चोल पट्टक तीव्र अग्नि से भी नहीं जला।

आप अत्यन्त निर्भय थे। ऐसे स्थानों पर भी विहार करते

थे, जहां बहादुर से बहादुर व्यक्ति भी रुकने-चलने में भय खाते थे। भय क्या वस्तु है, यह तपस्वीजी जानते भी नहीं थे। मानों आपके कोष में भय नामक शब्द था ही नहीं।

तपस्वी श्री कजौड़ीमलजी महाराज

आपका जन्म सं० १६३६ के माघ शुक्ला १५ को बेगूं शहर में हुआ। आपके पिता का नाम था श्री घासीरामजी और माता का नाम शृंगार बाई।

आप आजन्म ब्रह्मचारी रहे। आपने संयमकाल में विविध प्रकार की तपस्याएं की हैं।

मुनि श्री छोगलालजी महाराज

आपने सं० १६५८ में केवल ६ वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की। शास्त्रों का पूर्ण स्वाध्याय किया। प्रभावशाली प्रवचनकार आप हुए।

जीवहिंसा के दुष्कर्म के विरुद्ध आपने प्रबल आंदोलन चलाया और कई राजा-महाराजाओं से जीवरक्षण के परवाने लिए।

इस सम्प्रदाय में भी अनेक महासतियां विदुषी और प्रभावशाली हुईं।

श्री नानकरामजी महाराज का सम्प्रदाय

पूज्य श्री जीवराजजी महाराज के पंचम पट्ट पर आप भी एक आचार्य हुए। आपकी विद्वत्ता और आचारपरायणता

विशिष्ट थी, इसीलिए इस सम्प्रदाय का आपके शुभ नाम के साथ सम्बन्ध है।

पूज्य श्री रायचंदजी महाराज की परम्परा

पूज्य जीवराजजी महाराज की परम्परा में, आचार्य श्री नाथूरामजी महाराज के आप प्रख्यात शिष्य थे। आपके विषय में हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं।

आपके बाद पू० जीवराजजी महाराज का सम्प्रदाय दो सम्प्रदायों में बंट गया।

आपकी सेवा में विजयादशमी के पुण्य दिवस पर पूज्य श्री रतिरामजी महाराज सं० १८४२ में दीक्षित हुए। आप समर्थ योगी थे। आपके शिष्य कविराज नंदलालजी महाराज साधुमार्गी समाज के बहुश्रुत पंडित थे।

कविराज नंदलालजी महाराज

आपका जन्म कश्मीरी ब्राह्मण परिवार में हुआ। आप शीघ्र ही शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान् हो गए। आपने "लब्धि-प्रकाश", गौतमपृच्छा", "अगड़बम", "रामायण" आदि अनेक ग्रंथों की रचना की। इसके अतिरिक्त "ज्ञान प्रकाश", "रुक्मिणी रास" आदि अनेक ग्रंथ निर्माण किए।

आपकी कविताएं संगीतमय, भावपूर्ण और हृदयस्पर्शी होती थीं।

सं० १६०७ में होशियारपुर नामक स्थान पर आप स्वर्गवासी हुए।

आपके तीन प्रभावशाली शिष्य हुए हैं। मुनि श्री किशनचन्द्रजी महाराज ज्योतिष शास्त्र के पंडित थे और रूपचंदजी महाराज वचनसिद्ध तपस्वी मुनि थे। मुनि श्री किशनचन्द्रजी, महाराज की परम्परा में मुनि श्री बिहारीलालजी, महेशाचन्द्रजी, मुनि श्री वृषभानुजी, मुनि श्री शाहीलालजी का नाम उल्लेखनीय है।

तीसरे शिष्य मुनि श्री जौकीरामजी महाराज के पास जगरांवा निवासी अग्रवाल वंशीय मुनि श्री चेतरामजी दीक्षित हुए जिनके शिष्य मुनि श्री घासीलालजी महाराज ने तीन भव्यात्माओं को पंच महाव्रतधारी बनाया:—मुनि श्री जीवनरामजी महाराज, मुनि श्री गोविन्दरामजी महाराज और मुनि श्री कुंदनलालजी महाराज हुए।

पूज्य श्री रूपचंदजी महाराज

आप बाल ब्रह्मचारी, वचनसिद्ध, अलौकिक, तपस्वी महाप्रभावक संत थे। आपने विशेष रूप से ममता जीतकर किसीको शिष्य नहीं बनाया। लुधियाना में आपका जन्म संवत् १८६८ माघ सुद ११ को हुआ।

आपने आजन्म तीन द्रव्य सेवन से अधिक कुछ ग्रहण न किया। पानी, रोटी और तीसरी कोई वस्तु।

घी, दूध आदि सभी पौष्टिक वस्तुओं का आपका नियम था। दिनमें केवल एक बार आहार करते थे और दो रोटी ही खाते थे। २६ वर्ष के तारुण्य को छोड़कर आपने दीक्षा ली जो संवत् १८६४ के फाल्गुन सुदी ११ को सम्पन्न हुई।

आपके चमत्कारों की पंजाब में धूम थी। कई कहानियां प्रचलित हैं। प्रस्तुत इतिहास-ग्रंथ के इस अल्पमति लेखक पर आपकी आत्मज्योति, त्यागज्योति और ज्ञानज्योति का प्रभाव प्रबल रूप से प्रकाशित है।

आपका नियम था कि जो सवारी पर चढ़कर आए वह मेरे दर्शन न करें। दिन में दो ही बार पानी लाते थे। इसके अतिरिक्त सतलज नदीमें न उतरने का भी आपका नियम था।

संवत् १९३७ के जेठ वदी ११ के दिन यह सूर्य अस्त हुआ।

मुनि श्री गोविन्दरामजी महाराज

आपका जन्म सं० १९९८ में देहरादून में हुआ था।

माघ शुक्ल ११ शनिवार सं० १९३९ में आप दीक्षित हुए। प्रतिभाशाली पद्यकार थे। चरित्रशील और स्वाध्याय प्राप्त मुनिराज थे।

मुनि श्री कुन्दनलालजी महाराज

संवत् १९५७ कार्तिक सुदी २ को आप मुनि श्री घासी-लालजी महाराज के चरणों में भटिंडा नामक स्थान पर दीक्षित हुए। शास्त्रों का गंभीरता पूर्वक स्वाध्याय किया। ज्योतिष

शास्त्र के बड़े विद्वान थे। तपस्वी और वचनसिद्ध सन्तपुरुष थे। आपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बढ़ाई। संवत् २००८ में मंडी अहमदनगर के भव्य उपाश्रय में आपका समाधिमरण से स्वर्गवास हुआ।

पूज्य जीवणरामजी महाराज

पूज्य जीवणरामजी महाराज अत्यन्त प्रभावक महात्मा थे। पंजाब के सारे जंगल प्रदेश पर पूर्ण वर्चस्व था। आत्मारामजी महाराज (आचार्य विजयानन्द सूरि) ने आपके पास ही पहले दीक्षा ली थी। आपका संयम तथा त्याग अलौकिक था। जीवन की साधना आप आत्म-साक्षात्कार के लिए किया करते थे। ज़ीरा फिरोजपुर, भंटिण्डा, बीकानेर तक आपका प्रबल प्रचार था।

पूज्य श्रीचन्दजी महाराज

आपने वैराग्य के साथ दीक्षा ग्रहण की। ज्योतिष् के आप समर्थ और शास्त्र निष्णात विद्वान् थे। गणित, ज्योतिष् के आप पारगामी थे।

पू० धर्मसिंहजी महाराजकी परम्परा

श्री धर्मसिंहजी के पश्चात् उनके पाट पर हेमजी ऋषि हुए। तीसरे पट्ट पर मेघजी, चौथे पर द्वारकादासजी, ५ वें मोरारजी, ६ठे नाथजी, ७वें जयचंदजी और ८वें मोरारजी ऋषि।

मोरारजी ऋषि के शिष्य सुन्दरजी के तीन शिष्य थे— १. नाथाऋषि, २. जीवणऋषि, ३. प्रागजी ऋषि। तीनों प्रभाविक संत थे। श्री मोरारजी के जीवनकाल में ही सुन्दरजी के देहावसान के कारण उनके पट्ट पर नाथजी ऋषि बैठे।

आगे के सम्प्रदायवृक्ष से यह परम्परा स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो जाएगी।

पू० धर्मसिंह जी महाराज
|
सोम जी
|
मेघ जी
|
द्वारकादास जी
|
मोरार जी
|
नाथ जी
|
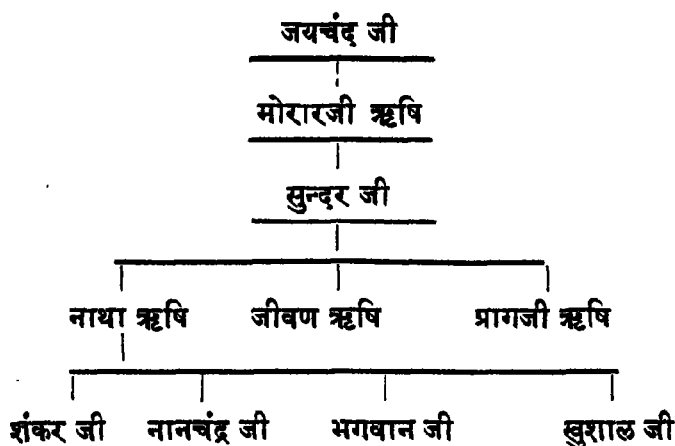
पू० प्राग जी ऋषि

इस प्रकार हम देखते हैं कि ११ वें पाट पर प्राग जी ॠषि आए।

प्रागजी ऋषि वीरमगाम के भावसार रणछोड़दास के पुत्र थे। प्रथमतः उन्होंने सुन्दरजी महाराज का उपदेश सुनकर बारह व्रत लिये।

कितने ही वर्षों तक श्रावक पर्याय का पालन कर, दीक्षा अंगीकार करने को तत्पर हुए। परन्तु उनके माता-पिताने आज्ञा न दी। इसपर उन्होंने भिक्षाचारी शुरू कर दी। सूरत शहर में जब आपने दो मास तक भिक्षा पर निर्वाह किया तो आपके माता-पिता ने अपने योग्य पुत्र न मानकर दीक्षा की रज़ा दे दी सं० १८३० में आपने वीरमगाम में भारी ठाठबाट के साथ दीक्षा ग्रहण की।

इसके उपरान्त आपने सूत्र, सिद्धान्त, अंग-उपांगका अध्ययन किया और भारी प्रतापी हुए। आपके १५ शिष्य थे।

आपके पैर में शूल होने से २५ वर्ष तक विसलपुर ग्राम में वास कर सं० १८६० में स्वर्गवासी हुए।

इस परिवार की १२ वीं परम्परा में शंकर ऋषि और उनके शिष्य पुंजा जी वगैरह हुए।

१२ वें पट्ट पर खुशाल जी (उनके शिष्य नाथजी ऋषि हुए)।

१४ वें पट्ट पर हर्षसिंह जी (प्रयाग ऋषिजी के शिष्य)।

इसके पश्चात् मोरार जी १५ वें पट्ट पर आए। इस प्रकार २१ वें पट्ट तक यह परम्परा चलती रही।

२१ वें पट्ट पर ईश्वरदास जी महाराज हुए। हर्षचंदजी बड़े ज्ञानी विद्वान् हुए, उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। भाईचंदजी महाराज विद्यमान हैं और धर्म सेवा कर रहे हैं।

इनके अतिरिक्त महासती वसुमती बाई, तारावेन आदि महासतियां विशेष उल्लेखनीय हैं।

कच्छ की आठ कोटि मोटी पक्ष—

पूज्य थोमणजी महाराज

पूज्य सोमचन्द्र जी महाराज जब भुज में पधारे उस समय कच्छ भुज में राव श्री लखपति जी का राज्य था। उनकी टकसाल में श्री थोमण शाह प्रधान कार्यकर्ता थे। आपने पूज्य सोमचन्द्रजी महाराज का उपदेश सुनकर पंचमहाव्रत स्वीकार किये।

कच्छ के साधु देशी के नाम से प्रसिद्ध थे और लिंबड़ी के साधु परदेशी कहलाते थे। वि० सं० १८५६ तक दोनों संप्रदायों की समाचारी एक रही और बाद में छः कोटि व आठ कोटिके नाम से दो पक्ष हो गए।

वि० सं० १८४६ में बलदियागांव के श्री कृष्णजी ने आपके पास दीक्षा ली। इसी समय डाह्याजी महाराज भी विचरते थे। इसी समय कच्छ में आठ कोटि नानी पक्ष के नाम से एक सम्प्रदाय और चला। पूज्य कृष्णजी महाराज के दशवें पट्ट पर पूज्य कर्मसिंह जी महाराज आचार्य हुए।

पूज्य कर्मसिंहजी महाराज

बांकी (कच्छ) के सेठ हेमराजजी की सहधर्मिणी माणा बाई की कुक्षी से वि० सं० १८८६ में आपका जन्म हुआ। सिद्धपुर गुजरात में पूज्य पानचंदजी महाराज के पास आपकी दीक्षा हुई। वि० सं० १९५९ में आप आचार्य बने। आप कर्तव्य-परायण और उग्रविहारी मुनिराज थे। ज्ञान-चर्चा का आपको बहुत शौक था। शांति और सहिष्णुता आपके विशेष गुण माने जाते थे। वि० सं० १९६९ में आपका स्वर्गवास हो गया। आपके बाद पूज्य व्रजलालजी और पूज्य कानजी स्वामी आचार्य हुए जिनके पट्ट पर पूज्य नागचंदजी स्वामी विराजमान हुए।

पूज्य नागचन्दजी स्वामी

कच्छ में भोजाय गांव के श्रीमान् शाहलालजी जेवत की

सहधर्मिणी पांची बाई की कुक्षी से आपका जन्म हुआ। वि० सं० १६४७ में केवल ११ वर्ष की उम्र में ही पूज्य कर्मसिंहजी महाराज से दीक्षित हो गए। सं० १६५८ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। आप उत्तम विद्वान और सरस कवि थे। गुजराती भाषा में अनेक रास बनाए हैं।

पूज्य देवचन्दजी महाराज

आप इस सम्प्रदाय के उपाध्याय थे। वि० सं० १६४० में सेठ साकरचन्दजी की सहधर्मिणी लक्ष्मी बाई की कुक्षी से आपका जन्म हुआ। वि० सं० १६५७ में दीक्षित हुए। न्याय, व्याकरण और साहित्य के आप प्रकांड पंडित थे। आपने स्थानांग सूत्रका भाषांतर भी लिखा है। न्याय के पारिभाषिक शब्दों को सरल करने वाला ग्रन्थ भी बनाया है। सं० २००० वर्ष में पोरबंदर में आपका स्वर्गवास हुआ।

पूज्य रत्नचन्दजी महाराज

संवत् १६७५ में पूज्य नागचन्दजी महाराज के पास दीक्षित हुए। पिता का नाम कानजी भाई था माता का नाम मेघाजी। आपने संस्कृत, प्राकृत भाषा का गहरा अभ्यास किया। तीन चरित्र ग्रन्थों की संस्कृत भाषा में ही रचना की है।

कच्छ आठ कोटि छोटी पक्ष—

पूज्य डाह्याजी महाराज का पहले ही हम जिक्र कर चुके हैं। आपके शिष्य कुछ बातों में मतभेद होने से बड़े पक्ष से अलग हो गए और कुछ छोटी पक्ष के नाम से प्रख्यात हुए।

पूज्य जसराजजी, पूज्य वस्तुजी, पूज्य नथुजी, पूज्य हंसराजजी, पूज्य अजपालजी, पूज्य डूंगरसी और पूज्य शामजी महाराज इस सम्प्रदाय के मुख्य मुनिराज हुए हैं। इस सम्प्रदाय में शास्त्रानुसार क्रियापालन बहुत कठोरता से किया जाता है।

पूज्य श्री जयमलजी महाराज

आप लाबिया निवासी सेठ मोहनदासजी समदड़िया मूथा के सुपुत्र थे। आपकी माताजी का नाम महीमादेवी था।

विवाह के छः मास बाद ही आप व्यापार के लिए मेड़ता पधारे। वहीं आपने आचार्य भूधरजी का प्रवचन सुना। वैराग्य उत्पन्न हुआ और तुरन्त ही दीक्षित होने का दृढ़ निश्चय कर लिया। खबर पाते ही आपके माता-पिता और सहधर्मिणी लक्ष्मीबाई मेड़ता आए और बहुत समझाया परन्तु जिसकी आसक्ति नष्ट हो गई हो वह त्याग के मार्ग में शिथिल कैसे रह सकता है?

संवत् १८८७ मार्गशीर्ष २ को आपने पंचमहाव्रत धारण कर लिए। उस समय आपकी अवस्था २२ वर्ष की थी। सहधर्मिणी भी पति के साथ-साथ दीक्षित हो गई।

आपने शास्त्रों का गंभीर अध्ययन किया। वैराग्य भावना की उत्कटता से भरे हुए सरल राजस्थानी शब्दों में ऐसी तत्वमयी कविताएं लिखीं जो जनसाधारण के जबान पर आज भी चढ़ी हुई हैं। बड़ी साधु वंदना तो घर घर स्वाध्याय की जाती है।

लगभग १६ वर्ष तक आपने एकान्तर तप किया। ५० वर्ष तक आपने आड़ा आसन नहीं किया। कभी लेटे लेटे नींद नहीं ली। आपने अपना अन्तिम स्थविर जीवन नागोरमें बिताया।

स्वर्गवास के एक माह पूर्व ही आपने सब आहारों का त्याग कर संथारा व्रत ले लिया था।

संवत् १८५३ की वैशाख सुदी १४ को आपकी वह पुण्य तिथि आई जिस दिन आपने अपना नश्वर देह छोड़ा और पवित्र ज्ञान और आचरण की छाप समस्त स्थानकवासी जैन जगत् में अखण्ड रूप से सुरक्षित लगा दी।

आपके सम्प्रदाय में पूज्य जोरावरमलजी महाराज १० वर्ष की अवस्था में ही दीक्षित हुए। संवत् १६८६ में आपका देहावसान हुआ। आप महान् विद्वान् थे, कुरीतियोंके निषेधक थे।

लवजी ऋषि का सम्प्रदाय

(विशिष्ट मुनिवरों का संक्षिप्त परिचय)

पूज्य कान्हजी ऋषि

पूज्य कान्हजी ऋषि अत्यन्त प्रभावशाली सन्त थे। आपकी बुद्धि अति तीव्र थी। आपने अनेक सूत्रों को कंठस्थ किया था। आप मालवा प्रान्त में बहुत विचरे इसलिए पूज्य लवजी ऋषि की परम्परा वहां पूज्य कान्हजी ऋषिकी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस सम्प्रदाय के सन्त दक्षिण, बरार, खानदेश और कर्नाटक आदि क्षेत्रों में बहुत विचरते हैं। आपके बाद पूज्य कालाजी ऋषि, बधाजी ऋषि और धनजी ऋषि क्रमशः आचार्य पद पर विराजमान हुए। पूज्य मंगल ऋषिजी महाराज गुजरात में पधारे वहां खम्भात में आपका परिवार खूब बढ़ा जो खम्भात-संघाड़ा के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पं० र० कविवर्य तिलोक ऋषिजा महाराज

आपका जन्म वि० सं० १६०४ में सेठ दुलीचन्द्रजी सुराणा की सहधर्मिणी श्री नानूबाई की कुक्षि से रतलाम में हुआ। पिताजी का वियोग बचपन में ही हो गया। केवल १० वर्ष की अवस्था में ही श्री अयकंत ऋषि की सेवा में माता, पुत्री और दो भाइयों की दीक्षा हुई थी।

आपने बहुत शीघ्र ही सूत्रों का परायण कर लिया। दक्षिण प्रान्त में पधार कर आपने जैन-धर्म का अत्यधिक प्रचार किया और साधु-साध्वियों को सुविधापूर्वक विचरने के लिए नये-नये क्षेत्र बनाये। पूज्य रत्नऋषिजी महाराज जैसे विद्वान् शिष्य और महासती श्री रामकुंवरजी जैसी विदुषी आर्या आपकी ही शिष्या थी।

आप बहुत श्रेष्ठ कवि थे। लगभग ७० हजार श्लोक परिमाण पद्यों की आपने रचना की। प्रतिक्रमण में जो पांचों पदों की वंदनात्मक कवित्त सारे समाज में बोले जाते हैं वे आपकी ही लोकप्रिय रचना के नमूने हैं। ज्ञानकुंजर, चित्तालंकार काव्य और शीलांग रथ आपकी लेखन-कला के उदाहरण हैं। आपके अक्षर सुन्दर, सूक्ष्म और सुवाच्य थे। उत्तराध्ययन सूत्र का सम्पूर्ण स्वाध्याय आप ध्यान में ही कर लेते थे। अहमदनगर में केवल ३६ वर्ष की आयु में ही आपका स्वर्गवास हो गया।

पं० मुनि श्री रत्नऋषिजी महाराज

आपका जन्म बोता (मारवाड़) में हुआ। आपके पिता श्री स्वरूपचन्दजी साहब परिगल और माता श्री धापूबाई की आज्ञा से पूज्य श्री चरण त्रिलोकजी महाराज की सेवा में केवल १२ वर्ष की अवस्था में ही दीक्षित हुए।

शास्त्रों का बहुत स्वाध्याय किया और विद्या प्रेम की उत्कटता से कई स्थानों पर पाठशालाएं और छात्रालयों को खुलवाने की प्रेरणा दी। आपने शिष्यों को भी विद्वान् बनाया।

आपने कई पद्यात्मक चरित्र-ग्रन्थों की रचना की है। संवत् १६८४ जेठ कृष्ण ७ सोमवार को हिंगनघाट के समीप अलीपुर में आपका स्वर्गवास हो गया।

कविवर्य पं० अमिऋषिजी महाराज

दलोट (मालवा) निवासी श्रीमान् सेठ भैरूलालजी की सहधर्मिणी प्यारा बाई के कोख से संवत् १६३० में आपका उद्भव हुआ। केवल १३ वर्ष की आयु में ही आप दीक्षित हो गए थे। आप स्वमत-परमत के अच्छे ज्ञाता थे। सहजकवि और प्रसिद्ध चर्चाप्रेमी थे। मतभेद के विषय में स्पष्टीकरण करने के लिए आपकी सत्संगति से बहुत लाभ होता था। लगभग १३ आगम ग्रन्थ आपको मौखिक याद थे।

मालवा, मेवाड़, मारवाड़, गुजरात, सौराष्ट्र, दिल्ली और दक्षिण के अनेक क्षेत्रों का आपने अपनी विहार स्थली बनाया था।

संवत् १६८८ में शुजालपुर नामक स्थान पर वैशाख शुक्ला १४ के दिन आपका स्वर्गवास हुआ।

शास्त्रोद्धारक पूज्य अमोलक रिषिजी महाराज

वि० सं० १६४४ में दस वर्ष की अवस्था में ही आप दीक्षित हो गए।

लगभग २० वर्ष तक पूज्य श्री रत्नऋषि जी महाराज और

पूज्य मुन्नालालजी महाराज आदि सन्तों के साथ शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया।

अत्यन्त अपरिचित स्थानों में विहार करके आपने नये नये क्षेत्रों का उद्घाटन किया। दक्षिण में कर्नाटक तक धर्म-प्रचार किया, आप बंगलोर भी पधारे थे।

स्थानकवासी समाज में आगमों के हिन्दी के अनुवाद का सर्वप्रथम सत्कार्य आप ही ने किया।

आगमों के अतिरिक्त अन्य पचासों ग्रन्थों की रचना करके आपने जैन साहित्य को सरल, सुबोध भाषा में सर्वमान्य जनता तक पहुंचाया।

संवत् १६८२ में आपको श्रीसंघ ने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

आप अत्यन्त विनीत और परिश्रमी आदर्श आचार्य थे। श्रमण संघ के संगठन की आवाज को आपने बुलंद किया और अनेक शिक्षण संस्थाओं का श्रीगणेश किया।

सं० १६६३ भाद्रपद कृष्ण १४ बुधवार को धुलिया में आप स्वर्ग सिधारे।

तपस्वी आचार्य देव रिषिजी महाराज

कच्छ के पुनड़ी निवासी सेठ जेठाजी संघवी की सहधर्मिणी सौ० मीराबाई की कोख से संवत् १६२६ की दीपावली को श्वेताम्बर जैन कुटुम्ब में आपका जन्म हुआ।

केवल २० वर्ष की आयु में सूरत शहर में आपने दीक्षा ग्रहण की।

शास्त्रों के अभ्यासी, मिलनसार, विनीत, तपस्वी और लोकप्रिय होने से भुसावल शहर में सं० १९९३ माघ कृष्ण ६ बुधवार को आचार्य पद पर अभिषिक्त किया।

संवत् १९९९ मार्गशीर्ष कृष्ण ९ के दिन नागपुर में सदर बाजार में अनशन के साथ धर्म-ध्यान में आपका स्वर्गवास हुआ।

पूज्य श्री ताराचन्दजी महाराज

पूज्य ताराचन्दजी महाराज, मुनि श्री लवजी ऋषि के चतुर्थ पट्ट पर आचार्य हुए।

आप महान् प्रतिभाशाली प्रवचनकार थे।

मिलनसार होने के कारण आपके नामकी एक पृथक् परम्परा खड़ी हो गई।

पू० श्री छगनलालजी महाराज

वि० सं० १९४५ में केवल २२ वर्ष की अवस्था में आप दीक्षित हो गए।

आप एक निर्भय वक्ता और शुद्ध हृदय के संत पुरुष थे।

तत्कालीन धर्म प्रचारक आचार्यों में आपकी अच्छी प्रतिष्ठा थी।

पू० अमरसिंहजी महाराज

आप पूज्य लवजी ऋषिजी महाराज के दशवें पट्ट पर आचार्य के रूपमें प्रख्यात हुए।

अमृतसर को आपने अपनी जन्मभूमि बनाया। वैशाख कृ० द्वितीया वि० सं० १८९८ में आपकी दीक्षा हुई।

आप तातेड़ गोत्रीय ओसवाल थे।

पंजाब में आपने अत्यन्त प्रभावशाली ढंगसे धर्म का प्रचार किया।

वि० सं० १९१३ में अमृतसरमें ही आपका स्वर्गवास हुआ। मिती वैशाख वदी ८ दिन के मध्याह्न करीब सात प्रहर का संथारा आया।

पंजाब सम्प्रदाय आपको ही अपना आद्य आचार्य मानता है।

पूज्य श्री अमरसिंह जी महाराज के, रामबक्ष जी आदि कितने ही प्रमुख शिष्य थे। उनमें से चार मुख्य परिवार निकले। रामबक्षजी—अलवर निवासी ओसवाल जाति के लोढा वंश के थे। पच्चीस वर्ष की उम्र में आपने जयपुर में दीक्षा ली। मालेरकोटला में आपको आचार्य पद दिया गया।

इन चार परिवारों में पहला पूज्य काशीराम जी महाराज का, दूसरा पूज्य मोतीलालजी महाराज का (मोतीलालजी म० १९३९ में आचार्य बने। आपका स्वर्गवास १९५८ में हुआ),

तीसरा श्री मयारामजी महाराज का और चौथा श्री लाल-चन्दजी महाराज का है।

पूज्यवर, सन्तद्वय मयारामजी महाराज और लालचन्दजी महाराज दोनों ही महात्मा अपने समय के बड़े प्रभावक सन्त थे। मारवाड़ से लेकर अम्बाला तक मयारामजी महाराज के अपूर्व तप-तेज का प्रभाव प्रसारित था।

श्री लालचन्दजी महाराज का पश्चिमी पंजाब पर सर्वाधिक वर्चस्व था सियालकोट में, अन्तिम स्थिरवास करने के कारण इनका प्रचार उधर के ही क्षेत्र में अधिक रहा। उनके प्रमुख चार शिष्य थे।

लालचन्दजी म० के प्रथम शिष्य लक्ष्मीचन्दजी महाराज थे। इनके शिष्य रामस्वरूपजी महाराज हुए। इनके जीवन में एक बहुत विलक्षण घटना घटित हुई कि दीक्षा के दो वर्ष अनन्तर ही श्री लक्ष्मीचन्द श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में चले गये और इन्हें भी उधर खैंचने की भरसक चेष्टा की, तो भी रामस्वरूप जी म० तो अपने पंथ पर अडिग रहे। गुरु के चले जाने पर भी शिष्य ने शान को हाथ से नहीं जाने दिया। अन्त में इन्होंने नाभा नगर में स्थिरवास किया। उनके कितने ही शिष्य हुए, जिनमें से कविवर अमर मुनि विशेष उल्लेखनीय हैं। असामयिक मृत्यु के कारण उनका देहावसान हो गया और हमें खेदपूर्वक लिखना पड़ता है कि समाज और देश ने एक रत्न खो दिया। वे समाज-विभूति थे और सन्त परम्परा

की एक सुन्दर कड़ी थे। वे अहिंसा के प्रचारक, शान्ति के प्रकाशक, आत्मा के उजारक और हृदय के धनी महात्मा थे।

उन्होंने लगभग ७ लाख लोगों का मांस मदिरा सेवन छुड़वाया। खन्ना जैसे नगरों को जैनधर्म में रंग देने का अमर श्रेय इन्हीं शान्तमना महात्मा को है।

यदि ये सन्त कुछ वर्ष और जीवित रहते तो निश्चय ही जाति और समाज अधिक सुख की छाया में विश्राम लेता।

पू० सोहनलालजी महाराज

आपने पूज्य अमरसिंहजी महाराज के श्रीचरणों में वि० सं० १६३३ में पंचमहाव्रत स्वीकार किये। शास्त्रों का गंभीर अध्ययन करके अत्यन्त कुशलतापूर्वक आपने आचार्य पद का निर्वाह किया। आपकी संगठन शक्ति असाधारण थी। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में पार्श्वनाथ विद्याश्रम की रचना आपके नामसे हुई जिसमें जैनधर्मका उच्चस्तरीय शिक्षण दिया जाता है।

संस्था की ओर से श्रमण नामक एक मासिक पत्र भी निकलता है। आप पंजाब केशरीके नामसे आज भी विख्यात हैं।

गणिवर्य श्री उदयचन्दजी महाराज

आप ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। संस्कारों के अनुरूप उच्च शिक्षा प्राप्त की और जैन श्रमण बनकर आगमों का भी गंभीर अध्ययन मनन किया। मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में शास्त्रों के

आधार पर आपने कई प्रसिद्ध आचार्यों से चर्चा की और सैद्धांतिक पक्ष को दृढ़ किया।

अजमेर सम्मेलन में आप शान्तिरक्षक के स्थान पर नियुक्त किये गये और सारे समाज ने आपको गणिवर्य के रूप में स्वीकार किया। आपका प्रभाव जैन-जैनेतर सर्वश्रेणी की जनता पर अद्भुत था।

८५ वर्ष की उम्र में दिल्ली में आपका देहावसान हुआ।

पू० श्री काशीरामजी महाराज

आपका जन्म पसरूर (स्यालकोट) में हुआ।

१८ वर्ष की अवस्था में आपने श्री सोहनलालजी महाराज के चरणों में दीक्षा ग्रहण की।

आपका जन्म संवत् १९६० में हुआ था।

दीक्षा के ९ वर्ष बाद ही आपको भावी आचार्य रूप में घोषित किया गया। इससे समझा जा सकता है कि आपकी आचारशीलता और स्वाध्याय परायणता कितनी तीव्र थी। आपकी आवाज बहुत बुलंद थी, अनेक गुणसम्पन्न होने पर भी आप अत्यन्त नम्र थे।

होशियारपुर में आपका आचार्य समारोह अत्यन्त उत्साह से मनाया गया। आपने वीरसंघ की योजनामें पं० शतावधानी रत्नचंद्रजी महाराज को उत्तम स्वीकार किया।

बोटाद सम्प्रदाय

पू० जसराजजी महाराज

आप पूज्य धर्मदासजी महाराज के पंचम पट्टधर आचार्य हुए। वि० सं० १८६७ में केवल १३ वर्ष की आयु में ही पूज्य दशरामजी महाराज के पास मोरवी में दीक्षा ग्रहण की। आपकी तेजस्विता समाज में विख्यात थी। आगमों के गंभीर ज्ञान से आपका यश तत्कालीन समाज में बहुत फैला हुआ था। ध्रांगध्रा से जब आप बोटाद में स्थिरवास के लिए आये तबसे इस सम्प्रदाय का नाम बोटाद सम्प्रदाय पड़ गया। वि० सं० १९२९ में आपका स्वर्गवास हुआ।

पू० अमरशीजी महाराज

आप क्षत्रीय वंश में उत्पन्न प्रभावशाली सन्त थे। वि० सं० १८८६ में आपका जन्म हुआ। माता-पिता का वियोग छोटी उम्र में ही हो गया। लाठी के दरबार लाखाजी राज ने आपको बड़ा किया। सं० १९०९ में पूज्य जसराज जी महाराज के पास दीक्षित हो गए। संस्कृत, प्राकृत, ज्योतिष आदि विषयों का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया।

पू० हीराचन्दजी महाराज

आपका जन्म खेड़ा (मारवाड़) में हुआ था। वि० सं०

१६२८ में रामनगर में पू० जसराजजी स्वामी के शिष्य रणछोड़-दासजी महाराज के पास दीक्षित हुए। आपकी व्याख्यानशैली रोचक थी। बढ़वाण शहर में सं० १६७४ में आपका स्वर्गवास हुआ। आप क्रियाशील और स्वाध्याय प्रेमी भी थे।

पू० मूलचन्दजी स्वामी

वि० सं० १६२० में नागमेर गांव में आपका जन्म हुआ। आपकी स्मरण शक्ति बहुत तीव्र थी। वि० सं० १६४८ में आप पूज्य हीराचन्दजी महाराज के पास दीक्षित हुए।

सूत्र सिद्धांतों का आपने अत्यन्त भक्तिपूर्वक अभ्यास किया। चर्चा में बिना आगम प्रमाण के बोलना आपको पसंद न था।

पू० माणकचन्दजी महाराज

बोटाद के पास तुरखा नामक गांव में वि० सं० १६३८ में आपका जन्म हुआ। वि० सं० १६०३ में पूज्य अमरशी महा-राज के पास दीक्षित हुए। संस्कृत, प्राकृत भाषाओं का खूब अभ्यास किया।

आपने अपने चरित्र बल से खूब परीषह सहन किये। बोटाद सम्प्रदाय में आपकी बहुत प्रतिष्ठा है। आपके शिष्य लालचन्दजी शुद्धचित्त के शान्त मुनिराज थे। मृत्यु से पहले ही आप उसे जान गए थे। जिस रोज आपने कहा कि आज मुझे शरीर छोड़ना है, उसी दिन आप स्वर्ग सिधारे।

पूज्य शिवलालजी महाराज

आप भावसार ज्ञाति कुल में उत्पन्न हुए थे। सगाई छोड़कर वि० सं० १६७४ में पूज्य माणकचन्दजी महाराज के पास दीक्षित हुए। "पंचपरमेष्ठी नो प्रभाव" नामक पुस्तक आपकी ही रचना है। आपकी प्रवचन शैली अत्यन्त सरस व सुबोध है।

पू० धर्मदासजी महाराज का सम्प्रदाय

(विशिष्ट मुनिवरों का संक्षिप्त परिचय)

तेरापंथ सम्प्रदाय—

आचार्य श्री भीषणजी

मरुभूमि के कंटालिया ग्राम में वि० सं० १७८७ में आपका जन्म हुआ।

सं० १८०८ में आप केवल २५ वर्ष की अवस्था में श्री रघुनाथजी महाराज के श्रीचरणों में दीक्षित हुए। आपकी तर्क-शक्ति और विचार शक्ति अति तीव्र थी। निश्चय नय की ओर अधिक झुकाव होने से दया-दान के अहिंसात्मक निषेधपरक अर्थ को ही आप धर्म के रूप में मानने लगे। पंचव्रतधारी साधुओं के अतिरिक्त अन्य प्राणियों को साता पहुंचाने में आप एकांत पाप की मान्यता का प्रचार करने लगे।

हिंसा-त्याग में धर्म मानते थे किन्तु असंयमी के प्राण-रक्षण को पाप कहने लगे।

आचार्य भीषणजी की ऐसी मान्यताओं से पूज्य रघुनाथजी महाराज सहमत न हो सके। यह देखकर उन्होंने भीषणजी को संघसे पृथक् कर दिया। भीषणजी ने अन्य १२ साधुओं के साथ

बगड़ी (मारवाड़) में वि० सं० ११५ में अपनी अलग परंपरा खड़ी कर दी।

कुल १३ व्यक्ति होनेसे यह सम्प्रदाय तेरहपंथ के नाम से प्रख्यात हुआ।

आपने ढाल साहित्य की सुन्दर रचना की है।

आपके चौथे पट्ट पर आचार्य जीतमलजी हुए, जो जयाचार्य कहलाए। आपने सम्प्रदाय का दृढ़ संगठन किया और "भ्रम-विध्वंसन" नामक ग्रन्थ की रचना करके अपनी अद्भुत मान्यताओं का विस्तृत समर्थन किया। आप राजस्थानी के उत्कृष्ट कवि थे। कई सूत्रों को आपने रासबद्ध किया है।

वर्तमान में आचार्य तुलसी इस पंथ के संचालक हैं। आप भी अच्छे लेखक और कवि हैं। आचार्य भीषणजी की मान्यताओं का आधुनिक पद्धति और कलापूर्ण ढंग से प्रचार करने का प्रयास कर रहे हैं। मुनि श्री नथमलजी, नगराजजी आदि अन्य मुनिराज आपके महान् सहयोगी हैं।

अभी-अभी आपने अणुव्रत आन्दोलन आरम्भ किया है जिसके द्वारा राष्ट्र नेताओं को आकर्षित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

पूज्य श्री चोथमलजी महाराज का सम्प्रदाय

पूज्य रघुनाथजी महाराज की शिष्य परम्परा में पूज्य धर्मदासजी महाराज के आठवें पट्ट पर आप आचार्य रूप में

विराजमान हुए। आप पूज्य भैरूलालजी महाराज के शिष्य हैं। विद्वान् वक्ता हैं।

आपके सम्प्रदाय में ही श्री शार्दूल सिंहजी महाराज वि० सं० १९३७ में जन्मे। आप संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के अच्छे विद्वान् हैं।

पूज्य रत्नचन्द्रजी महाराज का सम्प्रदाय

पूज्य धर्मदासजी महाराज के ९९ शिष्यों में धन्नाजी महाराज अग्रगण्य विद्वान् थे। आपके परिवार में बहुत वृद्धि हुई। आचार्य कुशालजी—पूज्य धन्नाजी महाराज के शिष्य पूज्य भूधरजी महाराज के पास दीक्षित हुए। आपके शिष्य पूज्य गुमानचंदजी महाराज अत्यधिक प्रभावशाली आचार्य हुए, जिनके १२ शिष्य विज्ञ विद्वान् थे।

इन सब में अग्रगण्य पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी महाराज से इस सम्प्रदाय का आरम्भ हुआ।

पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी महाराज

राजस्थान में कुडगांव नामक स्थान में आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम लालचन्दजी और माता का नाम था हीरा देवी। नागौर के श्रीमंत सेठ गंगारामजी ने आपको गोद लिया था।

वि० सं० १९४८ में पूज्य गुमानचन्दजी महाराज के श्री चरणों में आप उत्कट वैराग्य भाव से दीक्षित हो गए। आपने

आगमों का गंभीर अध्ययन, मनन किया और तत्कालीन सन्तों में प्रतिष्ठा प्राप्त की।

स्थविर मुनिराज श्री दुर्गादासजी महाराज की प्रबल इच्छा से समस्त श्रीसंघ ने मिलकर आपको आचार्य पद पर अभिषिक्त किया। आपने हजारों जैनेतरों को जैनधर्म की दीक्षा दी। सं० १९०२ में आप स्वर्ग की ओर प्रयाण कर गए।

पूज्य श्री शोभाचन्द्रजी महाराज

पूज्य रत्नचन्द्रजी महाराज के चौथे पट्ट पर आप आचार्य रूप में विराजमान हुए।

वि० सं० १९१४ में जोधपुर के सेठ भगवानदास की सह-धर्मिणी पार्वती देवी की कुक्षि से आपने जन्म लिया।

१३ वर्ष की अवस्था में पूज्य श्री कजोड़ीमलजी महाराज के श्रीचरणों में आप दीक्षित हो गए।

आपकी नम्रता, गंभीरता, गुरुसेवा सहिष्णुता और मिलन-सार प्रकृति से प्रभावित होकर चतुर्विध श्रीसंघ ने संवत् १९७२ में आपको अजमेर में आचार्य पद प्रदान किया।

संवत् १९८३ में अनेक भव्य जीवों का उद्धार करते हुए आप समाधि मरण से स्वर्ग सिधारे।

मेवाड़ी सम्प्रदाय—

पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज की परम्परा

पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज के ग्यारहवें पट्ट पर श्री एक-लिंगदासजी महाराज आचार्य रूप में विराजमान हुए।

आप मेवाड़ देश में परम त्यागी और तपस्वी मुनिराज थे।

संगसेरा नामक गांव के सेठ शिवलालजी की सहधर्मिणी सुरताबाई की कुक्षि से संवत् १९१७ में आपका जन्म हुआ।

३० वर्ष की अवस्था में पूज्य वेरनीदासजी महाराज के पास आकोला में दीक्षित हुए।

संवत् १९८७ श्रावण कृष्ण २ को ऊँटाले में आपका स्वर्गवास हुआ।

आपके ६ विद्वान् शिष्य हुए हैं, जिनमें श्री मोतीलालजी महाराज अग्रगण्य हैं।

पूज्य मोतीलालजी महाराज

संवत् १९९२ में आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए।

संवत् १९६० में सेठ धूलचन्दजी सांभर की सहधर्मिणी सौ० जड़ावबाई की कुक्षि से ऊँटाला में आपका जन्म हुआ।

केवल १७ वर्ष की अवस्था में आप दीक्षित हो गए। आप सरल स्वभावी और सरस वक्ता हैं। आपके गुरुभाई श्री मांगी-लालजी महाराज का जन्म "राजाजी का करेड़ा" में हुआ। केवल ११ वर्ष की आयु में ही आप दीक्षित हो गए। आप चरित्रशील मुनिराज हैं।

मनोहर सम्प्रदाय

नागौर शहर के ओसवाल वंश में पूज्य श्रीजी का जन्म हुआ।

पहले आप लोंकागच्छ के यति श्री सदारंगजी के पास दीक्षित हुए, बाद में क्रियोद्धारक पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज के प्रधान शिष्य बने।

आप प्रतिभाशाली विद्वान् तपस्वी मुनिराज थे। आपकी प्रवचन शैली अत्यन्त प्रभावोत्पादक होने से सैकड़ों भव्य जीवों का आपने उद्धार किया। आपका शिष्य वर्ग जमना-पार के सन्त कहलाते हैं।

आपके शिष्य पूज्य भागचन्द्रजी महाराज ने भी युक्तप्रान्त में अनेक क्षेत्रों को पवित्र किया। परिषहों को सहन कर जैन-धर्म की आगमानुसारी चरित्रशीलता को दृढ़ किया।

पूज्य श्री खेमचन्द्रजी महाराज

आप एक अमर शहीद मुनिराज माने जाते हैं। विधर्मियों की कट्टरता के शिकार होने पर आपने प्राणों की भी परवाह नहीं की और हंसते-हंसते मृत्यु का आलिंगन किया।

पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी महाराज

संवत् १८६२ में आप नवकार मंत्र के पंचम पद पर प्रतिष्ठित हुए। शास्त्रों के आप प्रकांड पंडित थे। मुनिराजों ने आपको गुरुदेव की उपाधि दी थी। जैन-जैनेतर आपको उक्त नाम से ही संबोधित करते हैं। अनेक शास्त्रार्थों में आपने विजय प्राप्त की। युक्तप्रान्त में अनेक संस्थाएं आपके नाम से समाजोपयोगी कार्य कर रही हैं। आप सुलेखक व सुकवि थे।

गुरु-स्थान-चर्चा आपकी विलक्षण लेखन शैली का अच्छा परिचय देता है।

सुप्रसिद्ध विजयानंद सुरीश्वरजी महाराज जब स्थानकवासी सम्प्रदाय में आत्मारामजी महाराज कहलाते थे तब आपके चरणों में बैठकर ही शास्त्रों का अध्ययन किया था।

पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज

जयपुर राज्यान्तर्गत सिंघारे नामक ग्राम में संवत् १९२५ में आपका जन्म हुआ।

संवत् १९४१ में पूज्य मंगलसेनजी महाराज की सेवा में आप दीक्षित हुए।

संवत् १९८८ में आचार्य पद प्राप्त किया। आपको आगम-विषयक गंभीर ज्ञान था। ज्योतिष् शास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे। आपने अपने कर-कमलों से अनेक आगम-ग्रन्थ सुवाच्य अक्षरों में लिपिबद्ध किये थे।

संवत् १९९२ में आपका स्वर्गवास हुआ।

पूज्य श्री रामचन्द्रजी महाराज

पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज दूसरे पट्ट पर आप आचार्य रूप में विराजमान हुए। आप धारानगरी राज्य में गोस्वामी-गुरु थे। संस्कृत और वेद-वेदांग के आप पारंगत पंडित थे।

हाथी पर विराजमान होकर शहर का निरीक्षण करते करते पूज्य धर्मदासजी महाराज की वाणी कानों में पहुंचते ही

वैराग्य परायण हो गए। अन्तरात्मा में चैतन्य शक्ति भर आई और गोस्वामी जीवन के विलास का त्याग करके आचार्य धर्मदासजी के सत्संग से चरित्रशील बन गए।

एक बार विहार करते हुए आप उज्जैन पधारे वहां पेराका सरकारी विदुषी मातेश्वरी ने कुछ ऐसे श्लोक पूछे जिनका अर्थ बताने में अनेक विद्वान् असफल रहे थे। पूज्य रामचन्द्रजी महाराज ने सरल, स्पष्ट और हृदयस्पर्शी परमार्थ बतला कर महारानी का समाधान कर दिया। तब महारानी ने यथेच्छ द्रव्य समपण करना चाहा। आचार्य श्री ने जैन साधुओं का स्वरूप बतला कर कहा कि हम लोग तो कंचन, कामिनी के त्यागी होते हैं। यदि आपको परोपकार की इच्छा हो तो आपकी जेल में जो हजारों कैदी हैं उन्हें छोड़ दीजिए। महाराज पेशवा ने आपकी आज्ञा मान ली। सबको कारागृह से मुक्त कर दिया गया। जैनधर्म की अच्छी प्रभावना हुई। अपराधियों ने पुनः अपराध न करने की प्रतिज्ञाएं कीं।

आपकी यश प्रतिष्ठा से ईर्ष्यालुओं के दिल जलने लगे और ग्वालियर के सिंधिया सरकार को शिकायत की कि यह गोस्वामी गुरु अपने मठाधीश गुरु को धोखा देकर जैन साधु हो गया और सनातन धर्म की निन्दा करता है। शंकर और गंगा का अपमान करता है।

सिंधिया सरकार को क्रोध उत्पन्न हुआ। पूज्य रामचन्द्रजी से प्रश्न किया कि—"क्या आप महादेव को नहीं मानते ? इसके

उत्तर में पूज्य रामचन्द्रजी महाराज ने कहा—"राजन् जिसने रागद्वेष, क्रोध मान, माया और लोभ का संहार कर दिया है उसे हम महादेव कहते हैं। सारा जीवन हम उसी महादेव की पूजा में बिताते हैं। गंगाजी का हम माता की अपेक्षा अधिक सम्मान करते हैं। अपमान तो वे करते हैं, जो उसमें मलमूत्र छोड़ते, हाथपैर धोते और उसे हर तरह अपवित्र बनाते हैं।"

ऐसा युक्तियुक्त उत्तर सुनकर राणाजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और विद्वेषी लोग जलभुन गए।

इस प्रकार आप अपनी प्रतिभाशाली बुद्धि वैभव से एक सम्माननीय आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

पू० माधव मुनिजी

"सौ साधों और एक माधो" के नामसे प्रसिद्ध कविराज माधवमुनि—एक प्रभावशाली आचार्य हुए हैं। आप वाद-विवाद में मशहूर थे।

आप प्रवचन की कला में निष्णात थे। आपकी कविताए अत्यन्त भावमयी और विद्वत्तापूर्ण होती थीं।

पू० ताराचन्दजी महाराज

वि० सं० १९४६ में आप दीक्षित हुए।

आप बड़े स्वाध्याय प्रेमी और सरल प्रकृति के संत थे।

७६ वर्ष की उम्र में भी आप उग्र विहारी थे। मैसूर और हैदराबाद की ओर भी आपने बहुत उपकार किया।

लिम्बड़ी का बड़ा सम्प्रदाय–

पू० अजरामरजी

पूज्य धर्मदासजी महाराज के ९९ शिष्यों में से २२ विद्वान् मुनिराजों ने २२ सम्प्रदायों का निर्माण किया। इस घटना का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। २१ शिष्य तो राजस्थान, पंजाब आदि प्रान्तों में फैले और १ शिष्य सौराष्ट्र में पधारे। उनका नाम था पूज्य मूलचंदजी महाराज। आपके ७ शिष्य बहुत प्रभावशाली पंडित हुए। सातों ने अलग अलग संगठन किया जिसमें सबसे विशाल संघ के संस्थापक थे—पूज्य अजरामरजी स्वामी। आप श्री कानजी स्वामी से दीक्षित हुए।

आपके पिताजी का नाम था श्री माणकचन्दजी और माताजी का नाम था कंकूबाई। वि० सं० १८०१ में जामनगर के पास पड़ाणा गांव में आपका जन्म हुआ।

केवल १० वर्ष की आयु में ही आप अपनी माताजी के साथ ही दीक्षित हुए।

सूरत में पूज्य गुलाबचन्दजी यतिवर्य के पास रहकर आपने संस्कृत, प्राकृत भाषा और आगमों का गहरा अध्ययन किया। आपकी स्मरण शक्ति अति तीव्र थी। पूज्य दौलतरामजी महाराज के पास रहकर आपने शास्त्रों का परमार्थ जाना। २७ वर्ष उम्र में ही आप एक प्रकांड पंडित के रूप में प्रख्यात हो गए।

वि० सं० १८४५ में आप आचार्य पद पर आसीन हुए। चरित्र की निर्मलता के प्रभाव से आपने सभी विघ्न-बाधाओं का निवारण किया और शिथिल तथा विपरीत विचारधाराओं का डटकर सामना किया।

आपके प्रवचनों का असर स्थायी होता था। तत्कालीन सेठ नानजी डूंगरसी ने आपकी बहुत ज्ञान-सहायता की जिससे धर्म प्रचार में पर्याप्त सरलता हो गई।

सं० १५६२ में नानकजी स्वामी के रूपजी पाटे बैठा। १५८२ में जीवराजजी आचार्य हुए। सं० १५८७ में जीवराजजी के पाट पर वड़ावीरजी बैठे। ६५ वा, पाट पर रघुवीरजी बैठे। १६०५ में जशवंतजी आचार्य बैठे।

१६१६ में रूपजी स्वामी बैठे।

१६३६ में दामोदरजी स्वामी बैठे।

१६५६ में धनराजजी स्वामी बैठे।

१६७८ में चिन्तामणि स्वामीजी बैठे।

१६९३ में खेमकरणजी स्वामी बैठे।

पू० लाधाजी स्वामी

कच्छ गुंदाले ग्राम के निवासी मालसी भाई की सहधर्मिणी सौ० गंगाबाई की कुक्षि से आपका जन्म हुआ।

सं० १९०३ में बांकानेर प्रान्त में आप दीक्षित हुए।

सं० १९६३ में आप आचार्य पद पर अभिषिक्त हुए।

तत्कालीन विद्वान् संतों में आप बहुत प्रख्यात थे। जैन-

शास्त्रों का अध्ययन करके आपने "प्रकरण-संग्रह" नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ सर्वत्र उपयोगी सिद्ध हुआ। प्रसिद्ध ज्योतिष शास्त्रज्ञ श्री छोटेलालजी म० आपही के शिष्य हैं।

पू० देवचन्द्रजी स्वामी

सं० १६०२ में कच्छ प्रान्त के समाणिया गांव में आपका जन्म हुआ।

११ वर्ष की अवस्था में ही आप दीक्षित हुए। आपके पिता श्री रंगजी स्वामी ने भी साथ में ही महाव्रत धारण कर लिया।

आपने शिष्य बनकर शास्त्रों का बहुमुखी स्वाध्याय किया। अनेकांत का मर्म समभाव के रूप में हृदयंगम किया।

सं० १६७७ में आपने स्वर्ग-गमन किया।

पू० गुलाबचन्द्रजी महाराज

आपने अपने भाई वीरजी स्वामी के साथ अंजार नगर में शिक्षा ग्रहण की।

सं० १६२१ में मारोला नामक गांव में आपका जन्म हुआ।

सं० १६८८ में आचार्य पद प्राप्त किया। पंडितरत्न शतावधानी रत्नचन्द्रजी महाराज आपके ही शिष्य थे। आपने मूलसूत्रों का गंभीर अध्ययन किया है। संस्कृत, प्राकृत भाषाओं के भी प्रकांड पंडित थे।

पू० नागजी स्वामी

आपमें व्यवस्था शक्ति प्रबल थी। विद्वत्ता, गांभीर्य और

आचार-विचार सुदृढ़ थे। आचार्य पद पर न होने पर भी सारा कार्य संचालन करते थे।

लिम्बड़ी में ही आप दीक्षित हुए और वहीं स्वर्गवास भी हुआ।

आपके स्वर्गवास के बाद एक यूरोपियन महिला और लिम्बड़ी के ठाकुर साहब की जो दयनीय दशा हुई उसे देखकर आपकी भावनाशीलता और धर्मानुरागता का उत्तम परिचय मिलता है।

शतावधानी पं. रत्नचन्द्रजी महाराज

आपने अपनी सहधर्मिणी के देहावसान के बाद एक कन्या को छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की।

सं० १९३६ में मारोला (कच्छ) में आपका जन्म हुआ। आपका स्वभाव अत्यन्त शान्त और हृदय स्फटिक समान निर्मल था। आपने विद्वान् गुरुदेव श्री गुलाबचन्द्रजी महाराज के चरणों में रहकर विद्या का विशाल अध्ययन किया। संस्कृत भाषा में आप धाराप्रवाही प्रवचन करते थे। अनेक गद्य-पद्यात्मक काव्यों के रचयिता थे। "अर्धमागधी कोष" बनाकर आगमों के अध्ययन का मार्ग सरल व सुगम बनाया। संसार के विद्वान् साहित्य संशोधन के लिए उक्त कोषसे सहायता लेते हैं।

आपने "जैन सिद्धान्त कौमुदी" के नाम से सुबोध "प्राकृत व्याकरण" भी तैयार किया है। न्याय शास्त्र के भी आप प्रकांड

पंडित थे। अवधान शक्ति के प्रयोगों से ही आप शतावधानी के नामसे पहचाने जाते हैं।

समाज सुधार और संगठन-कार्य में भी आपको रस था। अजमेर साधु सम्मेलन के शक्ति-संस्थापकों में आपका अग्रगण्य स्थान है। जयपुर (राजधानी) में आपको "भारतरत्न" की उपाधि दी गई थी।

सं० १९४० में आपको शारीरिक व्याधि उत्पन्न हुई। शस्त्र-क्रिया भी की गई किन्तु आयुष्य पूर्ण होनेके कारण बम्बई में आपका स्वर्गवास हुआ।

आप आचार्य पद पर आसीन न होने पर भी एक अत्यन्त सम्माननीय सन्त माने जाते थे। प्रवचन की शैली अत्यन्त सुबोध और लोकप्रिय थी।

आपके देहावसान से समाज ने एक धुरंधर विद्वान और महान् संगठनप्रिय "भारत रत्न" को खो दिया।

लिंबड़ी छोटे सम्प्रदाय की परम्परा–

पूज्य हीमचन्द्रजी महाराज

वि० सं० १९१५ में लिंबड़ी सम्प्रदाय के दो विभाग हो गए। पूज्य देवराजजी स्वामी के शिष्य मुनि श्री अविचलदासजी महाराज के चरणों में मुनि श्री हीमचन्द्रजी महाराज दीक्षित हुए।

आप बढ़वाण के शहर टिम्बा निवासी बीसा-श्रीमाली

वणिक् के घर में उत्पन्न हुए। वि० सं० १८७५ में आपने पंच महाव्रत धारण किये। संवत् १६१५ में आपका चातुर्मास धोलेरा में हुआ। तबसे लिम्बड़ी सम्प्रदाय के दो विभाग हो गए।

सं० १६२६ में आपका देहान्त हुआ। आपके पट्ट पर श्री गोपालजी स्वामी आचार्य हुए।

पू० गोपालजी स्वामी

वि० सं० १८८६ में ब्रह्मक्षत्रीय वंशीय श्री मूलचन्दजी की सहधर्मिणी सोजाबाई की कुक्षि से तेजपुर में आपका जन्म हुआ।

केवल १० वर्ष की अवस्था में ही आप दीक्षित हो गए। सूत्रों का गहन अध्ययन किया। आगम के अध्ययन में आपकी अद्भुत प्रतिभा थी। दूर-दूर से साधु-साध्वी शास्त्रों का स्वाध्याय करने को पधारते थे।

वि० सं० १६४० में आपका स्वर्गवास हुआ। लिम्बड़ी का यह छोटा सम्प्रदाय श्री गोपालजी स्वामीका संघाड़ा कहलाता है।

मुनि श्री मोहनलालजी स्वामी

आपका जन्म स्थान धोलेरा था। पिताजी का नाम श्री गंगजी कोठारी और माताजी का नाम था धनी बाई।

वि० सं० १६३८ में अपनी बहिन मूली बाई के साथ दीक्षित हुए। आपकी लेखन शक्ति प्रबल थी। "प्रश्नोत्तर मोहनमाला" चर्चा ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है।

पूज्य मणिलालजी स्वामी

वि० सं० १६४६ में धोलेरा में आप दीक्षित हुए। शास्त्रों का गहरा स्वाध्याय किया। आप लोकप्रिय, विनीत और सरल-स्वभावी मुनिराज थे। ज्योतिष के विषय पर भी आपका अधिकार था।

"प्रभुवीर पट्टावली" सरीखा ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखकर आपने समाज की उल्लेखनीय सेवा की है। अनेक शास्त्रीय विषयों के प्रश्नोत्तर भी आपने लिखे हैं। अजमेर के साधु-सम्मेलन में आप अग्रगण्य शान्ति-सुरक्षक थे।

सं० १८८६ में आपका देहान्त हो गया।

तपस्वी उत्तमचन्द्रजी महाराज और अध्यात्मरसिक मुनि श्री केशवलालजी महाराज भी इस सम्प्रदाय के प्रधान मुनिराज माने जाते हैं।

गौंडल सम्प्रदाय—

पूज्य डूंगरशी स्वामी

आप ही गोंडल सम्प्रदाय के आद्य सन्त थे। मुनि श्री मूल-चन्दजी स्वामी के शिष्य पचाणजी के पास आप दीक्षित हुए। आपका जन्म सौराष्ट्र प्रान्त के "मेंदारडा" नामक ग्राम में सेठ कमलसी भाई की सहधर्मिणी हीरबाई की कुक्षि से वि० सं० १७७२ में हुआ था।

२५ वर्ष की आयु में दीव नामक ग्राम में आपने पंचमहाव्रत

स्वीकार किये। वि० सं० १८४५ में आप आचार्य पद पर अभिषिक्त हुए।

शास्त्रों के स्वाध्याय में आप निरन्तर जागृत थे। निद्रा का भी त्याग कर देते थे। प्रख्यात राजमान्य सेठ सौभागचन्द्रजी आपके ही शिष्य थे।

सं० १८७७ में गोंडलमें ही आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी चरित्रशीलता और सम्प्रदाय परायणता एवं आगमानुसारी मान्यता में बुद्धिमूलक थी।

तपस्वी श्री गणेशजी स्वामी

राजकोट के पास खेरड़ी गांव को आपने अपनी जन्मभूमि बनाया। आप एकांतर उपवास करते थे। अभिगृह पूर्वक तपस्याएं भी आपने बहुत कीं।

वि० सं० १८६६ में ६० दिन की संलेखना में आपका स्वर्गवास हुआ।

पूज्य बड़े नेणसी स्वामी का परिवार—

पूज्य खोड़ाजी स्वामी

आप पूज्य बड़े नेणसी स्वामी के सुप्रसिद्ध छः शिष्यों के परिवार में बड़े प्रभावशाली सन्त थे। पूज्य मूलजी स्वामी के शिष्य पूज्य डोलाजी स्वामी के चरणों में संवत् १९०८ में आप दीक्षित हुए।

आपका शास्त्रीय ज्ञान विशाल था। प्रवचन की शैली में

बहुत आकर्षण था। प्रसाद गुण सम्पन्न सुकवि और गायक भी थे। श्री खोड़ाजी काव्यमाला के नामसे आपके स्तवन स्वाध्याय गीतों का संग्रह प्रकाशित भी हो चुका है। स्व० वा० मो० शाह आपको "जैन कवि अक्खो" के नाम से संबोधित करते थे।

पूज्य जसाजी महाराज

राजस्थान में जन्म लेकर भी आप गुजरात सौराष्ट्र में नामी सन्त के नाम से विख्यात हुए। आप शास्त्र-ज्ञानी और क्रियापात्र भी थे।

वि० सं० १६०७ में आप दीक्षित हुए। ७० वर्ष तक चरित्र पालकर देवलोक सिधारे।

पूज्य जसाजी स्वामी के गुरुभाई हीराचन्द्रजी स्वामी के शिष्य पूज्य देवजी स्वामी हुए। उनकी सेवा में पूज्य कविवर्य अंबाजी स्वामी दीक्षित हुए। "आपने महावीर पृच्छना महा-पुरुषों" नामक पुस्तक लिखने में बहुत परिश्रम किया।

पूज्य अंबाजी स्वामी के शिष्य भीमजी स्वामी हुए। उनके चरणों में छोटे नेणसी स्वामी दीक्षित हुए जिनके शिष्य पूज्य देवजी स्वामी थे। आपके शिष्यों में पूज्य जयचंदजी स्वामी विद्वान् हुए और पूज्य माणकचंदजी स्वामी तपस्वी दोनों सगे भाई थे।

पू० जयचन्दजी स्वामी

जैतपुरके दशा श्रीमाली सेठ प्रेमजी भाई की सहधर्मिणी कुंवरबाई की कुक्षि से संवत् १६०६ में आपका जन्म हुआ।

मेंदड़ा नामक ग्राम में ३२ वर्ष की अवस्था में आप दीक्षित हुए। वि० सं० १९८७ में आपका देहावसान हो गया।

आपका प्रवचन अत्यन्त लोकप्रिय था। प्रकृति के गंभीर, विनीत और प्रशान्त होनेसे श्री संघ पर आपका अमिट प्रभाव रहा। आपने ३५ उपवास एक साथ किये थे। निरन्तर तपस्या में रत रहने से आपका तेज दिव्य होता जाता था। अनेक शिक्षण संस्थाओं के जन्मदाता मुनि प्राणलालजी जैसे समाज-सेवी मुनिराज आपके द्वारा ही स्थानकवासी समाज को भेंट मिले थे।

तपस्वी मुनि श्री माणकचन्दजी महाराज

आप पूज्य जयचन्दजी महाराज के अग्रज थे पर दीक्षा में अनुज थे। आपका आगम-ज्ञान बहुत विस्तृत था। ज्यों-ज्यों आप स्वमत और परमत का अभ्यास करते जाते थे त्यों-त्यों आपकी जिज्ञासा वृत्ति अधिक से अधिक बढ़ती जाती थी। आप अत्यन्त नम्र और तीव्र तपस्वी थे।

आपने अनेक शिक्षण संस्थाओं का संचालन किया। आप योग के आसनों में प्रवीण थे। सौराष्ट्र के मुनियों में आप अग्रगण्य माने जाते थे।

पू० पुरुषोत्तमजी महाराज

आपका जन्म बलदाणा नामक ग्राम में हुआ। मांगरोल में पूज्य जादवजी महाराज के पास आप दीक्षित हुए। वर्तमान में

गोंडल-सम्प्रदाय में वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और तपोवृद्ध आचार्य आप ही हैं। आपकी क्रिया परायणता भी आदर्श है।

सायला सम्प्रदाय—

पू० नागजी स्वामी का परिवार

वि० सं० १८७२ में पूज्य बालजी स्वामी के शिष्य पूज्य नागजी स्वामी ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की है। आप बेले बेले पारणा करते थे और पारणा में आयंबिल करते थे। अभिग्रह भी आपने अनेक धारण किये। चर्चावादी पूज्य भीमजी स्वामी और शास्त्रों के अभ्यासी मूलजी स्वामी आपके ही शिष्य थे। ज्योतिष शास्त्रज्ञ पूज्य मेघराजजी महाराज और लोकप्रिय प्रवचन-कर्ता पूज्य संघ जी महाराज भी आपके ही परिवार में हुए।

श्री हरजी ऋषि का सम्प्रदाय

(विशिष्ट मुनिवरों का संक्षिप्त परिचय)

पूज्य हुक्मीचन्दजी महाराज और उनके सम्प्रदाय के मुनिराज

साधु-मार्ग-परम्परा में आचारों के तारतम्य से अनेक आचार्यों के गण बने और प्रतिपादन में अन्तर होने पर भी स्पर्शना में न्यूनाधिकता होना स्वाभाविक है।

यही कारण है कि भिन्न-भिन्न आचार्यों के गण शुद्ध आचार का पालन करने वाले व्यक्ति की सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध होने लग गए।

पवित्र व्यवहार की प्रतिस्पर्द्धा और मंगल भावनाओं की दृढ़ता के आधार पर चलती हुई भिन्नता से श्रमणों के आचार-विचारों में प्रगति हुई और आगे जाकर अनुयायियों में अहंकार और विषमता के बीज अंकुरित हो जाने से उन सम्प्रदायों ने कट्टरता का रूप ले लिया और एक दूसरे के व्यवहारों को विकृत कर दिया। इसी कारण आज सम्प्रदायवाद का विरोध करना पड़ रहा है। अन्यथा सम्प्रदाय तो धर्म को सुरक्षित रखनेके लिए एक प्रधान आश्रय मानी गई है।

जिस प्रकार जलाशय के बिना जल की प्राप्ति नहीं हो

सकती उसी प्रकार सम्प्रदायों के बिना धर्म का व्यवहार कैसे दृष्टिगत हो सकता है ?

पंचम मुनिराज हरजी ऋषि की परम्परा में कोटा-सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध था। इसमें २६ पंडित विद्वत्‌रत्न थे और एक साध्वी थी—कुल २७ थे।

पूज्य हुक्मीचंदजी म० इन्हीं पंडितों में से एक उच्च आचार-निष्ठ विद्वान् हुए हैं।

आपका जन्म ढूंढाड़ (जयपुर राज्य) के टोड़ा नामक गांव में हुआ था। संवत् १८७७ में कोटा-सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान पूज्य लालचंद्रजी महाराज के पास आप दीक्षित हुए।

आपकी इच्छा हुई कि शास्त्रानुकूल प्रवृत्तिमें मुझे विशेष प्रगति करनी चाहिए। इसी उद्देश्य से आपने अपने पूज्य गुरुसे आज्ञा मांग कर आप कुछ साधुओं के साथ विचरने लगे।

आप निरन्तर तपस्या करते थे। २१ वर्ष तक बेले बेले पारणा किये। अत्यन्त शीतकाल में भी केवल एक ही चद्दर का उपयोग करते थे। सब प्रकार की मीठाई और तली हुई वस्तु खाने का आपका त्याग था। केवल १३ द्रव्य छूट रखकर आपने अन्य सब प्रकार के स्वादों का प्रत्याख्यान कर दिया था। प्रतिदिन दो हजार "नमुत्थुणं" द्वारा प्रभु-स्तुति करते थे, सूत्रों की प्रतिलिपि करके श्रमणों को दान किया करते थे। ज्ञान ध्यान के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की प्रवृत्तियों में आपकी रुचि नहीं थी। लगभग १६ सूत्रों की प्रतियां अभीतक आपके

हाथ की लिखी हुई श्रमणों के पास मौजूद हैं। सं० १६१८ में जावद (मध्यभारत) नामक स्थान में आपका पंडित मरण स्वर्गवास हुआ।

ऐसे महान् क्रियापात्र तपस्वी, विद्वान् साधु होते हुए भी आपने यह इच्छा नहीं कि मुझे आचार्य पद की आवश्यकता है। यही कारण है कि आपके नामसे शुद्ध आचार पालने वाला एक महान समूह "साधु मार्गीय" सम्प्रदाय में अग्रगण्य कहलाने लगा।

पूज्य श्री शिवलालजी महाराज

पू० हुक्मीचंद्रजी महाराज का स्वर्गवास होने पर, उनके स्थान पर पूज्य श्री शिवलालजी महाराज को आचार्य पद पर नियुक्त किया गया। आपने भी पैंतीस वर्ष तक एकान्तर उपवास की निरंतर तपस्या की। शास्त्र-स्वाध्याय आपका व्यसन था और धर्म के मर्म का परमार्थ प्रतिपादन करने में तत्कालीन सन्त-समाज में आप मुखिया माने जाते थे।

वयोवृद्ध होनेसे आपका विहार मालवा, मेवाड़ और मारवाड़ में ही हो सका। फिर भी, सम्प्रदाय में साधु समुदाय की बहुत वृद्धि हुई। आप स्वमत, परमत के महान् पारंगत विद्वान् थे। १६ वर्ष तक आचार्य पद पर विराजमान रहकर, आप सं० १९३४ में स्वर्गवासी हुए।

जावद के पास धाणिया (मालवा) ग्रामने आपकी जन्मभूमि होनेका गौरव प्राप्त किया।

पू० प्रवर श्री उदयसागरजी महाराज

मरुधर प्रदेश के मुख्य नगर जोधपुर में पूज्य उदयसागर जी म० का जन्म हुआ। शीघ्र ही विवाह हो जानेपर भी आपके हृदय में पूर्व जन्म का तीव्र वैराग्य जाग्रत हो उठा। माता-पिता की आज्ञा नहीं होने पर भी आप स्वयं संयमी जीवन व्यतीत करने लग गए थे।

सं० १८६७ में आपने भगवती दीक्षा स्वीकार की। अल्पकाल में ही शास्त्रों का स्वाध्याय कर लिया। आपकी प्रवचन प्रतिभा बहुत प्रभावशालिनी थी। आपके वचनातिशय और वक्तृत्वकला के निर्झर श्रोताओं के हृदयों को हरा-भरा कर देते थे। जिस साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाने आपका एक भी प्रवचन सुन लिया, उसे ज्यों का त्यों दूसरों को सुनाने की शक्ति और रुचि प्राप्त हो जाती थी। अनेक राजा महाराजा तथा नवाबों को उपदेश दिया। आपने पंजाब की ओर भी विहार किया और अनेक जैन-जैनेतर बंधुओं को पवित्र उपदेश प्रदान करके सद्धर्म मार्ग में सुदृढ़ बनाया।

श्रोताजन आपकी वाणी सुनने के लिए लालायित रहते थे। आप जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, रूपसम्पन्न, शरीरसम्पन्न, वचनसम्पन्न और वाचनासम्पन्न प्रभावशाली आचार्य हुए।

जीवन के अंतिम १७ वर्ष आपने रतलाम में बिताए। कारण पांव में असाता वेदना के उदय से व्याधि हो गई थी।

आपके आचार्यत्व-काल में साधु श्रावकों के संघ की बहुत वृद्धि हुई।

अंतमें मुनि श्री चौथमलजी महाराज को आचार्य पद प्रदान करके सं० १९५४ में रतलाम शहर में आपका स्वर्गवास हुआ

पू० श्री चौथमलजी महाराज

आपका जन्म पाली (राजस्थान) में हुआ था। शिथिलाचार को आप जरा भी पसंद नहीं करते थे। स्वयं पूज्य उदयसागरजी महाराज अपने शिष्यों को सावधान करते थे—"देखो, चौथमलजी की दृष्टि तो तुम जानते ही हो, अपने आचार में जरा-सी भी ढील करोगे तो वह खबर ले लेंगे।" एक बार स्वयं आचार्य चौथमलजी महाराज लकड़ियों के सहारे खड़े होकर प्रतिक्रमण कर रहे थे, तब प्रसिद्ध श्रावक अमरचंदजी पीतलिया ने नम्र निवेदन किया—"स्वामी! आपका शरीर कारणवश वेदनाग्रस्त है तो विराजकर प्रतिक्रमण कर लीजिए।"

तब पूज्य श्री ने उत्तर दिया—"श्रावकजी, यदि मैं आज बैठकर प्रभु की इस पवित्र आज्ञा का पालन करूंगा, तो मेरे साधु-श्रावक लेटे-लेटे प्रतिक्रमण करेंगे।"

आचार-विचार में तनिक-सा भी प्रमाद अपने साथियों को और अपनी आत्मा को ले डूबता है। इस छोटे-से उदाहरण से पाठक पूज्य श्री की सावधानी का अनुमान लगा सकते हैं।

संवत् १९५७ में केवल तीन वर्ष तक अपना तीसरा पद

निर्वाह कर नेत्र शक्तिक्षीणता के कारण शीघ्र ही देवलोक सिधार गए।

प्रतापी पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज

आपका जन्म राजस्थान के टोंक कस्बे में हुआ था। बचपन में ही आपके वैराग्य-संस्कार उदित हुए, फिर भी पूर्व जन्म के किसी सम्बन्ध के कारण विवाह करना पड़ा, परन्तु शीघ्र ही नवपरिणीता सुन्दरी स्त्री का परित्याग करके दीक्षा ले ली। नाना प्रकार के बाह्याभ्यन्तर लक्षणों से पूज्य उदयसागरजी महाराज ने अपने श्रीमुख से यह फरमाया कि यह मुनि श्रीसंघ की वृद्धि करने में असाधारण सिद्ध होगा।

सचमुच आचार्य पद पर अभिषिक्त होते ही सम्प्रदाय की कीर्ति द्वितीया के चंद्र के समान अधिक से अधिक बढ़ने लगी। आपकी गंभीरता और आचार-विचार की दृढ़ता से श्रीसंघ में पक्का अनुशासन था।

आप श्रीसंघ के स्वामी होने पर भी सभी कार्य अपने हाथ से ही करते थे। आपका हृदय बहुत ही निर्मल था। इसी कारण कई घटनाएं आपको समय के पहले ही प्रतीत हो जाया करती थीं। ५१ वर्ष की आयु में जयतारण नगर में आपका स्वर्गवास हुआ।

शास्त्रविशारद पूज्य मुन्नालालजी महाराज

पू० श्रीलालजी महाराज के समय में इस सम्प्रदाय में दो

आचार्य हो गए। अनेक प्रतिभाशाली मुनियों ने मिलकर आचार-विचार और शास्त्र-ज्ञान विशालता के कारण पूज्य श्री मुन्नालालजी महाराज को भी आचार्य पद प्रदान किया।

पूज्य श्री मुन्नालालजी महाराज बहुत शान्त और शास्त्रानुसार कर्त्तव्य करने में निरन्तर सावधान थे। प्रकृति के अत्यन्त नम्र और शास्त्रों के परम मर्मज्ञ थे।

शास्त्रों की हिन्दी भाषा में टीका लिखने वाले पूज्य अमोलक ऋषिजी महाराज ने आपकी सेवा में रहकर ही आगमों का परायण किया था। अधिकांश सूत्र आपको कंठस्थ थे। प्रवचन के समय पन्ने हाथ में लेने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। आपका प्रवचन सुनने से ऐसा मालूम होता था, मानो हमारी बुद्धि सांसारिक विषयों को त्याग कर भगवान् की वाणी का ही अवगाहन कर रही है। स्मरण शक्ति इतनी अद्भुत थी कि जिस श्रावक को एक बार छोटी से छोटी उम्र में भी देख लेते थे, तो फिर चाहे वह कितने ही वर्षों बाद क्यों न आए नाम लेकर पुकार लेते थे। बड़े धर्मानुराग से कहते —"क्यों श्रावक जी! आपने तो बाल श्रावक के रूप में अमुक गांव में दर्शन किये थे।" उसे 'हां' भरनी ही पड़ती।

अजमेर साधु-सम्मेलन में पूज्य श्रीलालजी महाराज के पट्ट पर विराजमान प्रतिभाशाली व्याख्याता श्री जवाहराचार्य ने भी आपको वंदनीय पूज्य के रूप में स्वीकार किया था।

आप अस्वस्थ अवस्था में ही अजमेर-सम्मेलन में पधारे

और महान से महान साधुओं को भी अपनी वात्सल्यमयी वैयावृत्य का लाभ देकर ब्यावर में स्वर्ग सिधारे।

वादिमान-मर्दक नंदलालजी महाराज

पूज्य नंदलालजी महाराज का पूरा घर दीक्षित हुआ। प्रसिद्ध वक्ता पं० मुनि श्री चौथमलजी महाराज के गुरु सरल स्वभावी कविवर हीरालालजी आपके ही भ्राता थे। आपकी भाषा शैली अत्यन्त स्पष्ट और खरी थी। आपको आडंबर और ढोंग से बड़ी घृणा होती थी।

साम्प्रदायिक विद्वेष करने वाले बड़े बड़े सूरि और आचार्यों की आपने बड़े कड़े शब्दों में खबर ली थी।

आप कड़े तपस्वी और निर्मल अन्तःकरण के तीव्र बुद्धिशाली सन्त थे।

शास्त्रों की हिन्दी टीका करने वाले पूज्य अमोलक ऋषि जी ने आपके सान्निध्य में रहकर ही प्रवचन करना सीखा था। साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना आपमें बिलकुल नहीं थी। फिर भी आगमों के अर्थों में गड़बड़ करने वाले मुनियों की करतूतों का भंडा फोड़ देने में वे अत्यन्त क्रान्तिकारी सिद्ध हुए।

तत्कालीन स्थानकवासी जैन सन्तों की आपके चरणों में अमर्यादित शक्ति थी। पूज्य उदयसागरजी महाराज आपके विषय में यही कहा करते थे कि शास्त्र-विरुद्ध प्रतिपादन करने पर वादियों की खबर लेनेवाला, हमारे में आज एक ही शूरवीर है।

वि० सं० १९९३ में रतलाम में आप पवित्र पंडित मरण द्वारा समाधिपूर्वक स्वर्गवासी हुए।

जैनाचार्य पू० श्री जवाहरलालजी महाराज

आपका जन्म सं० १९३२ में थांदला शहर में हुआ। अल्प-वय में ही माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। मामा के पास आपका लालन-पालन हुआ। १६ वर्ष की आयु में ही दीक्षा ले ली। आप बाल ब्रह्मचारी ही थे। शीघ्र ही शास्त्रों का अध्ययन करके आपने गहरा ज्ञान प्राप्त किया। आप तुलनात्मक दृष्टि से समभावपूर्वक शास्त्रों की इतनी तर्कपूर्ण व्याख्या करते थे कि अध्यात्म तत्व का सहज साक्षात्कार हो जाता था। आपकी साहित्य सेवा अनुपम है। पूज्य श्री लालजी महाराज के बाद आप ही इस सम्प्रदाय के आचार्य बने।

सूत्र कृतांग की विस्तृत हिन्दी टीका लिखकर आपने अन्य मतों की निष्पक्ष आलोचना की है। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, वल्लभभाई पटेल, पं० मदनमोहन मालवीय और कविवर श्री नानालालजी ने भी आपके प्रवचनों का लाभ प्राप्त किया है।

आपके प्रवचन केवल नेताओं और विद्वानों को ही आकृष्ट नहीं करते थे। सामान्य ज्ञान वाले ग्रामीणों को भी प्रिय थे। इतना ही नहीं मारवाड़ के स्थली-प्रदेश स्थित तेरापंथी सम्प्रदाय का आग्रह रखने वाले कट्टर अनुयायियों के गढ़ में परिषह सहन करके भी आपने अपनी पवित्र वाणी का स्त्रोत बहाया

है। "भ्रमविध्वंसन" के उत्तर में "सद्धर्म मण्डन" और अनुकंपा ढालों के उत्तर में मारवाड़ी भाषा का वैसा ही ढाल-साहित्य रचकर आपने ग्रामीण भाइयों में भी दयादान के सिद्धांतों का रस बरसाया है। यह आपके ही अनुशासन-शिक्षण का प्रताप है कि सादड़ी सम्मेलन में पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज को उपाचार्य का पद प्रदान किया गया।

आप लगभग २३ वर्ष तक आचार्य पद का निर्वाह करके संवत् २००० में स्वर्ग सिधारे।

पू० श्री खूबचन्दजी महाराज

आपका जन्म सेठ टेकचन्दजी की सहधर्मिणी श्रीमती गेंदी बाई की कुक्षि से, निम्बाहेड़ा (राजस्थान) में कार्तिक शुक्ला ८ सं० १९३० को हुआ था। आप शीघ्र कवि और शान्त प्रवचन-कार थे। आपके व्याख्यानों में गंभीरता और परमार्थ पटुता प्रकट होती थी। पूज्य मुन्नालालजी महाराज के बाद आपको आचार्य पद पर अभिशिक्त किया गया। आप अत्यन्त नम्र थे।

आपकी दीक्षा २२ वर्ष की आयु में वादीमान-मर्दन पं० मुनि श्री नंदलालजी महाराज के कर-कमलों से नीमच में हुई।

ब्यावर में संवत् २००२ के चैत शुक्ला ३ को समाधि मरण से आपका स्वर्गवास हुआ।

प्रसिद्ध वक्ता पं० मुनि श्री चौथमलजी महाराज

सरल स्वभावी मुनिवर हीरालालजी महाराज के पास

आप दीक्षित हुए थे। पूज्य हुक्मीचन्द्रजी महाराज के सम्प्रदाय में आप बहुत बड़े वक्ता हो गए हैं। आप "जगत्वल्लभ जैन दिवाकर" के नाम से प्रख्यात हैं। आपकी व्याख्यान शैली से आकृष्ट होकर बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं ने मद्य-मांस और जीवहिंसा का त्याग किया था। जनसाधारण पर आपका इतना गहरा असर होता था कि बीड़ी, सिगरेट, जुआ और चोरी आदि नाना प्रकार के दुर्व्यसनों का तुरन्त त्याग कर देते थे। अनेक सरकारों से आपने जीवदया के पट्टे-परवाने प्राप्त किये थे।

शास्त्रों का दोहन करके आपने "निर्ग्रन्थ प्रवचन" नामक ग्रन्थ का संपादन किया, जिसका कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

भगवान् महावीर का आदर्श जीवन भी एक विशाल ग्रन्थ है, जिसे पढ़ने से जैनधर्म की सारी रूपरेखा संक्षेप में मालूम हो जाती है। आपने सरल भाषा में अनेक स्तवन-ग्रन्थ भी लिखे हैं जो जनसाधारण की जबान पर चढ़े हुए हैं। आपके अनुयायियों की संख्या विशाल है। सभी जातियों के बंधुओं को आपने जैन दीक्षा दी है।

आप अपनी आचार-मर्यादा में मजबूत होने पर भी जैन-जैनेतर सभी सम्प्रदायों के परम प्रिय थे।

कोटे में आपका स्वर्गवास हुआ, जिसकी सूचना आल इन्डिया रेडियो ने बड़े दर्द भरे शब्दों में दी। स्वर्गवास से पहले

आप दिगम्बर जैनाचार्य सूर्यसागरजी और श्वेताम्बर पूज्य जैनाचार्य आनन्द सागरजी के साथ एक मंच पर प्रवचन करके उस तरफ संकेत कर गए हैं कि "सारे जैन समाज को इसी पद्धति पर एक होकर चलना चाहिए।" कोटा में जैनियों के सभी सम्प्रदाय और अन्य मतावलम्बियों ने समान भक्ति के साथ आपकी मृत देह का अग्नि-संस्कार किया।

कोटा सम्प्रदाय परंपरा—

पूज्य श्री दौलतरामजी महाराज

पूज्य श्री हरजी ऋषि के बड़े पाट पर पूज्य दौलतरामजी महाराज विराजमान हुए। आप स्वमत-परमत के महान् विद्वान थे। संस्कृत, प्राकृत भाषा के प्रकांड पंडित थे। आपकी विद्वता से आकृष्ट होकर लिंबड़ी के बड़े पक्षके संस्थापक पूज्य अजरामजी महाराज ने आपको मालवा से आमंत्रित किया था और आपकी सेवा में रहकर शास्त्रों का गंभीर अध्ययन किया था। आपकी सम्प्रदाय में अनेक तपस्वी मुनिराज हुए।

लोंकाशाह से पूर्वकालीन श्रावक-समाज

जैनधर्म में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं के समूह का नाम संघ रखा गया है। यद्यपि यह शब्द उस समय राजकीय गणों और दलों के लिए प्रयुक्त होता था, एक जैसी विचारधारा के मानने वालों का नाम तो भले ही कोई संघ डाल दें किन्तु अनिवार्य रूप से चतुर्विध सदस्यों के समूह का नाम ही संघ हो सकता है, ऐसा विधान करने वाले तो भगवान् महावीर ही थे।

भगवान् ने जहां साधुओं का वर्णन किया है वहां श्रावकों को पीछे नहीं रखा है। गौतम, सिंह, सुधर्मा स्वामी जैसे अनगारों का, आनन्द, प्रदेशी, शंख जैसे श्रावकों का, पोट्टिला चन्दनबाला आदि साध्वियों का और काली, भद्रासार्थवाही रेवती आदि श्राविकाओं का विशाल विवरण आगमों में भगवान् द्वारा प्रतिपादित उपलब्ध हैं। संघ के नाते सभी सदस्यों को समान अधिकार हैं। उसमें संघ-हित के नाते सभी सम-समान हैं। (भूल चाहे गौतमजी की भी क्यों न हो उसे आनन्द श्रावक से क्षमा-याचना करनी ही चाहिए) चाहे वह गौतम स्वामी जैसे उत्कृष्ट गणधर ही क्यों न हों।

संघ की सुव्यवस्था के कारण ही जैनधर्म का सुन्दर संचालन होता रहा है। यद्यपि संघ का केन्द्रीकरण आचार्य में किया

जाता है तथापि वह सत्ता संघ ही सौंपता है (और जब भी वह उचित समझे सत्ता को वापिस भी ले सकता है)।

भगवान् महावीर से भद्रबाहु तक श्रावकों पर कोई भारी उत्तरदायित्व आया हो ऐसा प्रमाण प्राप्त नहीं होता। न ही आगमों में श्रावक और साधु-संघ परस्पर-भविष्य के लिए भावी योजना करते हुए दीखते हैं।

स्थूलिभद्र को अध्ययन कराने के लिए श्रावक-संघ भद्रबाहु के पास जाता है और भद्रबाहु श्रावक-समाज का मान रखते हुए, पूर्व-विद्या पढ़ाना स्वीकार करते हैं। बस यहींसे श्रावक समाज के हाथ में सत्ता का पलड़ा झुकने लगता है। फिर तो सिद्धसेन दिवाकर को दण्ड देने में भी संघ ही अग्रणी रहता है और धीरे-धीरे श्रावक-समाज का इतना प्रभाव बढ़ता है कि मुनियों की प्रगति-नीति में श्रावक-समाज एक महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी की तरह स्थानापन्न हो जाता है।

धर्म के उत्थान-पतन का प्रभाव केवल साधुओं पर ही नहीं, अपितु, श्रावक संघ पर भी उतना ही पड़ता है। जैनधर्म के स्वर्णकाल में जैन साधुओं का सम्मान बढ़ा, तो श्रावक समुदाय का भी वर्चस्व अभिवृद्ध हुआ। श्रावक-समाज साधुवर्ग के लिए एक अवलम्बन का काम देता है तो साधुवर्ग श्रावकों के रक्षण का गुरुभार निबाहता है। धर्म, परलोक सुधार, नीतिमय-जीवन, आत्मोन्नति, व्यक्ति-विकास और समष्टि के प्रति व्यक्ति के

कर्त्तव्य आदि सभी दायित्वों के प्रति मुनिवर्ग सजग रहकर श्रावक-वर्ग को सुरक्षित करता आया है।

महान् क्रान्तिकारी लोंकाशाह चाहे पीछे दीक्षित हो गए हों, किन्तु क्रान्ति का बीड़ा तो उन्होंने श्रावक होते ही उठा लिया था।

लोंकामत, कडुआमत तथा पात्रिया-पंथ के आविष्कारक श्रावक ही थे। श्रावक सदैव साम्य करने में ही सहयोगी रहे हैं ऐसी बात नहीं, अपितु कभी कभी वे फूट के वातावरण को उत्तेजना देने में और स्वार्थवश साधुओं को शिथिलाचारी बनाने में भी सहायक हुए हैं।

मनुष्य का स्वभाव विचित्र है, उसमें सभी प्रकार के गुणावगुण छिपे रहते हैं। श्रावक-समाज भी इस कथन का अपवाद नहीं हो सकता।

लोंकाशाहके अनन्तर श्रावक समाज

लोंकाशाह के अनन्तर लखमशी श्रावक का नाम आता है और तत्पश्चात् अहमदाबाद में आए हुए, चार संघों के संघपति, जिन्होंने यति-समाज और चैत्यवासी समाजको शिथिलाचार से उबार कर जिनधर्म का सच्चा रास्ता सिखाया, इसके अनन्तर श्रावक समाज दो भागों में विभक्त हो गया। एक वर्ग लोंकागच्छ के यतिवर्ग की ओर मुड़ा और दूसरे दलने साधुवर्ग की ओर अपना मुख किया। साधुवर्ग का श्रावक भिन्न-भिन्न आचार्य और भिन्न-भिन्न साधुओं के नाम पर इस प्रकार विभक्त

हुआ कि उसका सामुदायिक बल और सामूहिक शक्ति सर्वदा के लिए विनष्ट हो गई।

एक सम्प्रदाय का श्रावक दूसरे सम्प्रदाय के साधुओं को अपना गुरु मानना बुरा समझने लगा। मूर्तिपूजा की जगह व्यक्ति पूजा को स्थान प्राप्त हुआ। "म्हारा गुरु और म्हारी गुराणी" मानने वाले अन्धविश्वासी तथा असहिष्णु श्रावक वर्ग की कट्टरता समाज पर शासन करने लगी।

स्थानकवासी सम्प्रदाय इतना विशाल और विस्तृत होते हुए भी, प्रान्त प्रान्त में भिन्न २ सम्प्रदायों और भिन्न २ साधुओं के हिस्सों में इस प्रकार विशृंखलित हो गया कि इन विभिन्न सम्प्रदायों के श्रावकों में किंचित्‌मात्र भी ऐक्य नहीं रहा।

आशा—

यह सं० १८६४ की घटना है कि दिगम्बरों ने सब आन्तरिक और साम्प्रदायिक दलबन्दियोंसे ऊपर उठकर एक दिगम्बर कान्फ्रेन्स की स्थापना की। सं० १६०२ में मूर्तिपूजक भाइयों ने भी श्वेताम्बर जैन कान्फ्रेन्स का निर्माण किया।

खम्भात सम्प्रदाय के उत्साही मुनि श्री छगनमलजी महाराज ने इधर स्थानकवासी समाज में श्रावक संघठन की ओर ध्यान आकर्षित किया और साथ ही श्रावक संघ के एकीकरण की शिक्षा वाड़ीलाल मोतीलाल शाह को दी।

श्रावकों का संघठन तो था, किन्तु समस्त श्रावक पृथक् पृथक् सम्प्रदायों के नाम से बटे हुए थे। उनमें दोष केवल यही

था कि वे सब अपने-अपने सम्प्रदायों की सोचते थे और अपने सम्प्रदायवर्ती साधु का गौरव चाहते थे। इतर सम्प्रदाय भिन्न सम्प्रदायी साधु के प्रति उपेक्षित से रहते और कभी कभी सम्प्रदायों में आपसी कलह तक हो जाता। इस प्रकार श्रावक समाज की शक्तिका पारस्परिक कलह में ही अपव्यय हो जाता।

वा० मो० शाह ने स्थानकवासी समाज के एकीकरण का आन्दोलन उठाया और दूसरी ओर से युग की पुकार से प्रेरित साधुवर्ग से भी इस आन्दोलन का पूर्ण समर्थन मिलना प्रारम्भ हुआ और अन्त में "अखिल भारतवर्षीय जैन कान्फरेन्स" की स्थापना हो गई जिसका प्रथम अधिवेशन सं० १९०६ में मोरवी में समारोह पूर्वक मनाया गया।

प्रथम अधिवेशन

तारीख २६, २७, २८ फरवरी १९०६ ई० को मोरवी में कान्फ्रेन्स का प्रथम अधिवेशन हुआ।

अम्बावीदास डोसाणी, गोकलदास मेहता, श्री दुर्लभ जी झवेरी (फादर ऑफ दी कान्फ्रेन्स) और मगनलाल भाई दफतरी आदि श्रावक उसमें मुख्य कार्यकर्ता थे। रायसाहब सेठ चांदमलजी अजमेर वालों को प्रमुख बनाया गया था।

कार्यवाही—

अधिवेशन का संचालन तो वा० मो० शाह बौद्धिक रीति से कर रहे थे। उन्होंने वैधानिक रीति से सभापति का भाषण,

प्रस्ताव तथा अन्य भाषणों से कार्यवाही पूर्ण तो कर दी, किन्तु कोई भी ठोस रूपरेखा कान्फ्रेन्स के हाथ न लगी।

इतना अवश्य हुआ कि श्रावकोंने सम्मिलित रूप में बैठकर, अलौकिक प्रेममयी ऐक्यता का अनुभव किया और समाज की निरक्षरता पर, स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता तथा समाजोत्थान की विचारणाएं भाषण रूप में कही और सुनी।

उत्साह बहुत था और वा० मो० शाह के अन्तिम भाषणसे समाज को भारत की साधु संस्था तथा श्रावक संघ का विशाल परिचय प्राप्त हुआ। प्रत्येक स्थानकवासी में एक ही विचार-धारा थी कि जब हमारे पास इतनी विशाल जन-शक्ति और साधुकृपा है तो हम दूसरे समाजों से पीछे क्यों रहें ?

अतीव उत्साहपूर्ण वातावरण में प्रथम अधिवेशन समाप्त हुआ।

द्वितीय अधिवेशन (रतलाम)

तारीख २७, २८, २६ मार्च १६०८ ई० में रतलाम में द्वितीय अधिवेशन हुआ, जिसके स्वागत-प्रमुख गंभीरमलजी कटारिया और प्रमुख श्री सेठ केवलचन्दजी त्रिभुवनदास जी थे।

दूसरे अधिवेशन में स्वागत-प्रमुख और प्रमुख के भाषण अधिक उज्जवल और स्पष्ट थे। स्वागत-प्रमुख ने अधिवेशन का उद्देश्य स्पष्ट किया और प्रमुख महोदय ने सारे समाज का चित्र खींचा। उनके दो शब्द स्मरणीय हैं कि—"जैन कोई जाति न

थी, जैन कोई वाड़ा न थी, जैन कोई देश न थी, जन सघली जाति मां छे, संघला वाड़ा मां छे अने संघला देश मां छे। जैन नो अर्थ, काम-क्रोध, मोह-मान-माया तथा स्वार्थपरता पर विजय मेलवनार छे.........।"

प्रमुख का भाषण बहुत उत्साहपूर्ण था, संभव है उसमें वा० मो० शाह का मस्तिष्क का काम करता हो ("कान्फ्रेन्स नी चड़ता पड़ती नो इतिहास") इस अधिवेशन में समाज संघठन और शिक्षा प्रचार की बहुतसी योजनाएं बनाई गईं। समाज में एकता जागने लगी और प्रेम-भावना का समाज में स्थायी निवास होने लगा।

तृतीय अधिवेशन (अजमेर)

स्थान :— अजमेर।
काल :— ता० १०, ११, १२ मार्च सन १९०९ ई०।
प्रमुख :— बालमुकुन्द जी सतारा वाले।
विशेष :— नवसमाज रचना, शिक्षण-स्कॉलरशीप, सयाजीराव गायकवाड़ का पत्र-व्यवहार।

चतुर्थ अधिवेशन (जालन्धर)

स्थान :— जालन्धर (पंजाब)।
काल :— ता० २७, २८, २९ मार्च सन् १९१० ई०।
प्रमुख :— उम्मेदमलजी लोढ़ा।

विशेष :— जैन ट्रेनिंग कालेज की स्थापना पर विचार, स्त्री शिक्षा के प्रति झुकाव और समाजोन्नति के उपाय।

सन् १६१३ ई० से लेकर सन् १६२३ ई० तक कान्फ्रेन्स का वातावरण फिर शिथिल हो गया। निरुत्साह और उपेक्षा समाज में घर कर गई।

पांचवां अधिवेशन

स्थान :— सिकन्द्राबाद।

प्रमुख :— लछमनदास मुलतानमल बलगांव।

ता० १२, १३, १४ अप्रैल सन् १६१३ ई०।

छठा अधिवेशन (मलकापुर)

ता० ७, ८, ६ जून सन १६२४ ई० में यह अधिवेशन मलकापुर में हुआ। दानवीर सेठ मेघ जी थोभण इस उत्सव के प्रमुख थे और उन्होंने पुनः समाज की प्रगति के लिए धन व्यय करने का संकेत किया। सामुदायिक भाव, सामुदायिक प्रतिक्रमण तथा मध्यस्थ मंडल, पत्र और प्रेस, आदि विविध-समाजोपयोगी कार्यों पर इस अधिवेशन में खूब विचार-विमर्श किया गया। सातवां बम्बई, आठवां बीकानेर और नवां अधिवेशन अजमेर में हुआ था।

कान्फ्रेन्स और समाज

इन अधिवेशनों की परम्परा ने और सामुदायिक भावनाने

स्थानकवासी समाज में नवजागरण का और नवचेतना का संचार तो अवश्य किया, किन्तु समस्त सामाजिक संघठन तब तक पूर्णतः सफल नहीं हो सकता, जबतक समूची साधु संस्थाओं का एकीकरण न कर दिया जाय।

सातवें और आठवें अधिवेशन में क्रमशः अगरचंद और भैंरूदान सेठिया और वा० मो० शाह सभापति पद पर विराजमान थे, जिन्होंने समाज का ध्यान समाजोन्नति और साहित्य-प्रसार और प्रचार की ओर आकृष्ट किया था।

स्थानकवासी समाज में वा० मो० शाह जैसे नेताओं के प्रति सम्मान उत्पन्न हो गया था, अगरचन्द भैंरूदान सेठिया, अमरचन्दजी पीत्तलिया, श्री दुर्लभजी झवेरी, टी० जी० शाह, ब्रजलाल मेघाणी, केशरीमलजी भण्डारी जैसे सैकड़ों उत्साही कार्यकर्त्ता, समाज-निर्माता, संघठन समर्थक और निःस्वार्थ सेवक पैदा हो गए थे।

शिक्षण, मुनि-संघठन, समाज सुधार तथा स्कॉलरशीप आदि प्रवृत्तियां भी खूब पनपने लगी थीं। भारतवासी स्थानकवासी समाज, नवें अधिवेशन के अवसर पर अजमेर में तो पूर्ण प्रतिनिधित्व के साथ एकत्रित हो गया था।

अजमेर अधिवेशन के उपरान्त ही समाज पर कान्फ्रेन्स का वर्चस्व स्थापित हो गया और साधु-संस्था ने भी कान्फ्रेन्स को समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली एकमात्र संस्था के रूप में स्वीकार किया।

बीकानेर अधिवेशन में प्रस्तावित मुख्य बातें

१. जैन-जैनेतर समर्थ विद्वानों के सहकार से जैन-शास्त्रों पर विवेचना।
२. विविध विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, कथाकाव्य, गीत आदि संस्कारी भाषा में प्रकाशित करना।
३. उच्च कोटि का साप्ताहिक पत्र तीन भाषाओंमें प्रकाशित करना तथा प्रेस बनाना।
४. मैट्रिक स्तरीय ज्ञान और व्यापार तथा धर्म-शिक्षण के लिए एक गुरुकुल बनाना।
५. प्रचारकों और लेखकों का निर्माण करना (जैन ट्रेनिंग कालेज)।
६. संस्कारी साधु निर्मात्री संस्था।
७. स्टाफ और कर्मचारियों के लिए गृहनिर्माण।

वा० मो० शाह का आधिपत्य और प्रगतिशीलतत्व का सहकार तथा बीकानेर के उदारमना सेवियों का सहयोग, सब मिलकर, क्यों न नवजागरण पैदा कर दे ? आखिर हुआ भी यही। समाज का ध्यान शिक्षा तथा संस्कारों की ओर गया।

समाज ने धर्म तथा अर्थ के विकास के लिए साधु तथा शिक्षा की ओर समुचित ध्यान दिया। मुनि संघ ऐक्य-समिति का निर्माण और आगामी सम्मेलन के साथ ही अजमेर में एक बृहत् साधु-सम्मेलन का आयोजन किया गया।

अजमेर सम्मेलन

सम्राट् खारवेल और सम्प्रति, मथुरा तथा वल्लभी के साधु सम्मेलन के बाद, अजमेर में साधु-सम्मेलन होने जा रहा था। "श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फरेन्स" के सैकड़ों कार्यकर्ता और दुर्लभजी भाई झवेरी, श्री धीरजलाल तुरखिया के साथ आमन्त्रण देने को तैयार हो गए।

वृहत् साधु सम्मेलन के लिए उन्होंने और कान्फरेन्स के अन्य कर्मठ कार्यकर्ताओंने हिन्द भर के समस्त स्थानकवासी साधुओं को अजमेर पधारने का हार्दिक आमंत्रण दिया और संतों ने अपनी साधु भाषा में स्वीकार किया।

अजमेर सम्मेलन की तैयारी होने लगी। भारत के समस्त प्रान्तों से महावीर के सपूत, अहिंसा के सैनिक तथा जैनधर्म की पदाति-सेना अजमेर की ओर चल पड़ी।

अजमेर, समस्त भारत के जैनियों के आकर्षण का केन्द्र बन गया और स्थानकवासियों का एक पवित्र तीर्थ-स्थान बन गया।

यह सम्मेलन ५ अप्रेल १९३३ ई० को प्रारम्भ होकर १९-४-१९३३ को सानन्द समाप्त हुआ।

उस समय स्थानकवासी समाज में लगभग ३० सम्प्रदाय चलते थे, जिनमेंसे २६ सम्प्रदायों के प्रतिनिधि इस सम्मेलन में उपस्थित थे। उस समय मुनिवरों की संख्या लगभग ४६३ और साध्वियों की संख्या ११३२—यों कुल मिलाकर १५९५ की

संख्या गिनी जाती थी। इस सम्मेलन में २६ सम्प्रदायों के २३८ मुनि और ४० आर्यिकाएं उपस्थित हुई थीं, जिनमें लगभग ७६ प्रतिनिधि मुनि थे।

अजमेर सम्मेलनके महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव

समाज, जाति और परिवार के जीवन में ऐसे अनेकों अवसर उपस्थित होते हैं, जब व्यक्ति २ जाति २ और समाज समाज के मध्य वैमनस्य, कलह और ईर्ष्या से उत्पन्न अमांगलिक मुहूर्त्त समक्ष उठ खड़े होते हैं। ऐसे आड़े और उद्वेलित अवसरों पर बड़े २ भद्रजन, परिवार और जातिके बड़े बूढ़े और सम्मान-नीय अतिथिगण भी अपना आपा भूलकर क्लेशकारी कार्यवाही में खुलकर भाग ले बैठते हैं और बादमें बैठे २ पछताते हैं कि हाय २ हमने क्या किया।

इन ओर ऐसे ही अन्य जटिल, कुटिल अवसरों पर साधु यदि उपस्थित होता है तो वह निर्द्वन्द्व रहकर, कल्मष और कलह के कलंक को अपने रक्त से भी धोने का प्रयत्न करेगा। साधु-साधना करता है। साधना किसकी ? मुक्ति और निर्वाण की—सो तो है ही। परन्तु इहलोक के लिए भी वह बहुत बड़ी साधना और कामना रखता है—यह कामना है परजन हिताय क्योंकि उसका एकमात्र उद्देश्य होता है "सव्वेजीवहिय तित्थ" की वफादारी से सेवा करना अपने हित के लिए तो नहीं पर भूतप्राणी के हित के लिए शहीद भी बनना पड़े तो सर्वथा स्वीकार है।

अतएव, पंजाब में जो पवित्र परम्परा पर विवाद उठ खड़ा हुआ था, वह मुनिजन के शुभ प्रयत्नों से शांत हुआ। इस प्रकार समाज के पारस्परिक क्लेशों को मिटाने में मुनिवरों ने अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण काम लिया। आचार्य श्री सोहनलालजी महाराज ने बहुत परिश्रमपूर्वक, एक धार्मिक-तिथि-पंचांग पूर्ण पत्रिका का निर्माण किया था, जो बिना बदले प्रत्येक वर्ष काम में आ सके। परन्तु कुछ मुनिराजों को इस पत्रिका में अशुद्धियां और कमियां नजर आती थीं, जिसके कारण उन्होंने पत्रिका को अप्रामाणिक मान लिया। दो दल बन गए। उससे सहज ही सामाजिक संघर्ष पैदा हो गया। लेकिन इस सम्मेलनने इस पंचांग को अपूर्ण घोषित कर उस अशांति को सदाके लिए मिटा दिया।

दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य

पंजाब में "अजीव पंथ" का संघर्ष भी बहुत दिनों तक रहा है। यह श्रद्धा दिगम्बर सम्प्रदाय से आई है। रामरतनजी महाराज (पंजाब वाले पू० अमरसिंह जी के गुरु भाई) ने इस श्रद्धा को स्वीकार कर लिया। इस बात को लेकर इन दोनों में आहार-पानी टूट गया और प्ररूपणा में अन्तर पड़ गया। रामरतन महाराज की परम्परा अजीव पंथ को ही मानती रही, जिसका अंतिम निर्णय अजमेर में हुआ।

पूज्य रूपचन्दजी महाराज के सम्प्रदायानुयायी मुनि श्री कुन्दनलालजी ने अजीव पंथ की श्रद्धा का प्रस्ताव इस प्रकार से रखा:—

प्रश्न १—पन्नवणा सूत्र के नवमें पद में तीन प्रकार की योनि बताई है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। ये तीन योनियों वाले बीज उत्पन्न हो सकते हैं कि नहीं ?

प्रश्न २—धान्यवर्ग में २४ प्रकार का धान्य बताया है और आयुष्य तीन वर्ष सात वर्ष तक कही है तो नियमित आयुष्य के उपरान्त वह बीज सचित्त मानना अथवा अचित्त मानना ?

प्रश्न ३—पांच स्थावर में एक जीव रहता है या नहीं यदि एक ही जीव रहता है तो उसकी आहार-विधि क्या है ?

इन तीनों प्रस्तावों के निर्णय करने के लिए सात मुनिवरों की एक कमेटी बनाई गई थी। उसने निर्णय दिया कि:—

(१) सचित्त, अचित्त तथा मिश्र ये तीनों प्रकार की योनियों से जीव पैदा हो सकता है।

(२) २४ धान्यों के बीज शास्त्रीय प्रमाण से ३ वर्ष और अधिक से अधिक सात वर्ष में अबीज हो जाता है और योनियां विध्वंस हो जाती है। इससे अयोनि और अबीज धान्य का अचित्त होना संभव है। शास्त्र में "बीयाणी हरियाणी य परिवज्जयं तो चिट्ठिज्जा", इत्यादि स्थानों में बीज के संगठन का शास्त्रकार निषेध करते हैं, किन्तु अबीज को अचित्त मानना आगम प्रमाण से सिद्ध होता है। परन्तु लोक-व्यवहार के लिए संघर्ष टालना उचित ही है।

इस निर्णय से अजीव पंथ के नाम से फैला हुआ पंजाब का विवाद सर्वथा मिट गया और संघों में शान्ति हो गई।

इसके सिवाय, अजमेर सम्मेलन में बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों और योजनाओं पर विचार-विमर्श हुआ, किन्तु वे प्रस्ताव और योजनाएं सफल नहीं हो सकीं।

सम्मेलन जिस वीर-संघ-ऐक्य-योजना अथवा असाम्प्रदायिक एक आचार्य की छत्रछाया में मुनि संघ बनाने का मधुर स्वप्न देख रहा था वह इस अधिवेशन में सफल नहीं हो सका।

मुनियों में एकता, पारस्परिक प्रेम तथा एक दूसरे के प्रति सद्भावना पर्याप्त मात्रा में जागृत हुई और लोंकाशाह के अनन्तर अजमेर में ही स्थानकवासी साधुओं का मिलन हुआ।

सम्मेलन ऐक्य की पृष्ठभूमि निर्माण करने में यद्यपि आशातीत सफल हुआ हो, किन्तु सम्पूर्ण संगठन और एक आचार्य का शासन स्थापित करने में सफल नहीं हो सका।

परम प्रतापी पूज्य मन्नालाल जी महाराज का सम्मेलन पर वरद हस्त था। गणी उदयचन्द्र जी महाराज का नीतिमत्तापूर्ण संयोजन, प्रसिद्धवक्ता चोथमल जी महाराज का पूर्ण सहयोग, कवि नानकचन्द् जी महाराज का दिव्य उत्साह, उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज का दिव्य उत्साह, उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज की दूरदर्शिता, शतावधानी रत्नचन्द्र जी महाराज की विद्वत्ता, पूज्य जवाहरलाल जी महाराज की विदग्धता तथा अन्य सन्तों का समर्थन भी सम्मेलन को पूर्ण रूप से सफल न बना सका।

कान्फरेन्स का अधिवेशन

प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री दुर्लभ जी झवेरी और प्रमुख श्री हेमचन्द्र रामजी भाई मेहता विशिष्ट श्री ज्वाला प्रसाद जी, नथमल जी चोरड़िया आदि सैकड़ों, हजारों श्रीमंत गण व परमोत्साही कर्मठ कार्यकर्त्ता सम्मेलन को सफल बनाने में लगे थे।

धीरज भाई तुरखिया, सहमंत्री थे, उनका काम सदा संयोजन, निरीक्षण और प्रबन्ध का रहा है। वे इसे शान्तिपूर्ण ढंग से पूरा भी करते आये हैं।

अधिवेशन हुआ। एक लाख के लगभग स्थानकवासी श्रावक-श्राविकागण की भीड़ में कान्फरेन्स ने कितने ही प्रस्ताव पास किये। किन्तु वह जनता की भीड़ और उत्साह का अतिरेक कोई ठोस कार्य को पूर्ण न बना सका। यद्यपि स्थानकवासी समाज का वह अभूतपूर्व मेला था। उसमें एक विचारधारा के लोग लगभग लाख की संख्या में एकत्रित हुए थे। परिचय हुआ, समाज को अपनी विराट्ता, शक्ति, सामर्थ्य, श्रीमंताई, समृद्धता तथा उत्साह के दर्शन करने को मिले और उससे अधिक कार्य कुछ सम्पन्न नहीं हुआ।

नथमलजी चोरड़िया ने सत्तर हजार की लागत से एक कन्या पाठशाला बनवाने का वचन दिया और भावी योजनाओं और प्रगतिशील कार्यक्रमों पर विचार किया।

अजमेर सम्मेलन का प्रभाव

श्रावक और साधु समुदाय में सम्मेलन होने से पूर्व जो जोश, उत्साह, प्रेम तथा एक लगन दिखाई देती थी, वह सम्मेलन के उपरान्त निराशा और उत्साहहीन वातावरण में परिवर्तित हो गई थी। तो भी समाज की विविधमुखी प्रजा में तथा विभिन्न-प्रान्तीय साधुवर्ग में एकता का बीज अवश्य बोया गया, उसीका परिणाम यह निकला कि श्रावक और साधु समाज फूट पैदा करनेवालों से घृणा और एकता चाहने वालों से प्रेम करने लगा।

साम्प्रदायिक बाड़ाबन्दी में फंसे समाज के लोगों ने सभी सम्प्रदायों के साधुओं को अपना वन्दनीय गुरु मानना प्रारम्भ किया।

साधुओं की ज्ञान-चर्चा और श्रावकों की सामाजिक प्रवृत्ति ने एकता के वातावरण को बनाने में सक्रिय सहयोग दिया।

दशवां अधिवेशन

स्थान :— घाटकोपर

समय :— ११, १२, १३ अप्रैल

स्वागत प्रमुख :—सेठ धनजी भाई देवसी (घाटकोपर)

प्रमुख :— सेठ वीरचन्द्र भाई मेघजी थोभण

आठ वर्ष के आलस्य को त्याग कर कान्फरेन्स ने घाटकोपर में अन्य अधिवेशनों की अपेक्षा समाजोन्नति और मुनि एकता

के लिए सुन्दर योजनाएं बनाई और साथ में संस्थाओं को आर्थिक सहयोग भी खूब दिया।

पूना बोर्डिंग को......४५ हजार

स्त्री शिक्षा सहायता कोष......७ हजार

जैनधर्म शिक्षण और संस्कारी पोथियों में...३ हजार

कुल......५५ हजार

द्वितीय कार्य—

स्व० शतावधानी रत्नचन्द्रजी महाराज, स्व० पूज्य काशीरामजी महाराज, प्रवर्तक मुनि श्री ताराचन्दजी महाराज ने घाटकोपर में मिलकर जो वीर श्रमण-संघ योजना तैयार की थी उसी पर इस सम्मेलन में पूर्ण रूप से विचार किया और मुनि संयोजक कमेटी, श्रावक-संयोजक कमेटी तथा धार्मिक-शिक्षण योजना कमेटी बनाई गई।

इस सम्मेलन के अवसर पर युवक परिषद् और महिला परिषद् का भी उत्साह के साथ आयोजन किया गया।

११ वां सम्मेलन—मद्रास में

प्रमुख—कुन्दनमलजी फिरोदिया थे।

इस सम्मेलन में आगम-प्रकाशन-समिति, धार्मिक शिक्षा-समिति तथा साधु-संयोजन-समिति पर खूब विचार-विमर्श किया गया।

समस्त स्थानकवासी सम्प्रदायों को सरदार पटेल की दूर-दर्शितापूर्ण रियासतों के विलीनीकरण की तरह संगठित करने का प्रयास किया गया।

श्री कुन्दनमलजी फिरोदिया मुनि ऐक्य-योजना को बड़ी तत्परता से पूर्ण करने में कृतसंकल्प रहे और धीरज भाई तुरखिया, सदा एक लगन और विश्वास के साथ, इस काम को पूरा करने में अपना भरसक सहयोग देते रहे हैं।

सम्मेलन के उपरान्त ब्यावर जैन गुरुकुल में कान्फरेन्स की जनरल कमेटी में फिरसे मुनि ऐक्य समिति पर पूर्ण रूप से विचार किया गया। मुनियों की एकता में मुनियों की ओरसे पूर्ण सहयोग मिलता रहा है। तुरखियाजी ने अपने प्राणपण से मुनि एकता के लिए प्रयत्न किया, बम्बई का संघ तथा घाटकोपर केशरी चिमनलाल पोपटलाल शाह ने अपनी गर्जनाभरी वाणी से एकता के वातावरण बनाने में भारी सहयोग दिया है।

१२ वां अधिवेशन कान्फरेन्स ने सादड़ी करने का निश्चय किया।

भारत के सभी प्रान्तों से मुनिवरों को निमंत्रित किया गया। बहुत उत्साह के साथ एकता का वातावरण पैदा होने लगा। प्रेम और संपर्क की भाषा का प्रचार बढ़ा। मुनियों ने सम्मेलन में पधारने की स्वीकृति दी और सम्मेलन का सादड़ी में होना निश्चित हो गया।

सादड़ी सम्मेलन

सम्मेलन की पृष्ठभूमि—

सादड़ी-सम्मेलन अजमेर-सम्मेलन में लगाए बीज का विकसित फल प्राप्त हुआ। एकता न होने के कारण जिन साधुओं में ग्लानि और क्षोभ उत्पन्न हुआ था, वे भी एकता के लिए आकुलित थे और जिन्होंने उस समय आग्रह की ओर झुकाव रखा था वे भी समय के थपेड़ों से एकता की ओर व्यग्रता से निहारने लगे थे। बड़े बड़े सम्प्रदायों से कितनी ही विभूतियां उठ गई थीं, साम्प्रदायिकता के बंधन शिथिल हो रहे थे। जनता लोकतंत्र, प्रजातंत्र और गुण-प्रतिष्ठा की ओर बढ़ रही थी। कान्फरेन्स का वर्चस्व और प्रेम का प्रभाव समाज पर आधिपत्य जमा चुका था। नवयुवक मुनिवरों का आकुल अन्तर एकता के लिए छटपटा रहा था। स्थविर, आचार्य तथा उपाध्याय मुनिवर एकता में ही समाज का कल्याण मानने लगे थे। यही कारण है कि सभी सन्तों ने सम्मेलन में आना स्वीकार कर लिया और सभी श्रावक-वर्ग एकता का हार्दिक समर्थन करने लगे।

कान्फरेन्स ने प्रत्येक सम्प्रदाय को अपने अपने प्रतिनिधि मुनि भेजने का आग्रह किया। प्रतिनिधि निर्वाचन की पद्धति इस प्रकार रखी गई थी—

सम्प्रदायस्थ मुनिवरों में से १ से २५ तक साधु-साध्वियों की संख्या हो तो, एक प्रतिनिधि—और बाद में प्रत्येक २५ पर

एक एक प्रतिनिधि। सम्मेलन में २२ सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस प्रकार प्रेमपूरित वातावरण में पारस्परिक सहयोग से सम्मेलन सम्पन्न हुआ।

सम्मेलन का नामकरण

सम्मेलन में भाग लेनेवाले मुनिवरों के विचार-विमर्श के उपरान्त संघ-ऐक्य योजना स्वीकार की गई और अपने सभी सम्प्रदायों को एक संघ में विलीन करने के लिए संघ-प्रवेश-पत्र पर हस्ताक्षर किये गए। साथ ही संघ के लिए "श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण-संघ" का नाम स्वीकृत हुआ।

सम्मेलन की कार्यवाही

वैशाख शुक्ला तीज—अक्षय तृतीया के दिन सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। वैशाख शुक्ला ६ को सभी सम्प्रदायों ने संघ-प्रवेश पत्र पर हस्ताक्षर करके "जैनधर्म दिवाकर आचार्य आत्मारामजी महाराज" को अपना 'आचार्य' मान लिया। आचार्य के बाद उनके काम में सहायक रूप से "श्री गणेशीलालजी महाराज" को "उपाचार्य" के रूप में नियत किया गया।

भारतवर्ष के स्थानकवासियों का भाग्य उस दिन चमक रहा था जिस दिन आचार्यों, उपाध्यायों और पदवीधरों ने समाज के हित के लिए अपनी अपनी पदवियों को त्याग कर एक आचार्य को अपना आचार्य स्वीकार कर लिया और समस्त कार्यक्रम विभिन्न मंत्रियों में विभक्त कर दिये गये।

उस समय कुल १६ मंत्री बनाए गए थे, जिनमें से तीन मंत्रियों का समावेश न हो सका और कुल १३ मंत्रियों ने ही संघ का दायित्व संभाला।

मंत्रिमण्डल का कार्य-विभाग

१. प्रायश्चित :—	श्री आनन्द ऋषिजी महाराज,
	„ हस्तीमलजी महाराज,
२. दीक्षा :—	„ सहस्रमलजी महाराज,
३. सेवा :—	„ शुक्लचन्दजी महाराज,
	„ किशनलालजी महाराज,
४. चातुर्मास :—	„ प्यारचन्दजी महाराज,
	„ पन्नालालजी महाराज,
५. विहार :—	„ मोतीलालजी महाराज,
	„ मरुधर केशरी मिश्रीमलजी म०
६. आक्षेप निवारक :—	„ पृथ्वीचन्द्रजी महाराज,
	„ मरुधर केशरी मिश्रीमलजी म०
७. साहित्य-शिक्षण :—	„ हस्तीमलजी महाराज,
	„ पुष्कर मुनिजी महाराज,
८. प्रचारक :—	„ प्रेमचन्दजी महाराज,
	„ फूलचन्दजी महाराज,

मंत्रिमण्डल के १३ मंत्रियोंने श्री आनन्द ऋषिजी महाराज को प्रधान मंत्री के रूप में निर्वाचित किया। श्री हस्तीमलजी

महाराज तथा श्री प्यारचन्दजी महाराज को सहमंत्री के रूप में नियुक्त किया।

विवादास्पद प्रश्न और समाधान

स्थानक, पोषधशाला, महावीर-भवन आदि जो भिन्न-भिन्न नाम स्थानकों के पाये जाते हैं और उनके पीछे सम्प्रदायों के नाम हैं, उन समस्त नामों की अपेक्षा एक ही नाम स्थानक रखा जाय और वह सर्व स्थावर संपत्ति विभिन्न सम्प्रदायस्थ श्रावकों की न रहकर एक ही "वर्धमान स्थानकवासी श्रावक संघ" की हो जाय। यदि ऐसा न हो तो ऐसे क्लेशकारक मकानों में साधु-साध्वी न ठहरें।

बस, केवल इसी निश्चय ने मकानों के संघर्ष को समाप्त कर दिया।

तिथियों का विवाद भी समाज में गहरे असंतोष का कारण है। इससे भी विविध सम्प्रदायों को अपनी अपनी मान्यतानु-सार अलग-अलग तिथियां माननी पड़ती हैं। एक ही तिथि किसीकी आज और किसीकी कल होती थी। यह भी संघर्ष का कारण था।

संघ ने इस महत्त्वपूर्ण विवाद को निबटाने के लिए आठ मुनिवरों की एक कमेटी बना दी, जिसे अधिकार दिया कि वह इसका अन्तिम निर्णय करे।

१ पूज्य गणेशीलालजी म० २. पूज्य आनन्द ऋषिजी म०
३. पूज्य हस्तीमलजी म० ४. पूज्य शुक्लचन्दजी म०

५. श्री कस्तूरचन्दजी म० ६. उपाध्याय अमरचंदजी म०
७. मरुधर० मिश्रीमलजी म० ८. श्री मुनि सुशीलकुमारजी म०

बहुत से फल, फ्रूट, मेवे और काली मिर्च तथा विद्युत जैसे अनेक प्रश्न हैं कि जिन्हें हम सहसा ही निर्णीत नहीं कर सकते। उसके दो कारण हैं—१. साम्प्रदायिक मान्यता, २. वनस्पति और विद्युत विज्ञान का अभाव।

संसार में साम्प्रदायिक मान्यता का कोई समाधान नहीं है। बस, इतना ही कहा जा सकता है कि यदि वे मान्यताएं आगमानुसार हों, तो उन्हें स्वीकार करना चाहिए और फिर भी उसमें कहीं शंका रहती हो तो पदाधिकारी मुनियों से निर्णय करा लेना चाहिए।

दूसरा कारण, जिसे हम विज्ञान का अभाव कहते हैं वह तो स्पष्ट ही है कि जैन-साधु परम्परा में रूढ़ होने के कारण आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अछूत और दूर ही रह गए हैं।

यद्यपि जैन-धर्म वैज्ञानिक धर्म है, उसके चार में से तीन भाग तो, विज्ञान से ही भरे पड़े हैं। केवल एक भाग में चरण-करणानुयोग तथा कथानुयोग का वर्णन है।

जैनधर्म में अस्तिकाय धर्म तथा पुद्गल का विस्तार इतनी पैनी दृष्टि से किया गया है कि आज वैज्ञानिक उसे देखकर आश्चर्यान्वित हो जाते हैं। उस वैज्ञानिक महावीर ने इन पदार्थों, परमाणुओं, स्कंधों, देशों तथा प्रदेशों का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया। किन्तु, खेद तो इस बात का है कि आधु-

निक वैज्ञानिक भगवान् महावीर के विज्ञान से लाभ उठा सके, ऐसा प्रयत्न तो यह जैन-समाज नहीं करता और ये जैन-साधु आजके विज्ञान का अध्ययन नहीं करते कि जिससे यह महावीर के विज्ञान का आजके विज्ञान के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर सकें।

वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव के कारण ही सचित्ताचित्त और विद्युत आदि के प्रश्न अधर में ही लटक रहे हैं, जिनका समाधान हम मान्यताओं के साथ मिलाकर नहीं कर सके।

इस सचित्ताचित्त का निर्णय करने के लिए भी इन नौ मुनियों की एक कमेटी बना दी गई और उन्हें निर्णय करने का अधिकार दिया:—

१. श्री आनन्द ऋषिजी म०
२. श्री हस्तीमलजी महाराज
३. श्री अमरचन्दजी म०
४. श्री प्रेमचन्दजी महाराज
५. श्री प्यारचन्दजी म०
६. श्री श्रेयमलजी महाराज
७. श्री मिश्रीमलजी म०
८. श्री सौभाग्यमलजी महाराज
९. श्री सुशीलकुमारजी महाराज

दीक्षा के सम्बन्ध में

दीक्षा मानव के व्यवहारों में क्रांतिकारी परिवर्तन कर देती है। जैन-साधु होने के लिए भी अभिभावक को दीक्षा और भिक्षा दोनों वृत्तियों को स्वीकार करना ही पड़ता है।

दीक्षा के नाम पर सभी सम्प्रदायों ने अपनी अपनी परम्पराओं की भिन्नता को खड़ा कर रखा है। नाथपंथियों,

सौतांत्रिकों, कोलों और चार्वाक सम्प्रदाय तक में दीक्षा के बिना कोई प्रवेश नहीं पा सकता।

संसार में "विवाह" और सन्यास में "दीक्षा" व्यक्ति के भावी निर्वाचित पथ का उद्घोषण मात्र है। किन्तु दीक्षा, अधिकारी और पात्र को ही मिलनी चाहिए, नहीं तो दीक्षा के नाम पर बहुत से स्वार्थों और वासनाओं को पोषण मिल सकता है। दीक्षा का इतिहास इसका साक्षी है। जैन दीक्षा संसार में सभी दीक्षाओंमें अपना अलग महत्त्व रखती है। उसका महत्त्व आडंबर में नहीं अपितु, लोककल्याण और आत्मसाधना की तत्परता में है। जब साधक अपनी आन्तरिक दुर्वृत्तियों के विरुद्ध खुला युद्ध प्रारम्भ कर देता है और बिना पारितोषिक की इच्छा के अनवरत श्रम की साधना में लग जाता है तभी सच्चे श्रमणत्व की दीक्षा प्राप्त होती है।

जब सम्प्रदाय बढ़ाने और वंशविस्तार की भावना साधु समाज में घर कर जाती है तो दीक्षा भी एक प्रपंचमात्र रह जाती है। इसीलिए सादड़ी सम्मेलन ने दीक्षा पर भी एक विशेष नियंत्रण किया, जिससे दीक्षा, योग्य वैराग्यवान आत्म-साधकों को ही प्राप्त हो सके, प्रस्ताव की भाषा इस प्रकार है:—

प्रस्ताव नं० १४:—(अ) श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के मनोनीत आचार्य और व्यवस्थापक मंत्री शास्त्र-दृष्टि एवं लोकदृष्टि का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार गंभीर

विचार करके दीक्षार्थी की वय, वैराग्य, शिक्षण आदि की योग्यता का यथोचित निर्णय करें।

(ब) श्री वर्द्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ में जो दीक्षार्थी दीक्षा लेना चाहे वह आचार्य श्री या दीक्षा मंत्रीजी की आज्ञा से अपने अभीष्ट पद के योग्य सुयोग्य मुनि को गुरु बना सकता है।

प्रस्तावों पर विहंगावलोकन

सादड़ी-सम्मेलन में सम्मिलित होनेवाले मुनि प्रतिनिधियों ने जिस कर्मठता और तत्परता का परिचय दिया, वह समाज के लिए गौरव की बात है। समाज में आई हुई तमाम बुराइयों और कुरीतियों को दूर करने के लिए सभी प्रतिनिधिगण कृत-संकल्प थे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि सम्मेलन में सभी प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किये गये और सभीने उनपर पूर्ण आचरण करने का साहस दिखाया। सम्वत्सरी, प्रतिक्रमण, ध्यान, दीक्षा, स्थानक, सम्यक्तत्व-प्रणाली आदि सभी विवादास्पद विषयों को युगानुकूल प्रस्ताव की भाषा में बांधकर एकता का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

प्रस्ताव पारित करने वाले मुनि प्रतिनिधियों की पार्लियामेण्ट की कार्यवाही देखकर माननीय श्री कुन्दनमलजी फिरोदिया (स्पीकर बम्बई) ने सन्तोष और प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा—"सम्मेलन की शिष्टता, अनुशासनप्रियता तथा वैधानिक ढंग सचमुच राजनीतिज्ञों के लिए भी स्पृहणीय है।"

मुनियों के उन आठ दिनों के सम्मेलन ने सारे समाज की काया पलट कर दी। फूट और विद्वेष मिटाकर प्रेम और एकता स्थापित कर दी।

सम्मेलन का प्रभाव

उद्देश्य—

"वर्द्धमान स्थानकवासी जैन समाज" में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का अस्तित्व है। इन सम्प्रदायों में प्रचलित भिन्न-भिन्न परम्परा और समाचारी में एकता लाकर समस्त सम्प्रदायों का एकीकरण करना, पारस्परिक प्रेम और ऐक्य की वृद्धि करना, संयम मार्ग में आई हुई विकृतियों को दूर करना और एक आचार्य के नेतृत्व में एक और अविभाज्य "श्रमण-संघ" बनाना।

कार्यक्षेत्र—

१. आत्मशुद्धिके लिए श्रद्धा, पुराण में एकता और चारित्र्य में शुद्धता एवं वृद्धि करना तथा शिथिलाचार एवं स्वच्छन्दाचार को रोकना।

२. समस्त साधु-साध्वियोंको सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत बनाने के लिए व्यवस्था करना।

३. आगम साहित्य का संशोधन एवं भाषांतर करना तथा जैनधर्म के प्रचार के रुचिवर्धक नया साहित्य निर्माण करना।

४. धार्मिक शिक्षण में वृद्धि हो, ऐसा पाठ्यक्रम बनाना।

५. जैन-तत्वज्ञान का व्यापक प्रचार करना।

६. चतुर्विध श्रीसंघ में ऐक्य बढ़ाने का प्रयत्न करना।

कान्फरेन्स का अधिवेशन

"श्री स्थानकवासी जैन कान्फरेन्स" सन् १६४८ दिसम्बर से मुनि ऐक्य के लिए जी-जान से प्रयत्न कर रही थी, जिसका परिणाम यह निकला कि सादड़ी-सम्मेलन हुआ। कुन्दनमलजी फिरोदिया इस ऐक्य योजना का नेतृत्व कर रहे थे और श्री तुरखियाजी संचालन कर रहे थे।

कान्फरेन्स का बारहवां अधिवेशन था, उधर मुनि सम्मेलन भी था, कान्फरेन्स का चार वर्ष का यत्न सफल होने जा रहा था। कान्फरेन्स ने मुनि-सम्मेलन के समस्त प्रस्तावों का उत्साह के साथ अनुमोदन किया तथा पूर्ण सहयोग देने की प्रतिज्ञा की। मुनि सम्मेलन के निर्देशानुसार श्रावक संघ को सुव्यवस्थित बनाने की ओर भी ध्यान दिया गया। साथ ही साधु सम्मेलन के प्रस्तावों पर अमल कराने के लिए ५१ सदस्यों की संचालक समिति नियुक्त कर दी।

इस प्रकार सम्मेलन और अधिवेशन इन दोनों की कार्यवाहियां पूर्ण हुईं। समस्त समाज में आनन्द और उत्साह का सागर हिलोरें ले रहा था। सुनहली आशाएं और रुपहले स्वप्न साकार हो रहे थे।

सोजत-सम्मेलन

१७ फरवरी १६५३ ई० में दूसरा सम्मेलन सोजत में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में पुनः मंत्री तथा कमेटी के अन्य सदस्य एवं विशेष मुनिवरों को निमंत्रित किया गया और चातुर्मास के अनन्तर ही, सोजत-सम्मेलन प्रारम्भ हो गया। सादड़ी सम्मेलन के समय, चातुर्मास की शीघ्रता थी, इसलिए प्रस्तावों पर खुलकर विचार-विमर्श न कर पाये थे। सोजत में नई रचना की अपेक्षा पुरानी बातों को दुहराया और उनपर खुलकर विचार-विमर्श करना ही सम्मेलन का मुख्य कार्य था।

मुनियों की एकता, पारस्परिक सद्भाव तथा आत्मसाधना और समाज-कल्याण की भावना सभी मुनिवरों के हृदय में काम कर रही थी। सोजत के सम्मेलन ने मुनियों के आन्तरिक प्रेम को और भी परिपुष्ट कर दिया था, किन्तु वह सम्मेलन बृहत्सम्मेलन नहीं था, अपितु पूरक था। अतः विवादास्पद विषयों पर विचार-विमर्श के अतिरिक्त कोई निर्णय नहीं हो सका।

सचित्ताचित के विषय को दूसरे सम्मेलन पर छोड़कर छुट्टी ली गई और दो वर्ष तक (आगामी सम्मेलन तक) विवादास्पद वस्तुओं का उपयोग करना सबने निषेध कर दिया। ध्वनिवर्द्धक यंत्र का महत्त्वपूर्ण प्रश्न था, किन्तु उसपर भी उपरोक्त निर्णय किया गया।

श्री समरथमलजी महाराज का संघ में मिलन तो नहीं

हुआ, किन्तु उनसे वात्सल्यपूर्ण पारस्परिक समझौता अवश्य हो गया।

अन्ततः एक महत्त्वपूर्ण निर्णय हुआ कि पांच बड़े सन्तों का चातुर्मास एक ही क्षेत्र में कराया जाय और सभी विवादास्पद प्रश्नों को विस्तार पूर्वक समझाया जाय।

उपाचार्य गणेशीलालजी महाराज, प्रधान मंत्री आनन्द ऋषिजी महाराज, सह-मंत्री हस्तीमलजी महाराज, कविवर श्री अमरमुनि जी महाराज, शान्तिरक्षक श्री मदनलालजी महाराज—इन पांचों सन्तों के एकत्रित चातुर्मास का निर्णय हुआ और जोधपुर-संघ की विनती मान ली गई। अतीव प्रेमपूर्वक, चातुर्मास सम्पन्न हुआ और खुलकर विचार-विमर्श भी हुआ।

सम्मेलन और मुनिवर्ग

सम्मेलन की सफलता मुनिवर्ग के सौजन्यपूर्ण व्यवहार और उदारता पूर्वक त्याग पर निर्भर रही है। तो भी आचार्यवरों का त्याग, स्थविरों की दूरदर्शिता, नवयुवक मुनिवरों का उत्साह, विद्वान् मुनिवरों की विदग्धता तथा नीतिज्ञों की नीतिमत्ता सभीने मिलजुल कर, इस सम्पूर्ण संघ की स्थापना की है।

वर्तमान इतिहास में किसी एक विशिष्ट मुनि का नामोल्लेख करना संगत नहीं है, अपितु, सभी मुनिवरों ने अपनी कार्यक्षमता तथा योग्यता के अनुसार आत्मभोग देकर इस संघरूपी प्रासाद की रचना की है। इसमें वृद्धों की भावना, आचार्यों का

आशीर्वाद, उपाध्यायों का काम और मुनियों का सम्पर्क तथा श्रावकवर्ग की प्रेरणा और कान्फरेन्स की सक्रिय योजना, सभी काम कर रही हैं।

सम्मेलन अभी आन्तरिक मामलों में पूर्णतः विमुक्त नहीं हो सका है, सचित्ताचित्त निर्णय, तिथि-पत्रक, संवत्सरी, मान्यता तथा समाचारी के कुछ विवाद अवश्य हैं। तो भी यह निश्चित आशा की जाती है कि यह मुनिसंघ चौमुखी-प्रगति साधेगा और बहुमुखी विकास करेगा।

मुनिवर्ग के विकास के लिए

ज्ञानः—"पढ़मं नाणं तओ दया", के महाघोष के अनन्तर ज्ञान की महत्ता स्वयं आंकी जाती है। श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म में श्रुत को ही अग्र स्थान प्राप्त हुआ है। श्रुत की उपासना के बिना प्रगति, साधना और कल्याण सब कुछ असंभव है। अतः संघ का मुख्य लक्ष्य ज्ञानोपार्जन ही होना चाहिए।

ज्ञानोपार्जन की पद्धति

अध्ययन कई प्रकार से किया जाता है। किन्तु उन सब पद्धतियों में दो प्रणालियां अधिक लाभप्रद हो सकती हैं।

१. साधु बनने से पूर्व, पारमार्थिक संस्थाओं द्वारा दीक्षार्थी को यथेष्ट ज्ञान दिया जाय और विशिष्ट योग्यतासूचक परीक्षा निश्चित की जाय।

२. मुनिवर्ग के लिए सिद्धांतशालाएं खोली जायें और मुनि-

वर्ग वहां पर सभी विषयों का सर्वांगीण अध्ययन करें और किसी विश्वविद्यालय का प्रमाणपत्र प्राप्त करें।

आज इन दोनों ही पद्धतियों को समाज में अपनाया जा रहा है। कान्फरेन्स ने अपनी योजनानुसार सिद्धांतशालाएं कई स्थानों पर स्थापित की हैं जहां पर साधु और विद्यार्थीगण शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। यद्यपि सिद्धांतशालाएं अभीतक आशा-प्रद प्रगति पथ पर नहीं दीख रही हैं, तथापि इस पद्धति की सफलता में हमें सन्देह नहीं है, आवश्यकता तो केवल साधु-समाज और श्रावक-समाज के पारस्परिक सहयोग की है।

क्रान्ति का अगला चरण

आन्तरिक शक्ति के लिए समाज को परस्पर आध्यात्मिक दृढ़ सम्पर्क की आवश्यकता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि भण्डारों का उचित केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण हो। उसका संचालन एक समिति करे।

विभिन्न शिष्य-परम्पराओं के स्थान पर एक ही आचार्य परम्परा और एक ही आचार्य की शिष्य-परम्परा का प्रचलन किया जाय।

समस्त शिष्यों का सामूहिक अध्ययन-क्रम रखा जाय। उनसे सक्रिय-कार्य करवाया जाय।

शास्त्रों का वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा तथा आधुनिक विज्ञान के संतुलन के साथ अध्ययन करवाया जाय।

जैनधर्म का सर्वांगीण अध्ययन तुलनात्मक पद्धति से करवाया जाय।

हमारा प्रगतिशील साधु समाज

आधुनिक काल ने प्रगति का नया स्वर उद्घोषित किया है। संसार चौमुखी प्रगति के लिए दौड़ लगा रहा है, तो समाज के मानसिक जगत् के संचालक साधुगण किस प्रकार पिछड़ सकते हैं ? क्या साहित्य, शिक्षण, विज्ञान, संगठन आदि सभी विषयों में साधु-समाज ने भी, युगानुकूल प्रगति की है ? श्वेताम्बर, दिगम्बर तथा तेरहपंथी साधुओं के अतिरिक्त, स्थानकवासी साधुओं का सर्वतोमुखी विकास, एकता का ठोस कार्यक्रम, समाज संगठन का क्रान्तिकारी कदम और महावीर-संदेश के प्रसार का अभूतपूर्व प्रयास सभी सम्प्रदायों के लिए आज अनुकरण का विषय बन गया है। यह स्थानकवासी समाज के लिए कम गौरव की बात नहीं है।

साहित्य सृजन की ओर

परम पूज्यपाद श्री अमोलक ऋषिजी महाराज साहित्य-क्षेत्र में उतरने वाले सर्वप्रथम मुनिराज थे, जिन्होंने ३२ आगमों को हिन्दी भाषा में अनुदित करके, महावीर की वाणी को "सर्वजन हिताय" बनाया।

उधर से दानवीर सेठ श्री ज्वालाप्रसाद जी की उदारता और पूज्य अमोलक ऋषिजी महाराज की उत्कंठा दोनों ने

मिलकर स्थानकवासी सम्प्रदाय की मान्यतानुसार, आगमोंको, परम्पराओं को तथा श्रुत-धर्म के समस्त अंगों को भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी और देवनागरी लिपि में अनुवादित तथा प्रकाशित कराया है।

"जैन तत्वप्रकाश" उनकी मौलिक सूझबूझ का एक अप्रतिम फल है। तदनन्तर, समाज में आगम साहित्य की ओर ध्यान देने वाले वर्तमान आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज हैं, जिन्होंने "जैन-शास्त्रमाला-समिति" स्थापित करके आगमों का सर्वांगीण समृद्ध स्वरूप निखारना प्रारम्भ किया। आचार्य देव की विशाल अध्ययन तत्परता और गहन मनन ने तो आगम और आगमेतर साहित्य को खूब अभिवृद्ध किया।

पूज्य घासीलालजी महाराज शास्त्रों की संस्कृत टीका, गुजराती, हिन्दी छाया आदि सभी प्रकार से आगमों की टीकाओं के नवनिर्माण में जुट गये।

पूज्य हस्तीमलजी महाराज ने भी जैनागमों के प्रति सुरुचि-पूर्ण ध्यान दिया है।

"अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फरेन्स" की साहित्य-प्रकाशन की कितनी ही सुन्दर योजनाएं चल रही हैं, जिनमें 'आगम-प्रकाशन' और 'पाठावली प्रकाशन-समिति' मुख्य हैं।

समाज में अन्य कितने ही स्थानों से आगमों की खोज और नवीन अनुसन्धान किये जा रहे हैं तथा हिन्दी, इंगलिश

आदि भाषाओं में आगमों के प्रकाशन की योजना बन रही है।

आगमेतर साहित्यमें पूज्य जवाहिरलाल जी महाराज का 'साहित्य', 'हितेच्छु-मण्डल' ने प्रकाशित करके साहित्य की बड़ी सेवा की है। 'जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम' ने पूज्य श्री चोथमलजी महाराज के साहित्य को प्रकाशित कर धर्म-साहित्य की कमी को पर्याप्त अंशों में पूरा किया है। सन्मत्ति ज्ञानपीठ के प्रकाशन की ओर श्रद्धेय कविरत्न अमर मुनिजी की रचनाएं तो जैन साहित्याकाश में नक्षत्र और नीहारिकाओं-सी दीखती हैं।

'जैन सिद्धांत सभा, बम्बई', 'गुजराती-साहित्य', 'जैन गुरुकुल ब्यावर', 'पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस', 'स्थानकवासी जैन साहित्य, अहमदाबाद' आदि छोटी व सैकड़ों ऐसी संस्थाएं हैं जो स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय के साहित्य को सर्वांगीण रूप में विकसित करने का ही प्रयत्न कर रही हैं। तो भी साहित्य के प्रति यह प्रयास अभी अपनी बाल्यावस्था में ही है। साहित्य के प्रति अधिक से अधिक ध्यान देना चाहिए। तभी विचार, आदर्श और परम्पराएं तथा मान्यताएं स्थायी रह सकती हैं और श्रुत-धर्म की सेवा हो सकती है।

शतावधानी रतनचन्द्रजी महाराज का साहित्य और 'अर्धमागधी कोष' साहित्य क्षेत्र की अमूल्य निधि है।

सन्तबालजी की रचनाएं और 'महावीर प्रकाशन मन्दिर' की पुस्तकें भी कम श्लाघनीय नहीं हैं।

प्रगतिशील साधु समाज का साहित्य साधना की ओर लक्ष्य हुआ अवश्य है, किन्तु प्रस्तुत युग सुसंस्कृत, वैज्ञानिक और खोजपूर्ण साहित्य मांगता है। कथा, कहानी, नाटक, चम्पू, एकांकी, उपन्यास, व्याख्यान आदि सभी विषयों में संसार आज कितना आगे बढ़ गया है और हम किस स्तर का साहित्य संसार को देने जा रहे हैं, केवल इस प्रश्न की ओर साधु समाज ने जरा-सा ध्यान दिया, तो वह दिन दूर नहीं, जिस दिन हमारे साहित्य की सर्वांगीण समृद्धि अमर भारती के लिए कण्ठहार का पद पाएगी।

साधु समाज में वक्ताओं की कमी नहीं, लेखकों का अभाव नहीं, त्यागियों, तपस्वियों और कठोर साधकों की अपूर्णता नहीं। बस, केवल कमी है तो संयोजन, सुव्यवस्था और लक्ष्यबद्ध कार्यवाही की योजना तथा विशाल मनन और नवीन विज्ञान के विशद् अध्ययन की। इसकी पूर्ति होते ही साधु समाज को प्रगति के उद्देश्य को पूरा करने में किसी अन्तराय का अनुभव नहीं होगा। महान साधु-समाज का भविष्य शुभ है।

साध्वी समाज की प्रागतिक परम्परा

श्रमण भगवान महावीर के संघ में चारों पायों को सम सदृश अधिकार प्राप्त हैं। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका—सब

को। साधु-समाज का इतिहास ही जैन समाज का इतिहास नहीं, अपितु संघ के चतुर्विध सदस्यों का सम्मिलित इतिहास ही जैन समाज का सम्पूर्ण इतिहास हो सकता है।

पुरुष की प्रधानता के कारण साध्वी समाज की अपेक्षा साधुओं का नामोल्लेख अधिक हुआ है। इसका कारण चाहे कुछ भी हो, किन्तु धर्मनिष्ठा और बलिदानके नाते, साध्वी समाज का इतिहास जैनधर्म के महान् उत्सर्ग व त्याग का ज्वलन्त एवं साकार रूप है। संकट और विपत्ति के जितने पर्वत साध्वी वर्ग पर टूटे हैं, आंधी और तूफानों के आवर्त्तों में जितना साध्वी-समुदाय फंसा है, उतना साधुवर्ग नहीं। उनके बलिदान की अमर कहानी जैन साध्वी समाज के लिए ही नहीं, वरन संसार भर की महिलाओं के गौरवपूर्ण है।

भगवान् महावीर के कष्ट और चन्दनबाला के संकट कौन भूल गया है। (ज्ञातासूत्र की पोटिला आर्यिकाएं) सोलह महासतियों की अमर गाथा, स्थूलिभद्रजी की बहनों का साध्वी बनना, हरिभद्रजी सूरि को संयम का पाठ पढ़ा देनेवाली याकिनी महत्तरा, कालिकाचार्य की बहन सरस्वती देवी आदि महासतियां इतिहास की ऐसी कड़ियां हैं, जिन्हें भूलकर हम इतिहास को पूर्ण नहीं कर सकते।

मैं मानता हूं कि साधु परम्परा को अधिक स्थान नहीं दिया जा सकता, उसका कारण साध्वी समाज के इतिहास का अज्ञान होना ही है, किन्तु आगामी वृहत् इतिहास में साध्वी

परम्परा की पूरी खोज की जाएगी और प्रामाणिक रूपरेखा उपस्थित करने का प्रयास किया जाएगा।

लोंकाशाह के अनन्तर, साध्वी-परम्परा का इतिहास अक्षुण्ण धारा की तरह प्रवाहित रहा है। महासती पार्वती जी (पंजाब), महासती रंगू जी (मारवाड़), श्री रतनकुंवर जी, श्री सायर कुंवर जी, श्री सुमति कुंवर जी, श्री उज्ज्वल कुमारी जी (दक्षिण) आदि महासतियों ने समूचे भारत में, जैनधर्म का सन्देश फैलाने में, अग्रणी रूप से काम करती रही हैं।

महासती उज्ज्वल कुमारी जी ने तो भारत के बड़े-बड़े नेताओं को अपने प्रभावशाली भाषणों से मंत्र-मुग्ध बनाया है। महासती चन्दा जी, श्री मोहनदेवी जी और श्री पन्नादेवी जी, श्री मथुरादेवी जी आदि महासतियों ने पंजाब में महावीर सन्देश का जैसा प्रसार किया है, उसे कौन भूल सकता है? गुजरातमें श्री ताराबन्तीजी, श्री वसुमतीजी, सौराष्ट्रमें श्रीप्रभावती जी, श्री लीलावन्ती जी आदि महासतियां आर्हत् धर्म का प्रचार कर रही हैं। महासती-वर्ग का प्रचार, उत्सर्ग, त्याग, तपस्या और संयम की विरासत साधु-वर्ग से कम नहीं है। हमें महासती-वर्ग का भविष्य सुनहला और उज्ज्वल दीख रहा है। यदि इस वर्ग ने शिक्षण की ओर ध्यान दिया, तो अवश्य साध्वी-वर्ग संघ का महत्त्वपूर्ण काम कर सकेगा और सांघिक उन्नति में अपना पूर्ण दायित्व निभा सकेगा।

परिशिष्ठ :१:

(श्वे० मू० जैन समाज)

इस सत्रहवीं शताब्दी के श्वेताम्बर जैन समाज में दो महात्माओं का नामोल्लेख हम विशेष गौरव के साथ करना चाहते हैं—एक आत्म-ज्ञानी योगीश्वर आनंदघन जी और दूसरे प्रकाण्ड दार्शनिक यशोविजय जी।

आनंदघनजी एक सुधारक संत पुरुष थे—उनकी वाणी में अध्यात्म पदावलियां और तीर्थंकर स्तुतियां विशेष सरस व अर्थ पूर्ण हैं तथा जैनधर्म के मूल तत्वों को स्पर्श करने वाली हैं।

ये एक अनुभवी मस्त फकीर थे व रूढ़ियों—परंपरागत मोह और विषमताओं से इनको प्रबल घृणा थी—आपने लोक-साधना भी की थी परन्तु समाज उन्हें इस रूप में पहचान न सका, वे केवल अध्यात्मवादी योगी के रूप में ही विख्यात हो सके। वे गायक, वादक और अनेक शास्त्रों के महान् पंडित थे। आनंदघन चौबीसी और आनंदघन बहोणी उनकी प्रधान कृतियां हैं; जिन्हें भावपूर्वक गान करने से हम जैन दर्शन के गूढ़तम रहस्यों में अपने हृदय को झुलाकर आनंद विभोर कर सकते हैं।

यशोविजयजी को हम आचार्य हेमचंद्रजी के बाद सर्वोत्कृष्ट

विद्वान्, सूक्ष्म दृष्टि विचारक, प्रतिभाशाली दर्शन शास्त्री, महान साहित्य स्रष्ठा, समन्वयकार व सदाचारी सत्पुरुष मानते हैं। आपने सरस्वती की साधना काशी सरीखे महान विद्यातीर्थ में निवास करके संपन्न की थी। न्यायशास्त्र, तर्क शास्त्र, दर्शन शास्त्र और अनेक अन्य शास्त्रों का आपने यहीं रहकर अध्ययन किया था। काशी में आपको विद्याविदग्ध और न्यायविशारद की पदवियां प्रदान की गई थीं।

वि० सं० १७४३ में आपका स्वर्गवास हुआ। सिद्धसेन दिवाकर, वादीदेवसूरि तथा हेमचंद्राचार्य के बाद जैन न्याय के उत्तम विद्वान् का पद आपको ही प्राप्त है।

स्याद्वादरहस्य, वादरहस्य, भाषारहस्य, उपदेशरहस्य, स्यादाद कल्पलता, न्यायालोक अष्टसहस्त्री टीका, आध्यात्मसार आध्यात्मोपनिषद् आदि अनेक ग्रन्थ जैन साहित्य भण्डार के सदैव शृंगार रहेंगे।

जब यशोविजय जी और आनंदघनजी का परस्पर संलाप-मिलाप हुआ तो उस समय दोनों महान् पुरुष प्रेम की सात्विक मस्ती में इतने विभोर हो गये कि उस समय की कल्पना करके हमें भी परमानन्द की प्राप्ति होती है—

"आनंदघन आनंद रस झीलत, निरखित ही जस-गुण गाया।"
"तेरोमुख निरखनिरख रोम रोम शीतल भयो, अंग २ अति उमंग
जसविजय मग्न भयो।"

ये दोनों संत तत्कालीन युग के ज्ञानी, भक्त व जैन समाज विभूति के रूप से सदैव अमर रहेंगे।

यशोविजय जी के अनंतर श्री विनयविजय, मेघविजय, भावविजय और नित्यविजय आदि ने साहित्य की अच्छी सेवा की है। आप संस्कृत के उत्तम लेखक और उपाध्याय पद विभूषित करने वाले प्रभावशाली संत थे।

१८ वीं शताब्दी में संस्कृत साहित्य का अच्छा विकास हुआ। दूसरी ओर साधु समाज में साम्प्रदायिक क्लेश की अभिवृद्धि हो रही थी, इसी कारण सच्चा सेवाभिलाषी यतिवर्ग एकांत बैठकर साहित्य साधना में तन्मय हो गया।

१९ वीं शताब्दी में श्वेताम्बर समाज के अनुयायी मूर्ति-पूजक संत साहित्य प्रकाशन में अधिक लगे। नये नये संस्कृत साहित्य का सृजन रुक गया और प्राचीन भण्डारों में से उत्तम साहित्य का अवलोकन करके प्रकाशित करने की वृत्ति इनमें जागृत हुई। हां, हिन्दी साहित्य की ओर इनका ध्यान अवश्य गया।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आचार्य विजयानंद सूरिजी ने भी साहित्य की अच्छी वृद्धि की। आपकी शिक्षादीक्षा स्थानकवासी समाज में ही हुई थी परन्तु स्थानकवासी मुनियों के कठिन आचार-विचारों को पूरी तौर से पालन नहीं करने के कारण आप श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक समाज में सम्मिलित हो गये। पर साहित्य-सृजन का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण किया।

किन्तु दुःख है कि जैन-समाज के संगठन और ऐक्य में बहुत शिथिलता आ गई और आचार्य विजयानंद सूरि (श्वेताम्बर समाज में आचार्य आत्मारामजी का यही नाम प्रसिद्ध है) के समय विशेष प्रगति न हो सकी।

पं० सुखलाल जी संघवी भी जैन साहित्य के अच्छे पंडित हैं—ये भी पहले स्थानकवासी थे। बचपन में ही उनकी नेत्र-शक्ति जाती रही, परन्तु लिम्बड़ी सम्प्रदाय के परम पूज्यनीय महाराज श्री लाधाजी तथा पं० उत्तमचंदजी महाराजने इन्हें जैन-धर्म का प्राथमिक अभ्यास कराया। बाद में आप मूर्तिपूजक हो गये।

तत्त्वार्थ सूत्र की टीका आपकी सर्वश्रेष्ठ कृति है।

जैनदर्शन के विषय में आपने नयी नयी दृष्टियां दी हैं जो पर्याप्त विचारणीय हैं।

श्वे० मुनि श्री पुण्यविजय जी अपना सम्पूर्ण जीवन आगमोद्धार के लिए समर्पित कर चुके हैं। मुनि श्री न्यायविजय जी, विद्याविजय जी, पं० लालचंद्र जी, पं० हरगोविन्द जी और पं० बेचरदास जी भी गण्यमान्य विद्वान् हैं।

आचार्य सागरानंद सूरि की आगम-सेवा, आचार्य विजय राजेन्द्र सूरि का बृहद् कोष निर्माण, आचार्य बुद्धिसागर का साहित्य सृजन, आचार्य नीतिसूरि का संगठन प्रेम, आचार्य विजय वल्लभसूरि का शिक्षा-प्रचार, समाज सुधार आदि विशेष स्मरणीय हैं।

आज भी विजयलब्धि सूरि, विजययतीन्द्र सूरि, विजय-लक्ष्मण सूरि, विजयप्रेम सूरि, विजयरामचंद्र सूरि, विजय लावण्य सूरि और दर्शनविजयत्रिपुटि—आदि महात्मा जैन साहित्य-क्षेत्रमें अनेक आवश्यक सेवायें दे रहे हैं। परन्तु हम चाहते हैं कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज गच्छ भेद भूलकर पारस्परिक ऐक्य सूत्र में बंध जाय तो सम्मिलित रूप में शासन प्रभावना का अच्छा कार्य हो सकता है। वह दिन धन्य होगा जब हम परस्पर संगठित होकर जैनधर्म की सामूहिक रूप से सेवा कर सकेंगे।

परिशिष्ट :२:

दिगम्बर समाज

वि० सं० ६०६ से दिगम्बर समाज पृथक् रूप से एक पंथ की हैसियत से सामने आया।

दिगम्बर मुनियों ने जिनकल्प का आग्रह रक्खा और श्वेत-वस्त्र पहनने वाले मुनियों को गृहस्थी कहना शुरू किया। इस समाज में बहुत थोड़े मुनि हैं, शेष ऐलक, क्षुल्लक आदि पदवियों से विभूषित होकर श्रावक-प्रतिमाओं के धारक कहलाते हैं।

एलक और क्षुल्लक भी भिक्षा-चरी से अपना निर्वाह करते हैं और थोड़ा-सा वस्त्र रखते हैं। एक समय ही भोजन लेते हैं—मुनि पद के उम्मीदवार कहलाते हैं।

मुनि पद के धारक नग्न रहते हैं और पिच्छी और कमंडल के सिवाय कुछ नहीं रखते। एक समय अन्न पानी ग्रहण करते हैं। इनमें नवीन विचारों के सुधारक बहुत कम हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर में दोनों शब्द भगवान् महावीर के जमाने में प्रचलित नहीं थे। वीर-निर्वाण के बाद ही ये दोनों नाम रखे गये हैं। क्यों और कब यह ठीक ठीक नहीं कह सकते। दोनों सम्प्रदायों में एक दूसरे की उत्पत्ति के बारे में मनगढंत किंवदंतियां प्रचलित की गई हैं—हमारा उनसे कोई प्रयोजन नहीं।

हमारा यही कहना है कि दोनों सम्प्रदाय नग्नत्व और वस्त्र पहनने के आग्रह के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हो गये हैं।